आर्ष परम्परा के गौरव-गुरु

स्वामी सच्चिदानन्द योगी अभिनन्दन-ग्रन्थ

आर्ष परम्परा के गौरव-गुरु
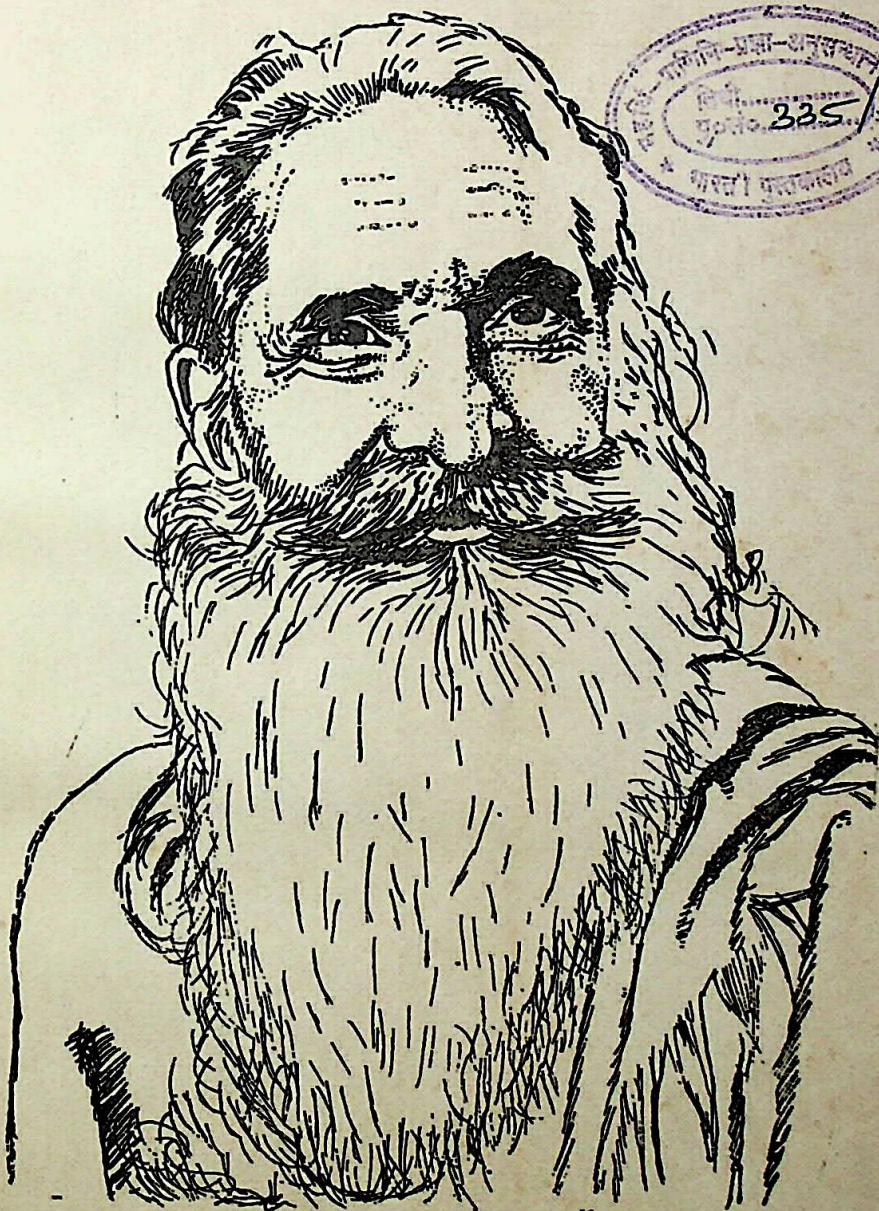
आर्ष परम्परा के गौरव-गुरु

स्वामी सच्चिदानन्द योगी अभिनन्दन-ग्रन्थ

सम्पादक :
क्षितीश वेदालंकार

श्रीमद्दयानन्द वेद विद्यालय
गुरुकुल, गौतम नगर
नई दिल्ली-११००४९

पुस्तक का नाम :
आर्ष परम्परा के गौरव-गुरु

प्रकाशक :
स्वामी सच्चिदानन्द योगी अभिनन्दन समिति
गुरुकुल, गौतम नगर, नई दिल्ली-११००४९

परामर्श-मण्डल :
स्वामी आनन्दबोध सरस्वती
स्वामी ओमानन्द सरस्वती
स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती
श्री राजवीर शास्त्री
आचार्य हरिदेव
डा० नरेश कुमार ब्रह्मचारी
डा० वेदव्रत 'आलोक'

सहयोग-राशि :
इक्यावन रुपये

मुद्रक :
वैदिक प्रेस
गली नं० १७, कैलाशनगर, दिल्ली-३१

आवरण एवं चित्र-सज्जा :
श्री विनयादित्य,
वर्ड ट्रानिक, १११ ईरोज अपार्टमैंण्ट्स
५६ नेहरू प्लेस, नई दिल्ली-११००१९

अनुक्रम

प्रथम खण्ड : व्यक्तित्व और कृतित्व

स्वामी जी के कुछ वैयक्तिक चित्र और 'वेद विद्यालय' की पुरानी झांकियाँ

द्वितीय खण्ड : विविध संस्मरण

सहयोगी, वर्तमान 'वेद विद्यालय', लेखकों एवं परिवार की चित्रावली

कबिरा खड़ा बजार में

समस्त विधि-निषेधों से परे, क्रान्तिकारी, फक्कड़ सन्त कबीर ने जब यह दोहा कहा था—

कबिरा खड़ा बजार में लिये लुकाठी हाथ।
जो घर जारे आपनो चले हमारे साथ॥

—तब जीवन के एक बहुत बड़े रहस्य की घोषणा की थी।

आम तौर पर जीवन की सफलता की कसौटी यह मानी जाती है कि व्यक्ति ने जमीन-जायदाद के रूप में प्रभूत भौतिक सम्पदा अर्जित की हो, सरकारी, गैर-सरकारी उच्च पद प्राप्त किया हो, बढ़िया महल अटारी हो, बीसियों नौकर-चाकर, अनुयायियों की भीड़ जय-जयकार करती हुई साथ चलती हो और नाम-धाम-काम की दिगन्तव्यापी कीर्ति हो, समाचार-पत्रों में उसकी आए दिन चर्चा होती रहती हो और अपने प्रशंसकों, भक्तों और चाटुकारों से तथा उसकी कृपा से जीवित रहने वाले तथा ऐश भोगने वाले लोगों से सदा घिरा रहता हो, वह व्यक्ति जीवन में सफल है। उसकी सफलता हरेक के लिए ईर्ष्या की वस्तु होगी।

परन्तु कबीर का संकेत एक सर्वथा भिन्न कसौटी की तरफ है। वह कसौटी इतनी भिन्न है कि प्रथम कोटि के उपासक इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते। भले ही भौतिक सम्पदा के नाम पर चर्चा के योग्य कुछ न हो, न जमीन-जायदाद, न महल-अटारी, न बैंक-बैलेंस, न उच्च पद, न नौकर-चाकर, न चाटुकारों की भीड़, न यश की लालसा; पर एक बार जीवन में जो व्रत अपना लिया उसका निरन्तर सैकड़ों विघ्न-बाधाओं के बावजूद, एकनिष्ठता के साथ पालन। आंधी और तूफान भी, बड़े से बड़े भय और प्रलोभन भी, जीवन में पग-पग पर उपस्थित असुविधा और कष्ट-परम्परा भी जिस व्यक्ति को अपने ध्येय से विचलित न कर सकें, उसे आप क्या कहेंगे ? इस जीवन से ईर्ष्या करने वाला कहां मिलेगा ?

पर महाकवि कबीर तो और आगे बढ़ते हैं। वे तो अपने साथ चलने के लिए 'जो घर जारे आपनो' की शर्त भी साथ रखते हैं। ऐसा दीवाना

आदमी दुनिया में कहां मिलेगा ?

कबीर की यह कसौटी बड़ी टेढ़ी है—पागलपन की हद तक। पर सच तो यह है कि ऐसे पागलों के आधार पर ही दुनिया टिकी है। इन तथा-कथित असफल और पागल व्यक्तियों ने संसार को प्रकाश दिया है, उसी से यह आलोकित है। इस प्रकाश में चकाचौंध नहीं है, इसमें दाहकता नहीं है, (आखिर ताप और प्रकाश है तो दोनों एक ही ऊर्जा के प्रतीक और इसीलिए परस्पर परिवर्तनीय—इण्टरकन्वर्टिबल), शामकता है। यह शान्त तेज है। इससे आंखें पीड़ित नहीं होतीं, राहत पाती हैं। इसीलिए सच्चिदा-नन्द स्वरूप की उपासना के लिए मंगलाचरण में महाकवि भर्तृहरि ने कहा है—

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्त-चिन्मात्र-मूर्तये।
स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे॥

यह शान्त तेज ढिंढोरा पीटकर अपनी उपस्थिति का बोध नहीं कराता। इसका स्वारस्य केवल अनुभूति-गम्य है। इसे शास्त्रों से प्रभावित करने की आवश्यकता नहीं, यह व्याख्यानों का विषय नहीं। यह तो गूंगे का गुड़ है। जिसने चखा, वही मस्त हो गया। ऐसा मस्त कि उसे फिर और किसी चीज में रस नहीं आता।

मस्ती का आलम साथ चला
हम धूल उड़ाते जहां चले॥

उन्मत्तता की सीमा छूने वाली यह मस्ती कितनी विरल है। जितनी विरल, उतनी ही बहुमूल्य—बल्कि कहना चाहिए कि विरल होने के कारण ही बहुमूल्य। कोयला कार्बन है, तो हीरा भी कार्बन है—वैज्ञानिकों से पूछ लीजिए। पर दोनों के मूल्य में कितना अन्तर ! क्यों ? केवल इसलिए कि कोयला सर्वत्र सुलभ है, और हीरा विरल होने के कारण नितान्त दुर्लभ।

इस शान्त तेज की उपमा यदि किसी से दी जा सकती है, तो केवल एक चीज से—'निवात निष्कम्प दीपशिखा' से। यह समृद्धि का नहीं, साधना का पथ है। तिल-तिल करके जलते रहना, और अपनी सीमा के अन्दर अन्धकार को न फटकने देना। इसीलिए यह शान्त तेज नमस्करणीय है। 'नमः शान्ताय तेजसे।'

पाठक पूछ सकते हैं कि इसमें "घर जारे आपनो" की क्या तुक है ?

क्या बिना अपना घर जलाए कबीर के साथ लुकाठी लेकर बाजार के बीच में नहीं खड़ा हुआ जा सकता ? सचमुच नहीं हुआ जा सकता । क्या दीपक में पड़ी रुई की बत्ती अपने आपको बिना जलाए, और अपने साथ अपने परिवार की तरह लिपटे तेल को बिना जलाए कभी प्रकाश कर सकती है ? साधना का पथ इसीलिए एकान्त एकनिष्ठता चाहता है—'प्रेम गली अति सांकरी, तामे दो न समाय ।' जहां द्वैत आया, वहीं निष्ठा में अन्तर पड़ा । इसीलिए परिवार के मोह से ऊपर उठने की बात कबीर ने अपनी कसौटी में जोड़ दी है । यदि 'नरक का द्वार नेक इरादों से ही होकर गुजरता है'—तो इस कसौटी का खरापन अपने आप सिद्ध है । न जाने कितने लोग नेक इरादे लेकर जीवन-पथ पर आगे बढ़ते हैं, पर रास्ते के कांटे और, पारिवारिक माया-मोह की विघ्न-बाधाएं उन्हें मंजिल पर नहीं पहुंचने देतीं ।

और क्या 'ब्रह्मचर्य' का भी सही अर्थ, किसी भी महान् उद्देश्य के प्रति पूर्ण समर्पण नहीं है । ब्रह्म (महान्) में विचरण और क्या है ? अपनी समस्त इन्द्रियों को, मन और प्राण को, समस्त जीवनी-शक्ति को एक ही लक्ष्य की ओर मोड़ देना । चिड़िया की आंख के सिवाय जब और कुछ नहीं दिखेगा, तभी तो अर्जुन का लक्ष्य-वेध होगा ।

× × ×

'आचार्य राजेन्द्रशास्त्री' उर्फ 'स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती' के जीवन-वृत्त की ओर जब हमारा ध्यान जाता है—तब दो ही विशेषण दिमाग में उभरते हैं—'धुन का धनी' और 'दयानन्द का दीवाना' । वस्तुतः ये दोनों विशेषण भी एक-दूसरे के पूरक ही हैं । 'दीवानगी' और 'धुन के धनी' में क्या अन्तर है ? पर वह दीवानगी भी किसके प्रति ? दयानन्द के प्रति, उसके उद्देश्यों के प्रति, उसके मिशन के प्रति । मन-वचन-कर्म से और तन-मन-धन सर्वस्व से उस मिशन के प्रति पूर्ण आत्मदान । अपने या अपने परिवार के लिए कुछ नहीं, सब कुछ दयानन्द के लिए । 'इदं दयानन्दाय स्वाहा, इदं न मम' कहकर ऋषि दयानन्द द्वारा प्रज्वलित यज्ञ कुण्ड में अपने समग्र जीवन की आहुति !

जब लोक-कल्याण की धुन मन में समाई तो दयानन्द को परम इष्ट आर्ष-पाठविधि के प्रचार के लिए, साधनों के नितान्त अभाव में, उसी के नाम से 'श्रीमद् दयानन्द वेद विद्यालय' की यमुना के तट पर स्थापना । यमुना का तट भी कौन सा ? निगम बोध घाट । इस निगम बोध घाट (श्मशान भूमि के निकट) शब्द के पीछे कौन सी व्यंजना छिपी है—कभी

किसी ने इस पर ध्यान दिया है ? क्या इसमें अपने पूरे जीवन को 'स्वाहा' करने की कामना कहीं व्यंजित नहीं होती ?

फिर जब लेखनी के माध्यम से ऋषि के विचारों और सन्देश को लोक-लोक तक पहुंचाने की धुन मन में समाई, तो फिर दयानन्द के नाम से ही 'दयानन्द सन्देश' नामक मासिक पत्रिका निकाली। दयानन्द वेद विद्यालय के निमित्त अपना जीवन लगाया, तो 'दयानन्द सन्देश' के निमित्त अपनी पत्नी के गहने तक लगा दिए और स्वयं भारी कर्ज में डूब गए। पर धुन ज्यों की त्यों। उसमें कहीं कमी नहीं।

लोक के बाद जब परलोक का ध्यान आया, तो योग की धुन सवार हुई। तब घर-परिवार सब को लात मारकर सीधे चतुर्थाश्रम में प्रवेश। पर दयानन्द ने यहां भी पीछा नहीं छोड़ा। या इस परिव्राट् ने यहां भी दयानन्द को ही अपना आदर्श बनाया और 'योगी के आत्मचरित्र' के माध्यम से पातञ्जल योग-दर्शन के ऋषि दयानन्द द्वारा आचरित व्यावहारिक रूप को ही सही योग पाया। योग के नाम से जितने पाखण्ड प्रचलित हैं—उन सब के बीच में ऋषि परम्परा द्वारा प्रदर्शित, प्रचारित और आचरित योग का राजमार्ग खोज निकाला। यहां भी सर्वोच्च सिंहासन पर यदि कोई विराजमान है तो वह केवल योगिराज दयानन्द, और कोई नहीं।

स्वामी सच्चिदानन्द जी 'योगी' अब केवल चतुर्थाश्रमी ही नहीं, जीवन के भी चौथेपन में पहुंच गए हैं–जिसकी अन्तिम परिणति केवल जीवन की पूर्णाहुति में ही शेष है।

काश, ऋषि दयानन्द को ऐसे कुछ और दीवाने मिल जाते !

उनके इस अभिनन्दन के अवसर पर परम पिता परमात्मा से हम उनकी चिरायु की कामना करते हैं।

योगि-प्रवरस्य श्रीमतः सच्चिदानन्द-स्वामिनः

अभिनन्दनम्

—डा० कपिलदेवो द्विवेदी

श्री सच्चिदानन्द-यतिर्वरेण्यो विद्या-विभा-वैभव-भास्वरान्तः ।
आर्यां सृतिं शान्तमनाः प्रपन्नः, अध्यात्म-मार्गं श्रयते विपश्चित् ॥१॥

राजेन्द्रनाथेति गतः प्रसिद्धिं लेभे सुदाक्ष्यं सुरवाचि सत्यम् ।
अधीत्य च व्याकरणादिशास्त्रम् अध्यापने यः सततं प्रवृत्तः ॥२॥

योगे निरूढो महनीयशास्त्रं स्व-ध्यान वृत्त्या विशदं विवेश ।
संस्थास्वनेकासु च योगशिक्षां प्रादात् जनेभ्यो हित-काङ्क्षयैव ॥३॥

ज्वालापुरे योग-निकेतनं यः अस्थापयद् योग-प्रशिक्षणाय ।
स्थानेष्वनेकेषु च योगधाम व्यधाज् जनानामुपकार-हेतोः ॥४॥

ऋषेर्दयानन्द-वरस्य भक्तः कुलं गुरूणां विविधं चकार ।
वार्षी-स्थले झज्झर-बुबकलाना-खेडादि-ग्रामे महिमानमाप ॥५॥

आर्षीं धृतिं यो नियताधिरूढः अशिश्रियद् योगविधिं स्वमुक्त्यै ।
निवेश्य चेतः परमात्मभक्तौ योगीति ख्यातो लभते सुकीर्तिम् ॥६॥

सम्पादकश्चापि सुपत्रकारः, ख्यातिं गतः स्वप्रतिभा-प्रभावात् ।
आलिख्य यो योगिचरित्रमेवा-र्षाज्ञातकथ्यं प्रकटीचकार ॥७॥

यः साधना-योगविधिं प्रपन्नः, क्लेशान् अशेषानसहिष्ट विज्ञः ।
सोऽयं कृती ज्ञान-गुणाधिवासो दीर्घायुषं कीर्त्तिततिं लभेत ॥८॥

—कुलपतिः, गुरुकुल महाविद्यालय-ज्वालापुरम् (हरिद्वारम्)

हर्षागमः

——राजाराम शास्त्री
विद्यावाचस्पतिः

ध्यानेन चित्तस्य गिरां च शास्त्रैः,
योऽपाकरोत् किल्विषमात्मसंस्थम् ।
श्रद्धाधिया प्राञ्जलिरानतोऽस्मि,
श्री सच्चिदानन्द-सुधोन्द्र-वर्यम् ।।

आनन्दं जनयन्ति सत्सु नितरां, मोदं वहन्तीः सदा ।
वार्ताः काश्चिदनेकशः प्रसरिता, विद्वत्समाजे श्रुताः ।
श्रुत्वा ताः स्वभिनन्दनस्य भवतां, तुष्टिं गतं मानसम् ।
दुर्भाग्यं परमेतदेव परमं, दूरे वसामो वयम् ।।

यद्यप्यपारमहिमां भवतां हि मत्वा,
आगन्तुमिच्छति मनो भवतां सकाशम् ।
यात्राऽसमर्थ-विवशे मम देहयन्त्रे,
क्षन्तव्यमत्र-भवता न समागतोऽस्मि ।।

या निर्मला निर्मल-योग-पूता,
अभ्येति दिल्लीमभिनन्दनोत्सवे ।
श्रद्धां मदीयां भवतेऽर्पयिष्यति,
स्वीयां च सा मङ्गलकामनां पराम् ।।

इति सस्नेहम्

—४-३-१०७, देवीदीन बाग,
हनुमान टेकड़ी, हैदराबाद-५००१९५

प्रणामा मे सदा सन्तु

—विश्वदेवः शास्त्री

शास्त्रि-राजेन्द्रनाथाय सच्चिदानन्दधीमते ।
प्रणामा मे सदा सन्तु शिष्याणां मोदकारिणे ॥१॥

धाता गुरुकुलानां यः आर्षपद्धतिरक्षिता ।
तत्त्वज्ञो योगशास्त्राणां शोभतामार्यशेखरः ॥२॥

विनेता धर्मसंस्थानां, संस्कृतेः प्रणिधापिता ।
सिद्धान्ततत्त्व-मर्मज्ञः आर्याणां मार्गदर्शकः ॥३॥

श्रीमद्दयानन्दवराः प्रसिद्धाः, 'सञ्चारणीयाः किल वेदविद्याः' ।
आज्ञां प्रदायैव दिवं प्रयाताः, ते दीपमाला-दिवसावसाने ॥४॥

तेषां विरुद्धं पथमांग्लभाषा, उद्धारयित्री मतमस्मदीयम् ।
आमूष्य डी०ए०वि०-पथा महर्षि, दृष्टाः जनानामयमेव पन्थाः ॥५॥

वेदास्तु मुख्या इति घोषणाभिः, विद्यालयं वेदपथं गतानाम् ।
सिद्धान्तज्ञानाय तमः-पराणाम्, मोदाय चक्रे हि कुलं गुरूणाम् ॥६॥

विद्यालये वेदसमारम्भेण, राजेन्द्रनाथाः व्रतवेदमादौ ।
सन्धार्य चापुः गुरुतां प्रसिद्धां, अन्ते च वेदव्रतमाप्नुवन्तः ॥७॥

'लीलावती' चापि सहायलीलाः, विस्तारयन्ती महनीयकार्यैः ।
पूर्णं सहायं परमं विचक्रे, 'वेदव्रतं' वेदपथार्पणेन ॥८॥

राजेन्द्रनाथः गुरुकर्मणा नः, आचारदानेन च नैष्ठिकानाम् ।
आचार्यख्यातिं परमां प्रपेदे, ज्ञानप्रदानेन वरं वटूनाम् ॥९॥

आदौ वेदमहालयादि-करणं, कृत्वा श्रुतेः स्थापनम् ।
नीत्वा स्थानमहाविदेववलयम्, आर्षीं प्रणालीं तदा ।
दत्त्वा नैष्ठिकसैनिकादिधरणं सर्वज्ञसंसाधनम् ।
श्रेष्ठाचारमहो प्रदानपरमं, कालं हि संसाधयत् ॥१०॥

—वैदिक प्रेस, कैलाशनगर, दिल्ली-११००३१

अभिनन्दनस्तोत्रम्

—डॉ० नरेशकुमारो ब्रह्मचारी

योगत्विषा योऽसि धरावतीर्णो,
देदीप्यमानो ह्यतिलौकिकाभः।
प्रणौम्यहं तादृशं तं भवन्तं,
भूलग्नमूर्ध्ना मनसा गिरा च ॥१॥

जो योग की (दिव्य) प्रभा से धरती पर अवतरित हुए हैं तथा अलौकिक तेज से जाज्वल्यमान हैं—ऐसे पूज्य आपको मैं पृथ्वी पर मस्तक टिकाये हुए, मन से तथा वचन से प्रणाम करता हूँ ॥१॥

नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः,
श्रीसच्चिदानन्द-मुनीश्वराय।
उतो शरण्येषु कृपापराय,
पातञ्जलालोक-प्रकाशकाय ॥२॥

महर्षि पतञ्जलि के यौगिक आलोक को फैलाने वाले, शरणागतों पर कृपा करने वाले, विचारकों में श्रेष्ठ स्वामी सच्चिदानन्द जी को हजारों बार प्रणाम हो ॥२॥

अलिप्तभावेन भुवि स्थितोऽपि,
मग्नः समाधौ स्थिरमेकतानः।
जाने न कस्त्वं मुनिदेहमेत्य,
देहात्मदिव्यां द्युतिमादधानः ॥३॥

निर्लिप्त भाव से धरती पर रहते हुए भी जो समाधि में डूबे रहते हैं तथा शारीरिक, बौद्धिक एवं आत्मिक तेज को धारण किए हुए हैं—मुनि-देहधारी आप कौन हैं ? यह मैं नहीं जानता ॥३॥

नो योगिनो भुञ्जते वित्तभोगं,
नो भोगिनो योगफलं तथैव।
अमोघवाचां विगताशयानां,
समं स्थितौ द्वावपि योग-भोगौ ॥४॥

योगी लोग धनादि का उपभोग नहीं करते तथा भोगी लोग योग के

(परम) फल को प्राप्त नहीं कर पाते, किन्तु अमोघ वचन होकर भी निष्काम बने हुए आपको तो योग तथा भोग दोनों समान रूप से प्राप्त हैं ॥४॥

योगामृतं प्राप्य नु तापसेभ्यो,
वारीणि मेघा इव वारिराशेः ।
वर्षन्नजस्रं परितप्तभूते,
पीयूषभृन्मेघसमो विभासे ॥५॥

जिस प्रकार मेघ समुद्र से जल उठाते हैं उसी प्रकार तपोनिरत योगियों से अमृतमय योग को प्राप्त करके संतप्त प्राणियों पर उसकी निरन्तर वर्षा करते हुए आप सुधा बरसाने वाले बादल की भांति शोभा पा रहे हैं ॥५॥

नो चात्मज्ञाने न तपः-प्रकर्षे,
न योगसिद्धौ परिवर्धने वा ।
विश्वेषु भूतेषु च शुद्धबोध !
यमिन् ! यतीनां न तवास्ति तुल्यः ॥६॥

हे विशुद्ध ज्ञानवान् योगिन् ! संसार के सभी प्राणियों तथा यतिजनों में कोई भी न ही आत्मज्ञान में, न तप की घोरता में, न ही योग की सिद्धि या प्रसार में, आप के समान है ॥६॥

शताश्वमेधाधिकपुण्यदं मे,
कुरु प्रसादं शरणागताय ।
शताश्वमेधी पुनरेति जन्म
योगानुयायी न पुनर्भवाय ॥७॥

सौ अश्वमेध यज्ञों से अधिक फल देने वाली अपनी कृपा मुझ शरणागत पर भी कीजिए क्योंकि अश्वमेध करने वाले को तो (एक कल्प स्वर्ग भोगने के बाद) फिर जन्म लेना पड़ता है किन्तु योग सिद्ध करने वाले को फिर जन्म बन्धन नहीं होता ॥७॥

भक्तास्त्वदीयाः शरणागतास्ते,
कृपाकटाक्षैरवलोकिता ये ।
ते योगमार्गं प्रविशन्ति सर्वे,
यथा खगाः खं किल साधिकारम् ॥८॥

जो आपके भक्त हैं, शरणागत हैं तथा जिन्हें आप अपनी कृपादृष्टि से देख चुके हैं, वे सब योग-मार्ग में इस प्रकार प्रवेश करते हैं जिस प्रकार पक्षीगण अधिकार पूर्वक गगन में प्रवेश करते हैं ॥८॥

भक्ति प्रभो ! मे हरिपादपद्मे,
प्रयच्छ रोध पवनेन्द्रियाणाम् ।
सिद्धावसिद्धौ च समत्वबुद्धि,
शरण्यमन्यं यदहं न जाने ॥६॥

हे प्रभो ! आप ही मुझे प्रभु के चरण कमलों में भक्ति, प्राण और इन्द्रियों का निग्रह तथा सफलता और असफलता में समत्वभाव प्रदान कीजिए क्योंकि मैं किसी अन्य शरण लेने योग्य व्यक्ति को नहीं जानता ॥६॥

गुरु-कृपा की अभिलाषा

—डॉ० नरेशकुमार ब्रह्मचारी

हे सत्य योग-पथ के द्रष्टा ! हो सदा कोटिशः नमस्कार ।
उद्धार योग का करने को, दो मुझे यही करुणोपहार ॥१॥

इच्छा है घोर साधना कर, जीवन को सफल बनाने की ।
ऋषियों की इस अनुपम निधि को, जन-जीवन तक पहुंचाने की ॥२॥

जब-जब शंका के मेघों से, घिर कर यह जन चकराया है ।
तब सकल गुत्थियां सुलझाकर, तुमने ही मार्ग दिखाया है ॥३॥

कितने ही भ्रमित साधकों को, इस भांति दिखाकर उजियाला ।
सब भूल-भुलैयों से निकाल, सच्चे साधन पथ पर डाला ॥४॥

इस दुर्गम पथ में देव ! मुझे, आधार आप ही का तो है ।
मुझ पर क्या योग-जगत् पर भी, उपकार आप ही का तो है ॥५॥

प्रभु-दर्शन फल को पाने की, कर सकते पूरी चाह तुम्हीं।
इस अस्थिर साधन नौका के, हे देव ! बनो मल्लाह तुम्हीं ॥६॥

दिनकर प्रचण्ड किरणों से जब, संतप्त धरा को करते हैं।
तब स्वयं उदित हो चन्द्र देव !, संपूर्ण दाह को हरते हैं ॥७॥

त्यों ही हरि-विरही भक्तों की, हरते हो बाधा दूर तुम्हीं।
हे योग-महावन के मृगेन्द्र ! हो इस बल से भरपूर तुम्हीं ॥८॥

पूरे मन से हरि भजन करूं, स्वामिन् ! अब तो ऐसा वर दो।
वह नवोत्साह, वह नव उमंग, वह व्याकुलता मुझ में भर दो ॥९॥

हरि-पद में चित्त लगे मेरा, उन पर ही अर्पित जीवन हो।
सच्ची विरक्ति, नामानुरक्ति, हरि-भक्ति मात्र मेरा धन हो ॥१०॥

अज्ञानी का जो अटल राग, रहता है नारि-पुत्र धन में।
जप ध्यान भजन में वही राग, नित बसा रहे मेरे मन में ॥११॥

भूखा प्यासा हो जाता है, ज्यों भोजन पानी बिना विकल।
त्यों ही हरि भजन बिना मुझको, सुख चैन एक भी मिले न पल ॥१२॥

तज राग-द्वेष, मद इस जन को, प्रभु-जन-सेवा की लगन रहे।
निःस्वार्थ आर्त्त-दुःख हरने में, 'साधन' में जीवन मगन रहे ॥१३॥

जिसके पथ-दर्शक आप स्वयं, क्या वह निष्फल हो जाएगा ?
हो गुरुवर ! सूर्य प्रकाशित जब, कब वहां अंधेरा छाएगा ? ॥१४॥

सुत, शिष्य, भृत्य जो भी मानो, सौभाग्य उसी में है मेरा।
तब कृपा-शिखा पर यह पतंग, दिन-रात लगाता है फेरा ॥१५॥

हे योग-गगन के विमल चन्द्र ! करके सुदीप्त सब के मग को।
रह स्वस्थ सबल शत वर्षों तक, योगामृत से सींचो जग को ॥१६॥

—उपनिदेशक (योग)
भारत सरकार, नई दिल्ली-१

गुरुदेव ! आपका अभिनन्दन

—स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती

गुरुदेव, आपका अभिनन्दन ।
आचार्य प्रवर, हो अभिवन्दन ॥

वह भूमि 'नांगलोई' नामक, वर-पुत्र तुम्हें पा धन्य हुई ।
यह धन्य हुई नगरी दिल्ली, जो कर्म-क्षेत्र गणगण्य हुई ॥
गुरुओं से पाकर आर्ष ज्ञान, निज शक्ति-युक्त प्रतिदान किया ।
'विद्यालय वेद-दयानन्दी', गुरुभक्ति-सिक्त संस्थान किया ॥

दुःख सहा, किया पर सञ्चालन ।
कर्मठ ज्ञानी को अभिवन्दन ॥
गुरुदेव आपका अभिनन्दन ॥

ऋषियों की पद्धति पर चलकर, अपनाया विद्यार्थी-जन को ।
व्याकरण-वेद-वेदाङ्गों का, तत्त्वार्थ जनाया बुध-जन को ॥
शस्त्रास्त्रों में पारङ्गत कर, बलवन्त बनाया शिष्यों को ।
'भारत स्वतन्त्र कर सकें शीघ्र', उत्साह दिलाया युवकों को ॥

करवाता दुर्जन को क्रन्दन ।
उस वरद वीर माथे-चन्दन ॥
गुरुदेव आपका अभिनन्दन ॥

'सन्देश दयानन्द' का लेकर, घर-घर पहुँचाया पत्रों से ।
पाखण्ड जलाया 'असिधारा', 'अन्तर्ज्वाला' के सत्रों से ॥
'योगेश्वर' गुरुवर से मिलकर, अभ्यास किया साधक बनकर ।
अनुराग छोड़ संन्यास लिया, ओंकार-जपी योगी बनकर ॥

था काम धूर्त्त-योगी-खण्डन ।
ऋषि के मन्तव्यों का मण्डन ॥
गुरुदेव आपका अभिनन्दन ॥

ऋषिवर–'योगी का आत्मचरित्र', सम्पादन-वितरण करवाया !
'पातञ्जल-योग-साधना' को, निज 'योग-सार' से समझाया ॥
निर्भ्रान्त योगपथ बतलाकर, भ्रम-रहित किए योगाभ्यासी ।
हर्षित मन से हम विनय करें, दीर्घायु रहें तत्त्वाभ्यासी ॥

कैवल्य-प्राप्ति होवे भगवन् !
श्रद्धा से पूरित यह वन्दन ॥
गुरुदेव आपका अभिनन्दन ॥

—अध्यक्ष, योगधाम, आर्यनगर, उ०प्र०–२४९४०७

मेरा प्रणाम स्वीकार करो !

—डॉ० वेदव्रत 'आलोक'

हे योग-यतिन् ! स्नेहिन् ! स्वामिन् ! मेरा प्रणाम स्वीकार करो ।
मैं भी तो अंश तुम्हारा हूं, सो मेरा भी संस्कार करो ॥

कुछ सोच-समझकर ही मैंने, चाहा था तुम को जनकरूप ।
धरती पर फैले पुरुषों में, मैंने खोजा अपना स्वरूप ॥
तुम सत्य-सरलता का संगम, दृढ़ निश्चय की साक्षात् मूर्ति ।
जो लक्ष्य चुना उस दिशा बढ़े, साकार किया सपना अनूप ॥

मैं भी कुछ ऐसा कर पाऊं, बस इतना सा उपकार करो ।
हे योग-यतिन् ! स्नेहिन् ! स्वामिन् ! मेरा प्रणाम स्वीकार करो ॥

था नामकरण मेरा जिस क्षण, तुम पर वेदों का व्रत छाया ।
'आत्मा ही पुत्र बने' कहते, पर उसे न मैंने अपनाया ॥
यह जन्म बीतता जाता है, सार्थक न 'नाम' को कर पाया ।
जब अगला मानुष जन्म मिले मुझ को न लुभा पाये माया ॥

तब श्रमपूर्वक वेदज्ञ बनूं, अपराध क्षमा इस वार करो ।
हे योग-यतिन् ! स्नेहिन् ! स्वामिन् ! मेरा प्रणाम स्वीकार करो ॥

तुम से उपजा मेरा अतीत, तुम पर आधृत मेरा भविष्य ।
फिर-फिर तुम जनक बनो मेरे, तुम दो शिक्षा मैं बनूं शिष्य ॥
जब योगमार्ग के पथिक बने, मुझको सत्प्रेरित किया सदा ।
बतलाया, "हम केवल चेतन, स्थावर-जंगम सब मात्र दृश्य ॥"

अब उस 'द्रष्टा' को जान सकूं, ऐसा मेरा उद्धार करो ।
हे योग-यतिन् ! स्नेहिन् ! स्वामिन् ! मेरा प्रणाम स्वीकार करो ॥

'सत्-चित्-आनन्द' सदा से हो, व्यापक आयाम तुम्हारा है ।
गुण दोषों में सीमित करना, आलोचन-दोष हमारा है ॥
केवल परिवार संभालोगे, ऐसा हमने क्यों सोच लिया ?
निजता-परता का भेद न कर, सबका ही भाग्य संवारा है ॥

आनन्द-शान्ति के झरने हो, तुम तो सब को ही प्यार करो ।
हे योग-यतिन् ! स्नेहिन् ! स्वामिन् ! मेरा प्रणाम स्वीकार करो ॥

—प्रवर-प्रवक्ता, संस्कृत,
स्वामी श्रद्धानन्द महाविद्यालय, दिल्ली-३६

चरण-कमलों में नमन हो !

—विश्वदेव शास्त्री

अविद्या-निद्रा में पतित जन के निकर को,
निज-ज्ञानाभा से, दिनकर-समाभा-प्रकर से।

निमीली आंखों को, भरण कर मेधा-विकच से,
हटाया अज्ञों को, कुपथगामी विपथ से॥

विरागी स्थानों के, प्रमुखतम योगी रमण में,
विराजे आभा से, नहर तट के ही सवन में :

हमारा योगी को, वर शिखरिणी से स्तवन हो,
सदा आचार्यों के, चरण-कमलों में नमन हो॥

—वैदिक प्रेस, कैलाशनगर, दिल्ली-३१

□ □ □

हम कृतज्ञ हैं

श्री स्वामी, सच्चिदानन्द जी के दर्शन मैंने १९६६ में वानप्रस्थ आश्रम ज्वालापुर में किए थे, और वहीं योगदर्शन पर आर्य वानप्रस्थ आश्रम के व्यासपीठ पर इन का प्रवचन सुना, जिसे सुनकर उन पर श्रद्धा हुई। स्वामी जी आर्य वानप्रस्थ के प्रधान श्री हरप्रकाश जी के कहने पर और एकान्तवास की सुविधा के कारण, नारायण स्वामी जी द्वारा संस्थापित साधना-स्थली रामगढ़ में निवास कर रहे थे। १९६८ में बहिन धर्मवती जी, बहिन विद्यावती जी तथा मैं, हम तीनों सितम्बर मास में रामगढ़ साधना के लिए गई थीं, तथा अरविन्द आश्रम तपोगिरि में निवास किया था। वहां से हम तीनों नियमित रूप से नारायण स्वामी जी के आश्रम में स्वामी सच्चिदानन्द जी से योगदर्शन पढ़ने जाती रहीं। यह क्रम एक मास तक चला जिससे हमें योग के प्रति रुचि बढ़ी और यथेच्छ लाभ हुआ। यहां योगधाम में भी शिविरों में स्वामी जी के सम्पर्क से लाभ उठाया।

पुष्पावती (प्रधाना)
आर्य वानप्रस्थ आश्रम ज्वालापुर (हरिद्वार)

शुभाशंसन

पाणिनीय व्याकरण के आप्त पुरुष !

—स्वामी विद्यानन्द सरस्वती

श्री स्वामी सच्चिदानन्द जी से प्रथम बार मेरी भेंट सन् १९३७ में हुई थी, जब वे आचार्य राजेन्द्रनाथ शास्त्री के नाम से निगमबोध घाट के निकट यमुना तट पर स्वस्थापित दयानन्द वेद विद्यालय का संचालन करते थे। फूंस के छप्परों में तत्कालीन विद्यालय में प्राचीन वनवासी ऋषियों के आश्रम के दर्शन होते थे। सामान्य कर्मचारी भी तब संस्कृत में संभाषण करते थे, भले ही उनकी संस्कृत भाषा व्याकरणशास्त्र की कसौटी पर खरी न उतरती हो।

गुरुकुलों के सन्दर्भ में जिस आर्ष प्रणाली की चर्चा आज हम यत्र-तत्र सुनते हैं, उसका मूर्त्तरूप सब से पहले शास्त्री जी द्वारा संस्थापित उस विद्यालय में देखने को मिला था। आधुनिक काल में आर्ष पद्धति के प्रतिष्ठापकों एवं प्रचारकों में शास्त्री जी का नाम सदा आदर के साथ लिया जायेगा।

आज भी पाणिनीय व्याकारण की शिक्षा के क्षेत्र में वे आप्त पुरुषों में गिने जाते हैं। आर्ष शिक्षा पद्धति के मुख्य केन्द्र गुरुकुल झज्झर के प्राचार्य स्वामी ओमानन्द जी, शास्त्री जी के प्रमुख शिष्यों में एक हैं। ऋषि दयानन्द की मान्यताओं के प्रति शास्त्री जी की अटूट आस्था है, जो कभी-कभी अन्ध श्रद्धा की सीमारेखा को छूती प्रतीत होती है।

सन् १९६१ में जब सार्वदेशिक सभा के स्वर्णजयन्ती महोत्सव के संयोजक तथा नवम आर्य महासम्मेलन की स्वागत समिति के महामन्त्री का कार्यभार मुझे सौंपा गया था, तो जिनके सहयोग से मैं इतने बड़े दायित्व को संभाल पाया, उनमें शास्त्री जी प्रमुख थे।

जो लोग किसी संस्था के साथ जुड़ने के बाद उस निजी सम्पत्ति मान कर उससे मृत्युपर्यन्त चिपके रहना चाहते हैं, उनके लिए शास्त्री जी ने स्वनिर्मित संस्था को अपने हाथों से दूसरों को सौंप कर, **'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा:'** अथवा **'ज्यों की त्यों धर दीनि चदरिया'** का आदर्श प्रस्तुत कर आचार्य राजेन्द्रनाथ शास्त्री समय पर स्वामी सच्चिदानन्द के रूप में योग मार्ग में प्रवृत्त हो गए। अब वे **'योगेनान्ते तनुत्यजाम्'** की तैयारी कर रहे हैं। हम चाहते हैं कि वे जल्दी न करें और, **'जीवन्तु शरदः शतम्, भूयश्च शरदः शतात्।'**

—डी० १४/१६, मॉडल टाउन, दिल्ली

उनका एक वाक्य जीवन-दीप बन गया

—स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

बात सन् १९५७ की है, मैंने एक १६ पृष्ठ का ट्रैक्ट लिखा था—'आगे बढ़ो।' ट्रैक्ट जिसने भी देखा और पढ़ा उसी ने प्रशंसा की। आचार्य राजेन्द्रनाथ जी शास्त्री (अब स्वामी सच्चिदानन्द जी सरस्वती) को यह ट्रैक्ट मैंने स्वयं दिया था। आचार्य जी ने पृष्ठ पलटे। यहां-वहां से देखा और बोले—'बहुत अच्छा है परन्तु एक कसर रह गयी।' कमी की बात सुनकर हृदय में बड़ी धुकधुकी हुई। मैंने पूछा—"क्या कमी रह गयी ?' आचार्य जी बोले—"पीछे एक पूंछ नहीं है। आप आर्यसमाज का प्रचार करना चाहते हैं ?" 'हां' कहने पर वे फिर बोले—"आपने अच्छी से अच्छी पुस्तक लिखी है, परन्तु आपके नाम के साथ 'एम० ए०' नहीं है, तो देखनें वाले कहेंगे, बेकार है, कुछ नहीं है। यदि नाम के पीछे 'एम०ए०' लगा हुआ है, और कोई कहे कि छोड़ो जी बेकार है। तो दूसरा व्यक्ति कहेगा—'बेकार क्यों है ? आखिर लिखने वाला एम०ए० है।' अतः आप जैसे भी हो, एम०ए० करो।"

सन् १९५३ में बी० कॉम में अनुत्तीर्ण होन के पश्चात् मैंने कालेज की पढ़ाई बन्द कर दी थी। सर्वात्मना मैं वैदिक साहित्य में लग गया था। घर वालों ने भी बहुत कहा और मिलने-जुलने वाले मित्रों व साथियों ने भी। श्री सा० ओमप्रकाश जी ने कहा था कि हमारी अनुनय, विनय, प्रार्थना है, आप किसी भी प्रकार अपना बी० कॉम अवश्य कर लें। परन्तु मेरी रुचि नहीं थी।

आचार्य जी ने बात ऐसे ढंग से कही थी कि मुझे भी उत्कण्ठा हो गयी। कॉलिज छोड़े कई वर्ष हो चुके थे, अब परीक्षा कैसे दी जाए ? इसका समाधान भी आचार्य जी ने ही दिया। वे बोले 'प्रभाकर' या 'शास्त्री' परीक्षा देकर 'एम० ए०' कर डालो, पढ़ा मैं देता हूं। आचार्य जी से पढ़ा तो नहीं, परन्तु उनका एक ही वाक्य मेरे लिए 'जीवन-दीप' बन गया। मैं अध्ययन भी करता रहा, पुस्तकें भी लिखता रहा, प्रवचन भी करता रहा, 'वेद प्रकाश' का सम्पादन भी करता रहा, और परीक्षाएँ भी देता रहा। सन् १९६६ में मैंने संस्कृत से एम० ए० उत्तीर्ण कर ली। यह सब आचार्य जी की प्रेरणा

का ही परिणाम था।

आचार्य जी (अब स्वामी जी) सौम्यता और सरलता की मूर्ति हैं। व्याकरण के महाविद्वान् हैं। संस्कृत लेखन और भाषण पर पूरा अधिकार है। आर्यसमाज के सिद्धान्तों और महर्षि दयानन्द के प्रति गहरी निष्ठा है। महर्षि दयानन्द प्रदर्शित पाठविधि को मूर्त रूप देने के लिए आपने 'श्रीमद्दयानन्द वेदविद्यालय' की स्थापना कर उसे सर्वात्मना पल्लवित और पुष्पित किया। वहां से अनेक योग्य विद्यार्थी निकले।

आचार्य जी की पढ़ाने की शैली भी ऐसी थी कि छोटे-छोटे बालक सहज स्वभाव से संस्कृत बोलने लगते थे।

योग की धुन समाई तो घर-बार और विद्यालय सब को छोड़कर योग में जुट गए। योगाभ्यास में ऐसे रमे कि फिर संन्यस्त हो गए।

इसी (१९८९) वर्ष अप्रैल मास में योगधाम ज्वालापुर में स्वामी जी के दर्शन हुए। वार्तालाप होने लगा। मैंने कहा—"स्वामी जी! आपने जो कुछ पाया है, कभी कुछ बताया नहीं, क्या अपने साथ ही ले जाओगे?" स्वामी जी बड़ी सहजता से बोले—"आपने पूछा ही नहीं है। लो अभी बता देता हूं।" और उन्होंने उसी समय 'प्रणव-जप' की विधि बता दी।

स्वामी जी ने कितने ही भूले-भटकों को राह दिखाई है, कितनों को सुप्रेरणा दी है, कितनों को विद्या-दान दिया है।

ऐसे तपः पूत संन्यासी का हार्दिक अभिनन्दन! मैं उनके स्वस्थ, नीरोग शतवर्ष जीवन की कामना करता हूं।

— ० —

—वेद सदन,
एच० १/२ माडल टाउन, दिल्ली

ओ३म् आत्मने मे वर्चोदा वर्चसे

—यजु० अ० ७, मन्त्र २८ ॥

वैदिक-योगेश्वर-योगाश्रम
हरसिद्धि चौराहा, महाकाव्य मार्ग,
उज्जयिनी, म०प्र०, ४५६००६

योगिराज श्री १०८ स्वामी सच्चिदानन्द जी महाराज, भूतपूर्व श्री आचार्य राजेन्द्रनाथ शास्त्री, दयानन्द वेद विद्यालय, (गौतम नगर, दिल्ली) के जन्मदाता हैं। आपने 'सिद्धान्त कौमुदी की अन्त्येष्टि' नामक अद्वितीय पुस्तक लिखी। इसने व्याकरणाचार्यों को भी आश्चर्यचकित कर दिया था। आपने सदा वेदशास्त्रादि आर्ष ग्रन्थों पर अटूट श्रद्धा-भक्ति का परिचय दिया है।

आपने अपने परिवार को भी अपने क्रियात्मक आर्यजीवन से सम्पन्न बनाया। और न जाने कितने सज्जनों को आर्य-जीवन की प्रेरणा दी। आप अपने गृहस्थ में भी रहे तो सदा जल-कमल पत्र के समान। अपने बच्चों को भी इसी तपस्या से भरा आदर्श जीवन जीना ही सिखाया। उनकी आर्थिक भविष्य निधि पर कभी ध्यान नहीं दिया।

मैं इनको पिछले पचास वर्षों से जानता हूं। मैंने पाया है कि ये मन-वचन-कर्म से सच्चे आर्य थे, हैं, और आगे भी रहेंगे। इनकी तपस्या और त्याग के विषय में कुछ भी लिखने की शक्ति मेरी कलम में नहीं है। आगे क्या लिखूं? जो भी लिखा जायेगा, वह सब ऐसा है, जैसे सूर्य को दीपक दिखाना।

आपका परम भक्त
स्वामी शक्तीश्वरानन्द सरस्वती
(पूर्व-श्री बलदेव प्रसाद आर्य)

गुरुकुल ज्वालापुर के ज्वलन्त नक्षत्र

१८ जुलाई, १९८९

आदरणीय बन्धु,

मुझे आपके पत्र से यह जानकर परम प्रसन्नता हुई कि दिल्ली की प्रमुख आर्य-संस्थाओं ने स्वामी सच्चिदानन्द जी योगी के अभिनन्दन का प्रशंसनीय निश्चय किया है।

स्वामी जी मेरे अग्रज तथा मेरी मातृ-संस्था गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर के ज्वलन्त नक्षत्र हैं। इस नाते मैं अपने छात्र जीवन के प्रारम्भ से ही उन्हें अपना प्रेरणा-बिन्दु मानता रहा हूँ। स्वर्गीय कुलपति श्री स्वामी शुद्धबोध तीर्थ के एकनिष्ठ शिष्य के रूप में स्नातक बनकर निकलने के उपरान्त उन्होंने प्राचीन आर्ष प्रणाली पर व्याकरण के पठन-पाठन के लिए उल्लेखनीय कार्य किया था और इसके अभिनन्दनीय प्रयोग को उन्होंने 'दयानन्द वेदविद्यालय' की स्थापना द्वारा सफल किया था। अपने आर्षशिक्षण की प्रतिभा उन्होंने 'सिद्धान्तकौमुदी की अन्त्येष्टि' नामक रचना में प्रखररूपेण प्रदर्शित की थी।

'वेद-विद्यालय' की स्थापना के साथ-साथ उन्होंने आर्य जगत् में अपनी विशिष्ट प्रबुद्धता का परिचय 'दयानन्द-सन्देश' नामक मासिक पत्र के सम्पादन द्वारा दिया था। यह प्रसन्नता की बात है कि 'दयानन्द-संदेश' के माध्यम से आपने जिस अद्भुत विचारधारा और कर्म-कौशल का मार्ग प्रशस्त किया था, उसका उन दिनों बड़ा क्रांतिकारी प्रभाव हुआ था। उसके 'कर्मवीर अंक' असिधारा अंक' 'स्वराज्य अंक' तथा 'दिलजला अंक' आदि आज भी अपनी महत्त्वपूर्ण सामग्री के लिए स्मरण किए जाते हैं।

शिक्षण और लेखन की इस अभूतपूर्व प्रतिभा से समन्वित व्यक्तित्व के धनी ये उन दिनों 'आचार्य राजेन्द्रनाथ शास्त्री' के नाम से जाने जाते थे। कालान्तर में 'योगी का आत्मचरित्र' नामक अपनी क्रांतिकारी रचना के फलस्वरूप आपके पक्ष तथा विपक्ष में आर्य जगत् में पर्याप्त आंदोलन हुआ। लेकिन आप अविचल भाव से अपने उद्दिष्ट योग-पथ पर बढ़ते ही रहे। इससे आपकी कर्मठता तथा ध्येय-निष्ठता का प्रमाण प्राप्त होता है।

आज उनका जीवन किसी एक संस्था से बंधा हुआ नहीं है। अनेक संस्थाएँ उनके निरीक्षण और निर्देशन की छांव में कार्य कर रही हैं। यह

सौभाग्य की बात है कि वे आज भी उसी उत्साह एवं लगन से अपने अभीष्ट की प्रतिपूर्ति में संलग्न हैं, जिस निष्ठा से उन्होंने कार्य क्षेत्र में पदार्पण किया था।

उनके अभिनन्दन के इस पावन अवसर पर मैं उनके शतायुष्य जीवन की कामना करता हूं। और, आशा करता हूं कि वे और भी द्विगुणित उत्साह से हमें प्रेरणा देते रहेंगे।

(ह०) क्षेमचन्द्र सुमन
अजय निवास, जी-१०, दिलशाद कालौनी,
पुरानी सीमापुरी के निकट,
शाहदरा, दिल्ली-११००६५

× × ×

सोमवार, १६ जून १६८६

श्री राजेन्द्रनाथ शास्त्री के रूप में जब वे महाविद्यालय में थे, तब शास्त्रार्थ में बहुत प्रवीण थे। व्याख्यान भी बहुत युक्तियुक्त देते थे। मेरा उनसे तभी का परिचय है। उत्तरकाल की प्रगति से भी परिचित होता रहा हूं। इधर **'योगधाम'** में भी दर्शन किये हैं। चेहरे पर वही तेज नजर आता है।

आप उनके अभिनन्दन में लगे हैं। मेरी शुभकामना स्वीकार करें। हो सका तो आपका वेद विद्यालय भी देखने का यत्न करूंगा। दिल्ली तो मैं बहुधा आता-जाता रहता हूं। "आपकी संस्था खूब फले-फूले ! और महर्षि दयानन्द के बचे काम को पूरा करने में सफल हो।" यही भगवान् से कामना करता हूं।

सभी सहयोगियों से यथायोग्य कहें।

(ह०) गौरी शंकर आचार्य
मु० पो० गुरुकुल महाविद्यालय
हरिद्वार, (उ०प्र०)

डॉ० कृपाराम पूनिया
उद्योग-मन्त्री,
हरियाणा सरकार,
चण्डीगढ़

शुभकामना-सन्देश

हर्ष का विषय है कि स्वामी सच्चिदानन्द जी योगी के ८५वें जन्म-दिवस के अवसर पर अभिनन्दन स्मारिका प्रकाशित की जा रही है।

स्वामी सच्चिदानन्द एक विशिष्ट शिक्षा-शास्त्री, कमयोगी एवं समाज-सुधारक हैं। समाज में शिक्षा, योग तथा आध्यात्मिकता के माध्यम से समाज-सुधार एवं अन्धविश्वासों के प्रति जन-चेतना जागृत कर रहे हैं। उनकी दूरदर्शिता, कर्मठता एवं विद्वत्ता की बड़ी प्रतिष्ठा है। ऐसे राष्ट्रवादी तथा योगी की सेवाओं का सम्मान एवं अभिनन्दन करना हमारा कर्त्तव्य है। आशा है कि यह स्मारिका जन-साधारण को स्वामी जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से परिचित करायेगी।

मैं स्मारिका के सफल प्रकाशन के लिए शुभ कामनाएं देता हूं।

(ह०) कृपा राम पूनिया

॥ ओ३म् ॥

श्री शुद्धबोधतीर्थस्य, स्वामिनो विदुषोऽनुगः ।
सच्चिदानन्दयोगीति, ख्यातः संन्यस्तनामतः ॥१॥

प्रकाशानन्दसन्तानः, राजेन्द्रनाथपण्डितः ।
आचार्यशास्त्रिशास्त्रार्थैः, विद्याविनयदीपनः ॥२॥

न्यायार्जितधनैस्तुष्टो, वीरचेताऽतिथिप्रियः ।
वेदवित् सत्यवादी च, गृहस्थोऽपि विरक्तिवान् ॥३॥

स्वीकरोतु सुधीवर्यो, समेषामभिनन्दनम् ।
भक्तानां सुतशिष्यानां, सुहृदां सहकर्मिणाम् ॥४॥

नमोभावभरैरेतच् श्रद्धोपायनवेदनम् ।
भवेत् सहृदयानां यत् सदा प्रेरणकारणम् ॥५॥

'आलोक'

ऋषियों का दीवाना सन्त

योगी सच्चिदानन्द सरस्वती

किसने कल्पना की थी कि १० फरवरी सन् १९०६ (तदनुसार फाल्गुन सम्वत् १९६२) को दिल्ली देहात के ग्राम नांगलोई के एक वैश्य परिवार में जन्मा बालक "राजालाल" अपनी युवावस्था में "आचार्य राजेन्द्रनाथ शास्त्री" नाम से प्रसिद्धि पाकर संस्कृत का अद्‌भुत विद्वान् बनेगा और फिर वार्धक्य में "सच्चिदानन्द योगी" नाम से प्रख्यात होकर पातंजल योग का प्रणिधानी सन्त सिद्ध होगा। माता **श्रीमती यमुना देवी** की कोख को पवित्र करने वाले इस शिशु के पिता **मास्टर प्यारेलाल** दिल्ली के स्कूलों में गणित के एक विशिष्ट अध्यापक के रूप में जाने जाते थे। मध्यवर्गीय परिवार की नैतिकता के साथ विद्या के प्रति सम्मानभाव "राजे" के लिए शैशव से ही स्वाभाविक हो गया था।

प्रारम्भिक शिक्षा :

"दयानन्द रैजिडैन्शियल हाई स्कूल", पटौदी हाउस, दिल्ली के प्रधानाध्यापक और बाद में "हिन्दू महासभा" के धुरन्धर योद्धा-नेता **प्रो० रामसिंह एम० ए०** के परमप्रिय शिष्य बनकर "राजालाल" ने नेशनल यूनिवर्सिटी अलीगढ़ से सन् १९२१ में सब विषयों में सर्वप्रथम रहकर **मैट्रिक** परीक्षा उत्तीर्ण की। "असहयोग आन्दोलन" के इस काल में गुरु-शिष्य ने बढ़-चढ़कर विदेशी वस्तुओं का विरोध किया। स्कूल का नाम भी बदल कर **दयानन्द नेशनल हाई स्कूल** रखा गया। महर्षि दयानन्द का दीवाना राजालाल भी अंग्रेजी शिक्षा को छोड़कर संस्कृताध्ययन के लिए "ब्राह्म महाविद्यालय" लाहौर पहुंचा। वहां **आचार्य पं० विश्वबन्धु शास्त्री एम० ए०** के शिष्यत्व में **धर्मेन्दु** और **धर्मेन्द्र** परीक्षाएँ भी सर्वप्रथम रहकर उत्तीर्ण कीं।

प्राचीन आर्ष-पद्धति से संस्कृत का वास्तविक ज्ञान इस युवक ने गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर में व्याकरण के सूर्य **गुरुवर श्री शुद्धबोधतीर्थ** से पाया। विविध शास्त्रों का अध्ययन कर 'राजेन्द्रनाथ' नाम धारण कर और भारतीय महर्षियों के पदचिह्नों पर चलने का व्रत लेकर, २१ वर्षीय यह स्नातक १९२७ में घर लौटा।

यौवन :

इधर घर पर माता-पिता ने पुत्र को गृहस्थ में बांधने की पूरी तैयारी की हुई थी। श्री राजेन्द्रनाथ घर पहुंचे कि अपने अनुरूप एक सुशील व रूपवती कन्या से विवाह बन्धन में बांध दिए गए। गृहस्थी चलाने के लिए एक **डिस्ट्रिक्ट बोर्ड स्कूल** में कुछ महीने तक पढ़ाया। किन्तु यहां भी महर्षि दयानन्द का सन्देश देते या आर्यसमाज का प्रचार करते रहे। अधिकारी वर्ग को यह असह्य हुआ तो सब छोड़कर **आर्यसमाज** सीताराम बाजार में और फिर बेयर्ड रोड में लगभग दो वर्ष तक पौरोहित्य का कार्य किया।

विवाहोपरान्त तीन वर्ष में ही पहले पुत्र का और बाद में पत्नी का देहावसान हो गया। एतज्जन्य एकाकीपन और उद्विग्नता पर विजय हेतु श्री राजेन्द्र पुनः गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर पहुंच कर गम्भीर शास्त्राध्ययन में तल्लीन हो गए। व्याकरण महाभाष्य, न्यायदर्शन और वेद-वेदांग का अध्ययन करते हुए **"विद्याभूषण"** की उपाधि सर्वप्रथम स्थिति में उत्तीर्ण की।

लगभग २६ वर्ष की वय में श्री राजेन्द्र **डी०ए०वी० हाई स्कूल** बेयर्ड रोड में प्रधान संस्कृताध्यापक नियुक्त हुए। इस स्कूल की स्थापना, यज्ञ-कार्य व आधारशिला का संस्थापन इन्हीं के हाथों सम्पन्न हुए। यहां अनुमानतः ढाई वर्ष तक संस्कृत अध्यापन करते हुए इन्होंने पंजाब विश्व-विद्यालय से **"शास्त्री"** उपाधि भी अर्जित की। किन्तु इनकी शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन की साध स्कूल में कैसे पूरी होती? सम्मानपूर्वक यहां से भी स्वतः विदा ले ली।

गुरुकुल संस्थापन :

सन् १९३४ की श्रावणी पूर्णिमा पर **दयानन्द वेद विद्यालय** नामक गुरुकुल की स्थापनार्थ यज्ञ करके संकल्प किया। तभी से पंचकुइया रोड के एक क्वार्टर में संस्कृतानुरागियों के लिए निःशुल्क शास्त्राध्यापन प्रारंभ कर दिया। आवश्यकतानुसार इस गुरुकुल को अनेक बार स्थानान्तरित करना पड़ा। कुछ माह गाजियाबाद के समीप ढका गांव में, और लगभग चार वर्ष तक यमुना के तट पर अस्थायी कुटियाओं में छात्रों के लिए **आर्ष-पाठविधि** को बुद्धि-ग्राह्य बनाने का सारस्वत यज्ञ चलता रहा।

सन् १९४० में यूसुफ सराय के निकट खेत की ४-५ बीघा भूमि

गुरुकुल को दान में मिली। तब से गुरुकुल स्थायी रूप से यहीं आ गया। धीरे-धीरे भवनों का निर्माण होता गया और ब्रह्मचारियों की संख्या भी बढ़ती गयी। प्रारंभ में यहां मीलों तक बस्ती का नाम न था। आज यह गौतमनगर की घनी आबादी से घिरा हुआ है और **गुरुकुल गौतमनगर** के नाम से प्रसिद्ध है। आचार्य-श्री के पौत्र-शिष्य श्री हरिदेव जी व्याकरणाचार्य ने इस समय इस गुरुकुल का कार्यभार संभाला हुआ है।

अपने यौवन के बीस-पच्चीस वर्ष आचार्य श्री राजेन्द्र नाथ ने इस गुरुकुल के निर्माण में होम दिये। आपके पूज्य पिता भी संन्यस्त हो "स्वामी प्रकाशानन्द" बन अहर्निश गुरुकुल की व्यवस्था में संलग्न हो गए। धीरे-धीरे आर्य-जगत् में इस गुरुकुल की विशिष्ट शिक्षा-पद्धति की चर्चा होने लगी और जनता में इसका सम्मान बढ़ता गया। यहां के स्नातकों में से आचार्य भगवान्देव (**वर्तमान स्वामी ओमानन्द जी सरस्वती**) ने **गुरुकुल झज्झर** की स्थापना की। कालान्तर में इसी गुरुकुल ने '**आर्ष गुरुकुल 'विद्यापीठ'**' के रूप में मान्यता प्राप्त की। दयानन्द वेद विद्यालय की शाखा के रूप में आन्ध्र और उत्तर प्रदेश में भी दो गुरुकुल स्थापित हुए। दिल्ली में खेड़ा खुर्द का गुरुकुल प्रारंभ में इसी का एक भाग था। आज **आर्ष गुरुकुल** के रूप में वह एक स्वतन्त्र संस्था है। आचार्य-श्री द्वारा स्थापित **दयानन्द परिव्राजकमण्डल** भी यहीं सक्रिय हुआ।

परिवार :

पंचकुंइयां रोड पर गुरुकुल में हरियाणा के नूह ग्राम के दिलवाली वंश के श्री राधेलाल गर्ग आचार्य जी से संस्कृत पढ़ते हुए अत्यंत प्रभावित हुए थे। उन्होंने अपनी पितृहीन छोटी भतीजी से विवाह के लिए इन्हें मनाया। अत्यंत रुग्णावस्था में गुरुकुल में ही श्री राधेलाल गर्ग ने प्राण त्याग दिए। उनकी अन्तिम इच्छा का सम्मान करते हुए आचार्य-श्री राजेन्द्रनाथ शास्त्री व श्रीमती लीलावती का परिणय फरवरी, १९३५ में सम्पन्न हो गया। पत्नी प्रारंभ से ही एक स्कूल में अध्यापिका थीं। इसलिए यावज्जीवन गृहस्थी का पूरा उत्तरदायित्व सदा उन्होंने ही वहन किया।

आचार्य-श्री को तो अपनी आर्ष-विद्या के प्रचार की धुन के पीछे धनार्जन की कभी रुचि नहीं रही। फिर भी परिवार को आर्थिक सहयोग देने के लिए दो बार इन्होंने छापाखाना खोला। प्रेस भी **दयानन्द सन्देश** नामक एक विचारोत्तेजक मासिक पत्रिका के प्रकाशन का साधन बना।

उसके 'स्वराज्य', 'कर्मवीर', 'असिधारा' और 'दिलजला' नामक विशेषांकों से आचार्य जी की लेखनी का लोहा सभी मानने लगे। किन्तु दोनों बार छापाखाना घाटे का ही कारण बना क्योंकि उसमें कोई विज्ञापन स्वीकार नहीं किया जाता था।

दूसरी बार तो सन् १९५१ में, घर का सारा जेवर भी फूंक दिया और लगभग ३५-४० हजार का घाटा उठाया। परिवार का सहायक बनने के स्थान पर बीसियों हजार का ऋण सिर पर चढ़ा लिया।

तब इन्होंने स्कूली छात्रों के लिए पुस्तकें लिखने में पत्नी की सहायता की। बूंद-बूंद कर ऋण उतारने में उनको दसियों वर्ष लग गए। इस बीच पुत्र ने ग्रेजुएशन करने के बाद एक बैंक में सर्विस प्राप्त कर ली। किन्तु इन्हें इसका सदा पश्चात्ताप रहता था कि पांच सन्तानों में एक-मात्र पुत्र को आजीविका योग्य बनाने के लिए उसे अपने गुरुकुल से उठाना पड़ा। अतः आचार्य-श्री ने उसे प्रेरित किया कि वह फिर से संस्कृताध्ययन में प्रवृत्त हो। उसने भी पिता-श्री की भावनाओं का आदर करते हुए 'कॉमर्स' का व्यवसायोपयोगी विषय छोड़ कर संस्कृत में एम०ए० और पी० एच० डी० करने का संकल्प लिया और ससम्मान दोनों उपाधियां अर्जित कीं। योग्य पिता के योग्य पुत्र डा० **वेदव्रत** 'आलोक' पिछले १९ वर्षों से स्वामी श्रद्धानन्द महाविद्यालय, दिल्ली में संस्कृत के सफल प्राध्यापक हैं।

लेखन :

गृहस्थ धर्म को निभाते यह विद्याव्यसनी सन्त साठ वर्ष के हो गए। किन्तु इतनी अवस्था तक वास्तव में ये तीन चौथाई से भी अधिक समय तक वैरागी ही रहे। घर के कार्य या अर्थोपार्जन के लिए इन्होंने ३०-३५ वर्ष के गृहस्थ जीवन में कभी चौथाई समय भी नहीं दिया होगा। गुरुकुल में रहे तो पूरी तरह उसी के प्रति समर्पित रहे, और जब कभी लेखन-कार्य किया तब भी महर्षि दयानन्द के और संस्कृत जगत् के अनन्य सेवक बनकर। इस काल की इनकी रचनाओं में से कुछ के नाम इस प्रकार हैं—**सिद्धान्तकौमुदी के अन्त्येष्टि, सत्यार्थप्रकाश के संशोधनों की समीक्षा, बालगीताबोध, पाणिनीय वर्णोच्चारण शिक्षा, अष्टाध्यायीशब्दानुशासनम्, संस्कृत-पथ, गद्यमयं महाभारतम्, सरलं संस्कृतम्** आदि। आचार्य-श्री के लेखों में से **आर्यमित्र** के ९ अंकों में प्रकाशित **क्या वेद सुमेरियन डाक्युमेन्ट है** तथा **"दिवाकर"** के ६ अंकों में छपी **अछूतोद्धार-संबंधी**

धारावाही लेखमाला भी उल्लेखनीय हैं।

इनकी कृति **सिद्धान्तकौमुदी की अन्त्येष्टि** ने तो वैयाकरणों में खलबली ही मचा दी थी। 'आर्यमित्र' के अंकों में वेद-मंत्रों से स्वामी दयानन्द जी की जीवन-घटनाओं का साम्य दर्शा कर वेदों में इतिहास मानने वालों का प्रतिकार किया था।

संन्यास :

"वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां, योगेनान्ते तनुत्यजाम्" की आर्ष भावना और चार आश्रमों का महत्त्व जिसने स्वधर्म की तरह समझा-समझाया हो, वह स्वयं अधिक देर घर में कैसे रुक सकता था? तब गुरुकुल का उत्तर-दायित्व आचार्य विश्वश्रवाः 'व्यास' संभाल रहे थे। चार पुत्रियों में से तीन का विवाह हो चुका था। चौथी का उत्तरदायित्व पत्नी और पुत्र को सौंप १३ अप्रैल सन् १९६८ की वैशाखी पर स्वामी योगेश्वरानन्द जी सरस्वती से उनके इस प्रिय शिष्य ने संन्यास ले कर स्वामी सच्चिदानन्द नाम धारण किया, जिसमें "योगी" उपाधि बाद में आर्यसमाज के प्रख्यात नेता **महात्मा आनन्द स्वामी** जी ने जोड़ दी।

योग-प्रचार :

अब पूर्णतया मुक्त होकर योगी सच्चिदानन्द महर्षि पतंजलि निर्दिष्ट योग की गहराई में उतरने लगे। योग-दर्शन और योगाभ्यास की सूक्ष्मता को समझने में योगी जी महर्षि दयानन्द को ही अपना गुरु मानते हैं। महर्षि का "यजुर्वेद भाष्य" और "ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका" इस दिशा में उनके पथप्रदर्शक हैं। भारतीय महर्षियों द्वारा प्रतिपादित योग पद्धति के इस आधुनिक योगी ने सारे भारत में घूम-घूम कर योग-शिविर लगाये जिनकी संख्या सैकड़ों तक और साधकों की संख्या सहस्रों तक पहुंची। जहां जाते, वहीं एक 'योग-साधक-समाज' बन जाता।

शनैः-शनैः योगी जी ने वानप्रस्थाश्रम ज्वालापुर में **"योगधाम"** नाम से एक आश्रम का निर्माण किया जिसमें साधकों के लिए निर्विघ्न एकान्त साधना का प्रबन्ध है। आजकल इसे इन्हीं के सुयोग्य शिष्य स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती एक रजिस्टर्ड ट्रस्ट के अन्तर्गत चला रहे हैं। इसमें पूरे वर्ष तक अनेक साधक कई बार दीर्घकालीन "कुटी-प्रवेश" करते हैं। प्रति-वर्ष दो बार, दीपावली और वैशाखी से पूर्व, सप्ताह-सप्ताह के योग शिविर लगते हैं, जिनमें दूरस्थ प्रदेशों के भी सैकड़ों साधक भाग लेते हैं।

योग-यात्राएं :

योगियों की खोज में योगी सच्चिदानन्द ने भारत का कोना-कोना छाना है। हिमालय में कश्मीर की शाकम्भरी देवी से लेकर गंगा के उद्गम-स्थल गोमुख तक, गंगोत्तरी, यमुनोत्तरी, बद्री, केदार, शिमला, नैनीताल, दार्जिलिंग, गौहाटी के कामाख्या मन्दिर, ब्रह्मपुत्र नदीतट और भूमि-गर्त से सूर्योदय के स्थान तक एवं समुद्रतट स्थित गंगासागर से कन्याकुमारी तक।

योग-साहित्य :

महर्षि-भक्ति के फलस्वरूप चिन्तन, लेखन और प्रकाशन से भी इस योगी का नाता सदा बना ही रहा। योग-मार्ग पर आरूढ़ होते ही श्री स्वामी योगेश्वरानन्द जी सरस्वती के साहित्य का लेखन-सम्पादन किया। फिर कलकत्ता में पं० दीनबन्धु जी वेदशास्त्री द्वारा महर्षि दयानन्द की **अज्ञात-जीवनी** १९६७-७० में 'सार्वदेशिक'-पत्र में प्रकाशित हुई तो उसे चमत्कारपूर्ण मान जब कुछ योग-बाह्य लेखकों ने विरोध किया तो ये न सह सके। उस पर दीर्घ-अनुसंधान कर **"योगी का आत्मचरित्र"** नाम से प्रकाशित किया, जिससे स्वामी दयानन्द सरस्वती का विदेशी शासन के विरुद्ध "क्रान्तिकारी" और "देश-विदेश की यात्रा करने वाला योगी" रूप विशेषतः मुखर हुआ। इस बहुचर्चित प्रकाशन से भारतीय स्वतंत्रता समर का एक अचर्चित पक्ष तो उजागर हुआ ही, पातंजल योग का भी विशदीकरण हुआ।

योग-सम्बन्धी अन्य अनेक प्रेरणाप्रद रचनाएं इस सन्त की लेखनी से प्रसूत हुईं। कुछ उल्लेखनीय कृतियों में साधकों को उद्बोधित करने वाली हैं—**"पातंजल योग साधना"** हिन्दी में, और **'द पाथ आफ रीयल योग'** अंग्रेजी में। महर्षि पतंजलि, व्यास, योगेश्वर श्रीकृष्ण, शंकर और दयानन्द के निर्देशों का सारगर्भित संक्षेप किया गया **"योगसार"** में। प्रणव-जप का महत्त्व प्रतिपादित करता है **ओम् स्मरण**। आचार्य शंकर के भाष्य को ध्यानयोगमय रूप में दर्शाता है—**कठोपनिषद्**। शंकराचार्य के विवरण के अनुसार पुनर्गठित व्यासभाष्य और व्याख्या के साथ छप रहा है—**"पातंजलयोगसूत्र—भाष्यम्"**, जो आचार्य-श्री के वैदुष्य के साथ उनके गहनशास्त्र-चिन्तन और योग-साधना के अनुभवों का प्रतीक होगा।

पातंजल-योग-मठ :

योगी जी महाराज हैदराबाद (आन्ध्र-प्रदेश) में ८० वर्ष की परि-

पक्व अवस्था तक भी योग के प्रचार और प्रसार के प्रति समर्पित और सक्रिय रहे। श्रीमती इन्दिरा गांधी के निर्वाचन क्षेत्र मेडक जिले के एक ग्राम बोन्तापल्ली में **पातंजल-योग-मठ** नाम से एक साधना केन्द्र का निर्माण किया जिसे अब योगी जी की प्रधान शिष्या ब्रह्मचारिणी निर्मला योग भारती संभालती हैं। योगी जी को संरक्षक मानकर **सच्चिदानन्द-योग-मिशन** ने कतिपय पुस्तकें और "पातंजलयोगपारिजात" जैसी पत्रिकाएं प्रकाशित करने के अतिरिक्त 'ध्यान-योग-शिविर' व 'मौन कुटीप्रवेश' जैसे साधना के ठोस कार्यक्रम भी किये-कराये हैं।

परात्पर शक्ति से अभ्यर्थना है कि दयानन्द, आर्यसमाज और योग के इस दीवाने को स्वस्थ दीर्घायुष्य मिले जिससे योग-जिज्ञासुओं को सही मार्ग-दर्शन उपलब्ध होता रहे और मानवमात्र के कल्याण की भावना बलवती हो।

—सम्पादक

अर्थः सुखं कीर्तिरपीह मा भू-
दनर्थ एवास्तु तथापि धीराः।
निज - प्रतिज्ञामनुरुध्यमाना
महोद्यमाः कर्म समारभन्ते॥

धन, सुख और यश कुछ भी न मिले और निरन्तर धनहानि और परेशानी का सामना करना पड़े, फिर भी धीर पुरुष अपने स्वीकृत व्रत को लक्ष्य करके कर्म करने में कभी शिथिल नहीं होते, उद्यम करते ही रहते हैं।

योगसाधना के पथ पर

—स्वा० दिव्यानन्द सरस्वती*

ब्रह्मचर्यकाल में आर्षपाठविधि के अनुसार व्याकरण, वेद-वेदांग आदि का अध्ययन करके, गृहस्थ आश्रम में भरपूर विद्यादान करते रहे। उस समय वे आचार्य राजेन्द्रनाथ शास्त्री के नाम से प्रसिद्ध थे।

यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्—'जिस दिन वैराग्य हो उसी दिन संन्यास ले लेवें', इस शास्त्राज्ञा को मान कर वानप्रस्थ न लेकर गृहस्थ से ही संन्यास ले लिया। संन्यास-दीक्षा के गुरु स्वामी योगेश्वरानन्द जी महाराज ने इन को सच्चिदानन्द सरस्वती नाम दिया। "यथा नाम तथा गुण:" लोकोक्ति का अनुसरण करते हुए, आनन्दस्वरूप परब्रह्म के साक्षात्कार के लिए तब अपना सर्वस्व लगाना ही इन्होंने अपना ध्येय बनाया।

पढ़ना सरल है, परन्तु पढ़ाना कठिन है। सीखना सरल है, सिखाना कठिन है। इस कठिनता की बाधा पार करते हुए स्वामी सच्चिदानन्द जी ने स्वयं अध्ययन कर अनेक विद्याभिलाषियों को विद्या से परिपूर्ण विद्वान् बनाकर सुयोग्य स्नातक बनाया। उसी प्रकार स्वयं साधना की आर्षपद्धति का स्रोत खोज निकालने के लिए कई योग्य योगगुरुओं का आश्रय लेकर वर्षों तपस्यामय जीवन व्यतीत किया। साधना की धारा में गम्भीर गोते लगाते हुए अनेक अलभ्य आध्यात्मिक रत्नों का संचय किया। जब योग-साधना का घट भर गया तो ब्रह्मविद्या के दान के रूप में द्वितीय धारा प्रवाहित हुई। वह थी योगधारा। इस योगधारा से आप्लावित अनेक योग-पिपासुओं ने आर्षयोगधारा के शीतल जल से तृप्ति लाभ किया।

नारायणस्वामी आश्रम रामगढ़ में तपस्या : संन्यास के उपरांत भी कुछ काल तक योगनिर्देशन प्राप्त करने के लिए कई गुरुओं के पास रहकर सेवा की। पुन: योगदर्शन के व्यासभाष्य में दिये गये संकेत के अनुसार—

योगेन योगो ज्ञातव्यो योगाद् योगः प्रवर्त्तते—'योग से योग को जानना चाहिए', योग के अभ्यास से ही योग का मार्ग खुलता जाता है। इस शास्त्रीय वचन के अनुसार योगाभ्यास को सतत साधना का रूप देने के

---

* अध्यक्ष, पातञ्जल योगधाम, आर्य नगर, हरिद्वार–२४९४०७

लिए स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती ने रामगढ़ तल्ला, नैनीताल के नारायण स्वामी आश्रम में तपस्यामय जीवन व्यतीत किया। यह स्थान पर्वतमालाओं से घिरा हुआ, बाह्य कोलाहल रहित, योगाभ्यास के लिए अति उपयुक्त स्थान है। स्वामी जी इस स्थान पर ३ वर्ष तक साधनारत रहे। उस समय उन्होंने अन्न का सेवन त्याग दिया था। केवल दुग्ध-फलादि का सेवन करते थे। जब दूध और फल की प्राप्ति में कठिनाई होती तो केवल पेड़ों के पत्ते पीसकर तथा दूर्वा घास को पीसकर खा लिया, परन्तु अभ्यास को नियमित रखा। उस काल में योग की सूक्ष्म भूमियों को प्राप्त किया।

बाद में "योगी का आत्मचरित्र" ग्रन्थ में वर्णित स्थानों तथा यात्राओं का स्वयं अनुभव करने के लिए नीचे मैदान में आना पड़ा। ग्रन्थ की सामग्री संकलित हो जाने पर प्रकाशन की व्यवस्था की। ग्रन्थ का सुन्दर मुद्रण तथा प्रकाशन यथाविधि होने से योगाभिलाषी जनों ने इस ग्रन्थ की भूरि-भूरि प्रशंसा की। ग्रन्थ की मांग आज भी उसी प्रकार हो रही है। श्री आदित्यपाल सिंह, भोपाल एवं डा० वेदव्रत आलोक के अथक प्रयास से इस ग्रन्थ का पुनः पर्यालोचन किया गया। अन्वेषणात्मक दृष्टि से संशयात्मक घटनाओं का तथा समय-निर्धारण का निर्णय करते हुए ऋषि दयानन्द का 'अपना जन्म चरित्र' के नाम से ग्रन्थ का द्वितीय संस्करण प्रकाशित हुआ है।

ध्यान-योग-शिविरों का आयोजन :

स्वामी जी ने योग जिज्ञासुओं की जिज्ञासा को शान्त करने के लिए ग्रन्थ प्रकाशन काल में तथा पूर्व भी समय निकालकर भारतवर्ष के विभिन्न स्थानों पर ध्यानयोग शिविरों का संचालन किया। इन शिविरों के द्वारा वैदिक विचारधारा के योगाभिलाषियों को आर्षयोग की विलुप्त पद्धति का परिचय हुआ तथा वे भ्रान्त पद्धतियों के भयंकर दुष्परिणामों से बच कर राजयोग के सरल मार्ग पर चलने में समर्थ हुए।

प्रमुख साधनास्थल :

स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती योगी द्वारा संस्थापित ज्वालापुर, हरिद्वार में एकमात्र वैदिक योगस्थल 'योगधाम' में प्रतिवर्ष अप्रैल के प्रथम सप्ताह में तथा दीपावली के अवसर पर आठ-आठ दिन के योग प्रशिक्षण शिविरों का आयोजन अब तक किया जा रहा है। स्वामी जी ने अपनी पूर्ण स्वस्थावस्था में देश के विभिन्न स्थानों पर योग शिविरों का संचालन किया है।

अन्य योग शिविर-स्थलियाँ :

योगधाम के अतिरिक्त देश में विभिन्न स्थानों पर सैंकड़ों शिविरों का आयोजन होता रहा। उनमें प्रमुख स्थल ये हैं—दिल्ली, अहमदाबाद, परब, सूरत, बड़ौदा, लातूर, उद्‌गीर, हैदराबाद, गोहाटी, कलकत्ता, पातञ्जलयोगमठ बोन्तापल्ली, मेदक (आन्ध्र प्रदेश), वैदिक भक्ति आश्रम, आर्यनगर, रोहतक, हरिद्वार तथा लूम्ब (मेरठ)।

स्वामी जी के सान्निध्य में योगाभ्यास करने वाले प्रमुख साधक

१. स्वामी सूर्यानन्द सरस्वती, शिक्षा—एम०ए०, गृहमन्त्रालय में २ वर्ष सेवा। सामाजिक सेवा। पता—तीस चौक, उल्लासनगर-बम्बई-

२. स्वामी चेतनानन्द, राही, कार्य, स्कूल-कालेज की स्थापना, आश्रम संचालन, तथा सामाजिक सेवा। योगस्थल—स्वतन्त्र हंस योगाश्रम नेवारी, डा० सकरावा, जि० फर्रूखाबाद।

३. स्वामी योगानन्द सरस्वती, कार्य—सामाजिक सेवा, उत्तर प्रदेश

४. जितेन्द्र कुमार एडवोकेट, कार्य—सामाजिक सेवा, १६७ चक, इलाहाबाद (उ०प्र०)

५. डा० वेदप्रकाश, कार्य—चिकित्सा तथा सामाजिक सेवा, नामनेर चौराहा, आगरा

६. लक्ष्मीनारायण तोदी, चार्टर्ड एकाउन्टेन्ट, निजी व्यापार, धर्मार्थ-ट्रस्टों के सदस्य, १४ प्रिंसेप स्ट्रीट, कलकत्ता।

७. डा० नारायणदास कपूर, ६ए० आऊटरैन, गोहाटी-१

८. शान्तिस्वरूप गुप्त, कार्य—व्यापार, असम कर्मशियल फैन्सी बाजार, कलकत्ता-६

९. दुर्गादेवी चौधरी, मच्छखाना, गोहाटी, असम

१०. कल्याणस्वरूप गुप्त, एकाउन्टेन्ट, मन्त्री-उपप्रधान आर्यवानप्रस्थाश्रम ज्वालापुर में १८ वर्ष सेवा, योगधाम के प्रारम्भ से मन्त्री रहकर सेवा।

११. आचार्य लक्ष्मीनारायण चतुर्वेदी, (संन्यस्त होने पर स्वामी नारायण मुनिश्चतुर्वेदः) गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर हरिद्वार में शिक्षक, आचार्य एवं यज्ञ-प्रवचन आदि के द्वारा सामाजिक सेवा। लगभग १० वर्ष तक योगधाम प्रबन्ध समिति के प्रधान एवं शिविरों में प्रशिक्षण तथा प्रवचन।

स्वामी जी द्वारा दी गई दीक्षाएँ

ब्रह्मचर्य :

गुरुकुल के अनेक छात्र नैष्ठिक ब्रह्मचारी बने। यथा—स्वामी ओमानन्द सरस्वती तथा आचार्य हरिदेव आदि। गुरुकुल में प्रविष्ट सैकड़ों छात्रों को ब्रह्मचर्य की दीक्षा दी।

वानप्रस्थ :

परसराम जी—रांघड़वाला, हरिद्वार।
सन्तराम—ग्राम माजरी, रुड़की, सहारनपुर।
कान्तिमुनि—ग्राम आकोट, जि०अकोला, (महाराष्ट्र)।
ब्रह्ममुनि जी—कानपुर।
राजाराम (स्वन्त्रता सेनानी)—गुम्मावाला, सहारनपुर।
अतरसिंह (अत्रिमुनि)—१०६ चौक, गाजियाबाद-१।

संन्यास :

स्वामी सोमानन्द जी, योगधाम।
स्वामी विद्यानन्द जी, बरौली जांटा, बाराबंकी।
स्वामी योगानन्द, संन्यास आश्रम, गाजियाबाद।
स्वामी परमानन्द, स्वतन्त्रता सैनिक, लखनऊ।
स्वामी ओमानन्द, पहलादपुर, दिल्ली।
स्वामी विश्वमित्रानन्द, नरेला।
स्वामी ओंकारानन्द, बरेली।
स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती, योगधाम।
स्वामी विजयानन्द सरस्वती, कन्या गुरुकुल हसनपुर।
स्वामी परमानन्द, योगधाम (रांघड़वाला)।
स्वामी ज्ञानानन्द, गुम्मावाला, सहारनपुर।
स्वामी ब्रह्मानन्द, योगधाम, ज्वालापुर।

आर्ष-पाठविधि की गुरु परम्परा

--डा० सुदर्शनदेव आचार्य*

१. स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती :

ये स्वामी विरजानन्द सरस्वती तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती के दीक्षा-गुरु थे। स्वामी विरजानन्द सरस्वती ने इनसे व्याकरण आदि विषयों का अध्ययन भी किया था। जब स्वामी दयानन्द इनके पास विद्या-ग्रहण करने के लिए गए तब इन्होंने कहा कि मैं अब अत्यन्त वृद्ध हो चुका हूं अतः पढ़ाने में असमर्थ हू, मेरे शिष्य स्वामी विरजानन्द मथुरा में व्याकरण आदि पढ़ाते हैं, आप उनके पास जाकर विद्याध्ययन करो। इनका इतिवृत्त विशेष प्रकाश में नहीं आया। ऐतिहासिकों का कथन है कि इनका जन्म हरयाणा का था। ये वेदादि शास्त्रों के उद्‌भट विद्वान् थे।

२. स्वामी विरजानन्द सरस्वती :

इनका जन्म जालन्धर जिले के कर्तारपुर नामक ग्राम में एक सारस्वत ब्राह्मण परिवार में हुआ था। पांच वर्ष की अवस्था में चेचक से इनकी आंखें जाती रहीं। बड़े भाई की धर्मपत्नी के दुर्व्यवहार से घर-परिवार छोड़कर कनखल-हरिद्वार की राह ली। यहां साधु-सन्तों के साथ सत्संग एवं उनसे विद्याध्ययन करते रहे। एक ब्राह्मण प्रतिदिन अष्टाध्यायी का पाठ करता था। उसके पाठ को सुन-सुनकर इन्होंने भी अष्टाध्यायी को कण्ठस्थ कर लिया। अष्टाध्यायी के सूत्रों का क्रम आपको बहुत रुचा। तभी वे सूत्रों के क्रम को बिगाड़ने वाले 'सिद्धांत कौमुदी' आदि अनार्ष ग्रन्थों के घोर विरोधी तथा आर्ष ग्रन्थों के प्रबल समर्थक एवं संरक्षक बने। वर्षों तक मथुरा में निवास कर अष्टाध्यायी आदि आर्ष ग्रन्थ पढ़ाते रहे। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इनके ही चरणों में बैठकर आर्ष ग्रन्थों का अध्ययन और वेदार्थ की कुंजी प्राप्त की। पाणिनीय व्याकरण पर लिखा पतंजलि का महाभाष्य उन्हें सम्पूर्ण कण्ठस्थ था। संस्कृत भाषा के वे उद्‌भट विद्वान् थे।

३. स्वामी दयानन्द सरस्वती :

गुजरात प्रान्त के मौरवी राज्य के टंकारा नामक ग्राम में औदीच्य

* दयानन्द मठ, हरिसिंह कालोनी, रोहतक

ब्राह्मण श्री कर्षन जी तिवारी के घर जन्म हुआ। बचपन का नाम मूलशंकर था। पिताजी शिव के कट्टर भक्त व पुजारी थे। वे मूलशंकर को भी शिवोपासक बनाना चाहते थे। चौदह वर्ष की अवस्था में शिवरात्रि के पर्व पर बालक मूलशंकर से भी व्रत करवाया। इस व्रत ने बालक के जीवन का कांटा ही बदल दिया। बालक ने मन्दिर के शिवलिंग की मूर्ति को मिथ्या शिव जानकर सच्चे शिव के दर्शन की ठान ली। चाचा और बहन की मृत्यु से महात्मा बुद्ध की भांति संसार से विरक्ति और सच्चे शिव से अनुरक्ति बढ़ने लगी। विचारों में क्रान्ति आने से घर-परिवार का कोई मोह नहीं रहा। सांसारिक ऐश्वर्यों एवं भोगों को निस्सार समझ घर से निकल पड़े। शिव-दर्शन के लिए योगियों की तलाश में वन-पर्वतों में घूमते रहे। साधु महात्माओं का संग एवं विद्वज्जनों से विद्यालाभ भी करते रहे। अन्त में स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती मिले। उनसे संन्यास दीक्षा ग्रहण की। उन्होंने ही इनका स्वामी दयानन्द सरस्वती नाम रखा। विद्याध्ययन की प्रबल इच्छा से स्वामी विरजानन्द सरस्वती के पास मथुरा आए। लगभग चार वर्ष पर्यन्त उनकी चरण-शरण में रहकर अष्टाध्यायी, महाभाष्य आदि आर्ष ग्रन्थों का अध्ययन किया। सच्ची वेदार्थ शैली को भी समझा। इस संन्यासी के पाठशाला में प्रविष्ट होने पर स्वामी विरजानन्द सरस्वती ने अपनी विद्या को फलवती समझा। निराशा आशा में बदल गई। बड़े चाव से पढ़ाया। जो कुछ आर्ष विद्या का खजाना उनके पास था सारा का सारा इन्हें सौंपकर वे निश्चिन्त हो गये। दयानन्द ने अपने परम श्रद्धेय गुरुवर विरजानन्द जी की आज्ञा के अनुसार संसार में वेदों का प्रचार एवं प्रसार करने के लिए आर्यसमाज की स्थापना की, वेदों का भाष्य किया, सत्यार्थप्रकाश आदि अनेक आकर-ग्रन्थों की रचना की। गुरुवर के आदेशानुसार सारा जीवन ही वेद की सेवा में लगा दिया।

४. श्री पं० उदय प्रकाश :

इनका जन्म मथुरा के ब्राह्मण परिवार में हुआ था। ये स्वामी विरजानन्द जी की पाठशाला में स्वामी दयानन्द के सहपाठी थे। ये भी स्वामी दयानन्द की भाँति गुरुवर के आदेशानुसार संस्कृत भाषा का पठन-पाठन और वेदों का प्रचार करते रहे। इन्होंने वेद के कुछ अंश का भाष्य भी किया था। संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड पण्डित थे।

५. श्री पं० गंगादत्त :

श्री पण्डित उदय प्रकाश जी के चरणों में बैठ कर संस्कृत का अध्य-

यन किया। ये व्याकरण शास्त्र के अद्वितीय तलस्पर्शी विद्वान् थे। गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर (सहारनपुर) में वर्षों आचार्य पद को सुशोभित करते हुए प्राच्य व्याकरण पढ़ाते रहे। पाणिनीय अष्टाध्यायी पर उन्होंने एक सरल एवं सुबोध वृत्ति भी लिखी है। संन्यास की दीक्षा ग्रहण करके वे 'स्वामी शुद्धबोध तीर्थ' के नाम से विख्यात हुए।

६. आचार्य राजेन्द्रनाथ शास्त्री :

इनका जन्म दिल्ली प्रदेश के नांगलोई नामक ग्राम में एक वैश्य परिवार में हुआ। गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर में व्याकरण के धुरन्धर विद्वान् पं० गंगादत्त जी के चरणों में बैठकर विद्याध्ययन किया। महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा सत्यार्थप्रकाश आदि ग्रन्थों में प्रदर्शित पठन-पाठन की आर्ष पद्धति का प्रचार एवं प्रसार करने की धुन लगी। इसी के परिणाम-स्वरूप दिल्ली में यमुना के तट पर एक गुरुकुल की स्थापना की। वर्षों तक गुरुकुल वहां चलता रहा। तत्पश्चात् यूसुफसराय (नई दिल्ली) में गुरुकुल के लिए नया स्थान तैयार किया। यह संस्था आजकल श्रीमद् दयानन्द वेद विद्यालय के नाम से प्रसिद्ध है। बड़ी लगन से इन्होंने आर्ष पाठविधि की शैली से संस्कृत भाषा के अनेक उद्भट विद्वान् तैयार किये। इन दिनों वे तुरीय आश्रमी 'स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती' के नाम से प्रसिद्ध हैं और योगसाधना में रत हैं।

७. आचार्य भगवान् देव :

इनका जन्म दिल्ली के सुप्रसिद्ध उपनगर नरेला में एक प्रतिष्ठित क्षत्रिय परिवार में चौ० कनकसिंह के घर हुआ। इनके पिता स्वामी दयानन्द के अनन्य भक्त एवं दृढ़ आर्यसमाजी थे। अंग्रेजों के भारतीयों पर घोर अत्याचारों को पढ़कर इन्हें अंग्रेजी शिक्षा तथा सभ्यता से घोर घृणा हो गई। सत्यार्थप्रकाश आदि महर्षि के ग्रन्थों में लिखी आर्ष शिक्षा पद्धति में इनकी अगाध श्रद्धा बढ़ने लगी, तो कालेज शिक्षा को लात मारकर पवित्र आर्ष प्रणाली की शरण ली। आर्ष शिक्षा प्रणाली के अनन्य अनुरक्त भक्त आचार्य राजेन्द्रनाथ शास्त्री के चरणों में बैठकर दयानन्द वेद विद्यालय दिल्ली में अष्टाध्यायी महाभाष्य आदि ग्रन्थों का अध्ययन किया। गुरुकुल चित्तौड़गढ़ में स्वामी व्रतानन्द जी महाराज से भी शिक्षा प्राप्त की। गुरुकुल चूहां भगतां रावलपिण्डी में श्री पं० मुक्तिराम जी (बाद में स्वामी आत्मानन्द सरस्वती) से दर्शन और आयुर्वेद आदि का अध्ययन किया। शिक्षा पूरी कर सन् १९४२ में गुरुकुल झज्झर के मुख्याधिष्ठाता एवं आचार्य

के पद को अलंकृत किया। सन् ४२ से ४६ तक गुरुकुल में अष्टाध्यायी, महाभाष्य आदि पढ़ाते रहे। यह संस्था दयानन्द वेदविद्यालय दिल्ली की शाखा के रूप में चलती रही। इनके ही पावन तप के परिणामस्वरूप यह संस्था आज केवल हरयाणा के ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण भारत के शिक्षा-शास्त्रियों, पुरातत्त्ववेत्ताओं, विद्वानों एवं सन्तजनों के लिए आकर्षण का केन्द्र बनी हुई है।

गुरुजनों के आदेशानुसार इन्होंने भी स्वामी दयानन्द की भांति घर-परिवार को लात मारकर सारा जीवन आर्ष शिक्षा प्रणाली, संस्कृत भाषा एवं आर्य संस्कृति की सेवा में लगा दिया। इनकी जन्मभूमि नरेला में इन्हीं के संरक्षण में एक कन्या गुरुकुल सुचारु रूप से चल रहा है। इन्होंने १०० बीघा भूमि इस गुरुकुल को अपनी भूमि में से दान की है।

४ अप्रैल १९७० को इन्होंने दयानन्दमठ (जि० गुरुदासपुर) दीना-नगर के अध्यक्ष स्वामी स्वतंत्रतानंद सरस्वती के शिष्य स्वामी सर्वानन्द जी सरस्वती से संन्यास की दीक्षा ग्रहण की। अब वे 'स्वामी ओमानन्द सरस्वती' के नाम से विख्यात हैं। आजकल इनकी इतिहास एवं पुरातत्त्व सम्बन्धी वस्तुओं के संग्रह में तथा प्रकाशनकार्य में विशेष रुचि है। इनके द्वारा संचालित गुरुकुल झज्झर में इनकी ही शरण में मैंने (सुदर्शन देव आचार्य) भी शिक्षा प्राप्त की।

८. श्री पं० विश्वप्रिय शास्त्री :

इनका जन्म बिजनौर जिले के शेरकोट नामक ग्राम में हुआ था। इन्होंने माध्यमिक शिक्षा के पश्चात् गुरुकुल दयानन्द वेद विद्यालय दिल्ली में आचार्य राजेन्द्रनाथ शास्त्री जी के चरणों में बैठकर अष्टाध्यायी महा-भाष्य आदि ग्रन्थों का अध्ययन किया। वे आचार्य भगवान् देव जी के सहा-ध्यायी थे। इन्होंने गुरुकुल झज्जर के उपाचार्य पद पर आचार्य भगवान् देव जी का दक्षिण-हस्त बनकर लगभग १० वर्ष पर्यन्त गुरुकुल की सेवा की। लेखन कार्य में इनकी विशेष अभिरुचि थी। मैंने (सुदर्शन देव आचार्य) पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन इन्हीं के मुखारविंद से ही किया है। खेद है कि आप १८ जून १९६५ में अल्प आयु में ही इस संसार को छोड़कर चले गये।

९. ब्र० हरिदेव आचार्य :

इनका जन्म गौरीपुर (भिवानी) ग्राम में हुआ। प्राथमिक शिक्षा के

उपरांत आचार्य भगवान् देव जी के आचार्यत्व में चल रहे गुरुकुल झज्झर (रोहतक) में प्रविष्ट हुए। वहां आर्ष पाठविधि से वेदादि शास्त्रों का अध्ययन किया और नैष्ठिक ब्रह्मचर्य की पावन दीक्षा लेकर आर्ष पाठविधि की सेवा के लिए कार्य-क्षेत्र में कूद पड़े। पहले गुरुकुल कालवा (जीन्द) को अपना कार्य-क्षेत्र बनाकर समाज-सेवा का निश्चय किया। उन दिनों मैं आर्यसमाज मंदिर जींद शहर में ही रहता था। एक दिन वे मुझ से मिलने आये और "वैदिक-विजय" नामक मासिक पत्रिका के प्रथम अंक की एक प्रति दी। मैंने पं० विश्वप्रिय जी का "तम्बाकू का नशा" नामक लेख इन्हें प्रकाशनार्थ दिया। वह उन्हें इतना अच्छा लगा कि उसे अलग से प्रकाशित किया। मैंने ही उन्हें प्रेरणा दी कि हमारे "गुरूणां गुरुः" पूज्य स्वा. सच्चिदानन्द जी के पास जाओ और दिल्ली में उजड़े हुए उनके गुरुकुल दयानन्द वेद विद्यालय को चालू करो। मेरी प्रेरणा से वे स्वामी जी के पास गए और उनके परामर्श और आशीर्वाद से गुरुकुल को सम्भाल लिया। संस्था के चलाने में आरंभिक कठिनाइयों का डटकर मुकाबला किया। आज उन्हीं के कठोर परिश्रम से यह वेद-वाटिका पुष्पित एवं फलित होकर संस्कृत भाषा के शिक्षा-क्षेत्र में अपना सौरभ प्रसारित कर रही है। आपके आचार्यत्व में इस संस्था से आर्यसमाज को बड़ी-बड़ी आशाएं हैं।

न चौरहार्यं न च राजहार्यं,
न भ्रातृभाज्यं न च भारकारि।
व्यये कृते वर्धत एव नित्यं,
विद्याधनं सर्व-धन-प्रधानम् ॥

विद्या का धन सब धनों से बढ़कर है, क्योंकि इस धन को न चोर चुरा सकते हैं, न राजा छीन सकता है, न भाई-बन्द बांट सकते हैं, न ही यह किसी के लिए भार बनता है, विशेष बात यह है कि इस धन को जितना भी खर्च करो, यह उतना ही बढ़ता है।

गुरु शिष्य-परम्परा

आर्ष पद्धति के पुनरुद्धारक आचार्य
स्वा० पूर्णानन्द सरस्वती, (कनखल)
स्वा० विरजानन्द सरस्वती कर्त्तारपुर (पंजाब)
पं० युगल किशोर(उत्तर प्रदेश), पं० वनमाली, गंगादत्त चौबे, रंगदत्त चौबे, स्वा० दयानन्द(गुजरात), पं० उदयप्रकाश(मथुरा)
पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु
पं० युधिष्ठिर मीमांसक(वहालगढ़)
पं० सत्यदेव वशिष्ठ
डा० कपिलदेव शास्त्री (कुरुक्षेत्र)
पं० मनुदेव शास्त्री (डालावास)
पं० ज्वालादत्त
पं० भीमसेन
पं० गंगादत्त
=श्री शुद्धबोध तीर्थ, (उ०प्र०)
आचार्य पं० राजेन्द्रनाथ शास्त्री (नांगलोई)
=स्वा० सच्चिदानन्द योगी
आचार्य भगवानदेव
स्वामी ओमानन्द, (नरेला)
पं० विश्वप्रिय
शेरकोट (बिजनौर)
आचार्य बलदेव नैष्ठिक ब्रह्मचारी
(राजस्थान)
पं० सुदर्शन देव
(हरयाणा)
पं० राजवीर
(उ०प्र०)
आचार्य हरिदेव (हरयाणा)

पातञ्जल योग-परम्परा के देदीप्यमान नक्षत्र

—स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती*

भारतीय मान्यता के अनुसार वैदिक काल के प्रारम्भ में स्वयं **हिरण्य-गर्भ** परमात्मा ही आदि-योग-प्रतिष्ठाता थे। तदनन्तर अमैथुनीसृष्टि के चार ऋषि **अग्नि, वायु, आदित्य** और **अङ्गिरा** हुए। इनके पश्चात् मैथुनी सृष्टि में चारों वेदों के उद्धारक ऋषि ब्रह्मा ने योग का भी प्रवर्तन किया।

तदनु अनेक ऋषि-महर्षियों की सुदीर्घ परम्परा वैदिक काल में ज्ञान-विज्ञान का प्रतिपादन करती रही। मुनि-श्री पतञ्जलि के व्याकरण-महाभाष्य के शब्दों में—

अष्टाशीतिसहस्राणि ऊर्ध्वरेतसाम् ऋषीणां बभूवुः।

अर्थात् उनसे पूर्व अट्ठासी हजार ऊर्ध्वरेता ऋषिगण हो चुके थे। प्रतीत होता है, महर्षि पतञ्जलि के समय तक जाते-जाते यह ऋषि-योग-परम्परा कुछ शिथिल हो चली थी। अतः 'योग-शास्त्र' को सूत्र-शैली में पुनः प्रतिपादित करते हुए उन्होंने 'योग-दर्शन' को प्रतिष्ठापित किया।

इस योग-दर्शन को ऐसी शास्त्रीय एवं सर्वसम्मत मान्यता प्राप्त हुई कि पातञ्जल योगसूत्रों का प्रचार-प्रसार करने वाले भाष्यों, टीकाओं, व्याख्याओं, वृत्तियों का एक युग ही प्रारम्भ हो गया। सैद्धान्तिक विवेचकों के अतिरिक्त प्रयोगात्मक गुरुओं की भी अनेक परम्पराएं चल निकलीं। कुछ साधक गुरुओं ने बाह्य आसन, शरीर-विन्यास मुद्राओं आदि पर विशेष वल दिया, जैसे गुरु गोरक्षनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ आदि ने। इससे 'हठ-योग' की एक पृथक् परम्परा भी विकसित हो गई। किन्तु यह धारा महर्षि पतञ्जलि के प्रतिपादन के अनुरूप नहीं थी, अतः इसे आर्ष परम्परा नहीं कहा जा सकता। इसकी तुलना में पातञ्जल योग-परम्परा की साधना को **ध्यान-योग** या **राजयोग** का नाम दिया गया। यहां इसी **आर्ष-परम्परा** के प्रसारक कतिपय देदीप्यमान नक्षत्रों का कालक्रम से नामोल्लेख किया जा रहा है—

---

* अध्यक्ष, पातञ्जल योगधाम, आर्य नगर, हरिद्वार—२४९४०७

१. **योगेश्वर कृष्ण**—'भगवद्गीता' द्वारा योग के उपदेष्टा।

२. **महर्षि व्यास**—'पातञ्जल-योग-सूत्र-भाष्य' के कर्त्ता।

३. **महर्षि पतञ्जलि**—'योगसूत्र' के रचयिता, सिद्ध योगी।

४. **महाराजा भोज**—'भोजवृत्ति' द्वारा पातञ्जल योग के दूसरे भाष्यकार।

५. **आद्य शङ्कराचार्य**—'श्री पातञ्जल योगसूत्र-भाष्य-विवरण' के रचयिता।

६. **स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती**—महर्षि दयानन्द के योग-प्रशिक्षक

७. **स्वामी ज्वालानन्दपुरी**— ,, ,, ,,

८. **श्री शिवानन्द गिरि**— ,, ,, ,,

९. **श्री सोमानन्द गिरि**— ,, ,, ,,

१०. **महर्षि दयानन्द सरस्वती**—वेदोद्धारक, सिद्ध योगी, कलकत्ता में कहे 'अपना जन्म चरित्र', ('अज्ञात जीवनी', 'योगी का आत्मचरित्र') द्वारा 'पातञ्जल योग' के विशदीकर्त्ता।

११. **स्वामी लक्ष्मणानन्द**—'ध्यान-योग-प्रकाश' के लेखक, ऋषि-शिष्य।

१२. **स्वामी आत्मानन्द सरस्वती**—'सन्ध्या-अष्टांग-योग', 'मनो-विज्ञान तथा शिव संकल्प' के योग-सिद्ध लेखक।

१३. **महात्मा नारायण स्वामी।**

१४. **श्री वेदानन्द वेद-वागीश।**

१५. **स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक**—'आर्ष-योग-प्रदीपिका', 'प्राचीन योग तथा अभ्यास वैराग्य' के साधक लेखक।

१६. **स्वामी योगेश्वरानन्द सरस्वती**—'आत्म-विज्ञान', 'ब्रह्म-विज्ञान' आदि के रचयिता, 'योग-निकेतन' आश्रमों के संस्थापक।

१७. **ब्र० कृष्णदेव पाराशर।**

१८. **महात्मा आनन्द स्वामी।**

१९. **महात्मा प्रभु आश्रित जी**—'वैदिक भक्ति साधना आश्रम' रोहतक तथा 'यज्ञ-योग-ज्योति' पत्रिका के संस्थापक।

२०. **स्वामी विज्ञानानन्द सरस्वती**, रोहतक।

२१. **स्वामी सच्चिदानन्द योगी**—'पातञ्जल योग-साधना', 'योग सार', 'योगी का आत्मचरित्र' आदि द्वारा तथा 'योगधाम' एवं 'योग-मठ' आश्रमों की स्थापना द्वारा, आर्ष योग के प्रमुख प्रवक्ता।

२२. **स्वामी निजानन्द सरस्वती।**

२३. श्री याज्ञवल्क्य मुनि।

२४. डा० नरेश कुमार ब्रह्मचारी—योगनिदेशक भारत सरकार।

२५. स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती—'वेदों में योगविद्या', 'योग-प्रवेशिका के लेखक', योगधाम में स्वा० सच्चिदानन्द जी के उत्तराधिकारी।

२६. स्वामी भजनानन्द सरस्वती—महात्मा नारायण स्वामी आश्रम, रामगढ़, नैनीताल में योगी जी के उत्तराधिकारी।

२७. ब्र० निर्मला योग भारती—'योगमठ' हैदराबाद में स्वामी सच्चिदानन्द जी की उत्तराधिकारिणी।

२८. स्वामी सत्यपति जी—'योग मीमांसा' के लेखक, योग-शिक्षक।

२९. स्वामी ओमानन्द जी—मनधाराप्रपात में योग-प्रशिक्षक।

३०. स्वामी दयानन्द 'दण्डी'—खरखोदा में योग विस्तारक। इस प्रकार अनेक आर्ष योगी-प्रशिक्षक आज समस्त भारत में योग की शास्त्र-सम्मत परम्परा का विकास-प्रसार करने में दत्त-चित्त हैं। इसी आर्य पद्धति को प्रश्रय दिया जाए तो समाज को विशेष लाभ हो सकता है। ऐसे जिन अन्य साधक योगियों का यहां उल्लेख नहीं हो पाया हो, उनसे क्षमा की आशा है, क्योंकि किसी भी व्यक्ति का अपना ज्ञान तो सदा सीमित ही होता है।

स्वाध्यायाद् योगमासीत, योगात् स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याय-योग-सम्पत्त्या, पर आत्मा प्रकाशते॥

—श्रीपातञ्जल-योग-सूत्रभाष्यम् १।२८।

"प्रणव (=साढ़े तीन मात्रा वाले 'ओ३म्' या तीन मात्रा वाले 'ओं'-कार) के मानस जाप से ध्यान-योग का प्रारम्भ करे। फिर समाधि में बार-बार प्रणव के पदार्थ पर ध्यान लगाये। इस प्रकार जप के साथ अटूट ध्यान लग जाने पर योगी के सामने वह अद्वितीय आत्म-तत्त्व प्रकाशित हो जाता है।"

REVIVOR OF PRESTINE YOGA

—Sh. S. Krishna Rao, M.A.*

Lord Krishna in Bhagwat Gita at Shloka No. 42 and 43 of Chapter VI has assured the humanity that one who strived hard in one's previous birth to achieve realization, will be born again in the family of the pious or enlightened, where one regains the latencies of the Yoga, and strives with greater vigour again for perfection. I feel this fits in word by word in case of His Holiness Swamy Satchidanandaji Yogi. He must have practiced Yoga in his previous births and treaded the path for realisation of the supreme, that is why in this birth he was born in the family of the wise and learned who were godly in their nature. Since his childhood he was interested in learning, and since he attained adulthood, he showed interest in the learning of Sanskrit. He mastered Sanskrit Vyakarana, studied Vedas, Upnishads, Darshanas and other Shastras, and became the follower and true disciple of Swami Dayanand Saraswati.

During his studies Swamiji was much impressed with the works and achievements of Maharshi Dayananda Saraswati on Vedas and Yoga, so he decided to carry on the same mission of preaching the ideology of Vedas among Hindus irrespective of caste and creed, to inspire Indians to follow the commandments of Vedas in their lives. Great crowds were drawn towards his lectures and preachings on Vedas. Swamiji was a mighty stalwart who believed more in practical approach than delivering lectures alone. To prove his stand ,he established a Veda Vidyalaya in Delhi and Named it as "Shrimad Dayananda Veda Vidyalaya" where the students mastered the Vedas and Vedangas with Sanskrit as the main subject. This institute is still doing great service, yet there is need to modernise it to attract more and more pupil for study. With the changing time, his followers should give a new thought and keep up the spirit with which the institution was established.

As a true follower of Dayanand Saraswati, he did his best to

---

*Secretary 'Satchidananda Yoga Mission', Hyderabad, A.P.

fill up the gaps in Vedic awareness, through his teachings of Vedas and conducting different Yajnas in the public, thus bringing forth the hidden Vedic dynamics of morals, the high humanitarianism, brotherhood, the right way of living and at the top the realisation of the supreme beloved, the creator of the universe. He has been serving the Indians to bring in them the vedic spirit and to follow its command in life.

Swamiji very often tells that Dayanand Saraswati was not only the champion of cahampions of Vedas, but he was a great yogi, who had attained siddhies (Psychic powrs). Unfortunately people know little of his being a great yogi. To prove this, his holiness Swami Satchidanand Yogi did a lot of research, went round from place to place,met dfferent important persons in whose contact Dayanand Saraswati had come. He collected Manuscripts, letters, material, birth childhood and life history data and then compiled them into a book, and then published it as 'YOGI KA ATMA CHARITRA', which contains the authentic details of yogic ventures, learning and practice of Yoga by Dayanand Saraswati, as narrated by him in Culcutta in 1873. Dayanand Saraswati did rigorous Sadhana for the attainment of the supreme reality He used to do Gayatri-Japa one lakh times every day. So this book is a great research work and no other than Swamiji, who had the deep understanding deter-maination and will-power, could have done this.

Swamiji very often used to tell that every householder grha-sthi should practise meditation at least one hour in the mornig and one hour in the evening, which purifies the HEART, corrects and builds up a human moral character. Life is not meant for eating and drinking alone, one should do good acts too. He always used to advise me in addition to Meditation, to keep my mind always under the spell of Omkara, i. e., Pranava Japa. Swamiji observed that most of the yoga institution coming up in different parts of the country are mere Commercial Centres. He studied the process of Yoga practiced by few of such so called Institution, and concluded that the practice adopted by them do not fit in either in 'Raja Yoga' of patanjali or in the proccss preached by the ancient Rishies. He is firmly of the view that Yoga is not meant for marketing, i.e., it is not a saleable commodity.

As he had a burning desire to spread the right path of Yoga

(MEDITATION) among the people, he wrote a procedure (SADHANA BOOK) as per the sutras of Patanjali and conducted many camps (Shiviras) in the North. Having come to Hyderabad and after meeting KUM. NIRMALA, he developed an interest for South India also. He covered many Southeren states, preaching the correct methods of Yoga, (based on the Sutras of Mahasshi Patanjali). Kumari Nirmala became a staunch disciple of Swamiji and at her constant pursuance be founded a yoga centre in the name of "Patarjala Yoga Matha" at Bontha Pally, (30. K.M. from Hyderabad). This has become a centre, from where the Meditation as styled by Maharishi Patanjali or "Raja Yoga" commonly known as 'Ashtanga Yoga' was spread through different means. All this goes to show how tremendous was the zeal and burning desire in the Bosom of Swamiji to preach and teach the right way of Meditation (Yoga), to save the people from falling a prey to the commercialised Institutions.

Before this MATH was raised, Kum. NIRMLA was initiated into the order of 'gown samnyasin'. Since then she was renamed as "NIRMLA YOGA BHARATI" and started living in the MATH, spending her time in Meditation and study of shastras, under the Patron guidance of swamiji.

As a part of his zeal for spreading real meditational Yoga, Swamiji also started a Magazine in the name of "Patanjala Yoga Parijata". Members were drawn from all over India and the Magazine received a good appreaction from the seekers of Yoga. For those who are interested in Yoga, Swamiji wrote the following Books—

1. Yoga Sara
2. Patanjala Yoga Sadhana
3. Patanjala Yoga Sutra Bhashyam
4. AUM—Mantra Sadhana
5. Katha—Upanishad, etc.

Not contented with these steps for popularisation of Yoga, Swamiji went a step further to set up a Mission to take up this gigantic task in the South. It was named as "SATCHIDANANDA YOGA MISSION, HYDERABAD", and Kumari Nirmala Yoga Bharathi was given command of the Mission to act under the guidance and advice of Swamiji. She has accepted this challenge,

and is still in the field to carry on the Mission work. The mission is a registered Organisation under the Act, with headquarters at Hyderabad.

As a part of missions work, Swamiji wanted to create a training Centre of Yoga-Vidya to produce Acharyas and preachers for South. And for this, at Bonthapally where the teachings of Comparative study on Patanjala Yoga sutras with other methods of Yoga, as enunciated by the ancinet masters and Maharshies of yore, such scholars could be produced who will themselves be the Sadhakas of Yoga too. Swamiji proposed to send them all over India for practical training of yoga. But this dream is yet to be materialised. Though the ground work had been done but for non-availability of Swamiji's patronage, further development-work was held up. Nirmala Yoga-Bharati is not disappointed. She is again trying to expedite the establihsment and functioning of the proposed institution a 'Yoga Gurkul' or a Residential Public School.'

This is a VENTURE to create Vedic and Yogic awareness, in coming generations also. The concept of a Residential Public School came to mind of Nirmala Yoga Bharathi, on visiting the "Manik Prabhu Residential School." Hommabad (near Gulabarga Distt)

The underlying idea was that the Indian and Vedic culture of this sacred land is fading away from the Indian society. The new generations that are coming up are completely ignorant of their Vedic Dharma, mode of worship as per their shastras are mad with running after materialism only, and thus are devoid of discipline character and building part of life. We don't mean Science is to be given up,but,.it is felt that character, fear of God, way of right living and humanitarianism are far more important and their negligence will bring down not only the progress of our Nation as a whole, but also the high international eminence enjoyed by the glories of ancient India, founded by our great masters, i.e. Lord Rama,Lord Krishna, Adi Shankara, Dayanand Saraswati and other great reformers of our society. So these teachings should be clubbed with the curricular contents of the existing Eduacational System, so as to bring up the Indian youth on the right path of living. The establishment of this Residential School or Gurukul will apprise them of the rich cultural heritage created by their great masters, Rishis, and reformers.

All these aspects were discussed with Swamiji and final shape was given by Kum. Nirmala Yoga Bharati. Necessary steps are being taken to establish such a school at Hyderabad first. An executive committee to this effect is also being constituted. This School is alos a part of Swamiji's ambition of propagation of right method of Yoga. Through this school, the aspirants will be taught the fundamentals of meditation too. Thus every year batches of Hundreds of students taught and enlightened with the right ethical values of life along with high qualifications in modren education. can be produced. Such youth with profound backround in modren eduction and Yoga attainments can effectively live and propagate the high ideals and thus re-enliven the social and moral values.

Swamiji is a rigorous Tapasvi. He spends most of his time in meditation. He sits for hours together immersed in the glories of godly bliss. I believe, this Tapasya has blessed him with siddhies too. I would like to quote a peculiar instance. Once we were on a yoga trainging tour at Nilanga (Bidar Dist. Karnataka). A stranger appeared before Swamiji. He immediately rushed, fell on his fect and sought his esteemed blessings. After that he sat and started narrating thus. "Swamiji, day before yesterday I had a dream, I saw a sadhu and paid my respects to him. The Sadhu disappeared. Today morning, I suddenly got the idea to visit Nilanga to see my friends. There I was told that a Swamiji has come here, who is teaching meditation based on Raja Yoga. I desired to have holy 'Darshana : But when I entered your room, my joy and surprise knew no bounds to find that you were the same divine personality of my dream."

यस्मिन् काले स्वमात्मानं योगी जानाति केवलम् ।
तस्मात् कालात् समारभ्य जीवन्मुक्तो भवत्यसौ ॥

"The moment a Yogi knows of himself as only the soul, since that point he becomes a liberated life."

श्रीमद्दयानन्द वेद विद्यालय
(यमुना तट से बुकलाना तक)

—श्री बुद्धदेव शास्त्री, साहित्यरत्न*

२४ अगस्त सन् १९३४ ई०, श्रावण शुक्ला पूर्णिमा (सं० १९९१ वि०) के शुभ दिन पूजनीय आचार्य राजेन्द्रनाथ जी शास्त्री (सम्प्रति श्री स्वामी सच्चिदानन्द जी योगी) ने पंचकुइयां रोड, नई दिल्ली के एक क्वार्टर में, अपने गुरु स्वामी शुद्धबोध तीर्थ की पुण्य स्मृति में श्रीमद्दयानन्द वेद विद्यालय की स्थापना की। स्थापना के समय केवल दो छात्र एवं सवा छः आने (आज के ३९ पैसे) कोष में थे। आज इस विद्यालय में १६० छात्र हैं, तथा करोड़ों की सम्पत्ति है।

लगभग एक वर्ष बाद यह विद्यालय दिल्ली से ६-७ किलोमीटर दूर स्वच्छ एवं पवित्र स्थान ढका ग्राम जो हरिजन उद्योगशाला के समीप था, की एक बगीची में पहुंच गया। मैंने भी श्री बुद्धसिंह आर्य बजाज शेरकोट, एवं श्री विश्वप्रिय जी व्याकरणाचार्य, उपाचार्य झज्झर के सहयोग से एवं पूज्य ताऊ श्री छेदासिंह जी की प्रेरणा से इस विद्यालय में ३१ जनवरी १९३६ ई० को प्रविष्ट होने का सौभाग्य प्राप्त किया।

उपनिषदों, रामायण एवं महाभारत आदि ग्रंथों में आश्रमों का जैसा वर्णन सुना था, वह साक्षात् ढका ग्राम में देखने को मिला। मुनि के समान त्यागी-तपस्वी, वेदवेदांग तत्त्वज्ञ पूज्याचार्य राजेन्द्रनाथ जी शास्त्री एवं ऊँच-नीच छुआछात आदि के भेदभाव बिना वटुगण, प्रातः-सायम् सम्मिलित वेदगान एवं श्लोकोच्चारण, परस्पर बन्धुओं से भी अधिक स्नेह समान भोजन, समान व्यवहार, समान पठन-पाठन, यह सब मिलकर प्राचीन आश्रमों की भांति आगंतुकों का मन हर लेता था।

निगम बोध घाट (यमुना तट)

कारणवश ढका ग्राम का यह स्थान भी छोड़ना पड़ा और पवित्र यमुना के निगमबोध घाट पर निगमागम का बोध कराने के लिए विद्यालय आ गया। इस स्थान की अनेक स्मृतियाँ आज भी मन पर अंकित हैं। जो

* स्वतन्त्रता सेनानी, समना सराय, शेरकोट, जि० बिजनौर

स्थान मिला वह गंदा था। उसकी सफाई के लिए ५ विद्यार्थी एवम् एक वानप्रस्थी को आचार्य जी ने वहां भेजा जिनमें श्री वाचस्पति, श्री सुरेन्द्रनाथ, श्री वीरभद्र, श्री भूदेव तथा मेरा नाम था। हम ने रसोईघर के लिए मिट्टी डाल-डालकर एक ऊंचा चबूतरा बनाया तथा रहने के स्थान को भी साफ किया। कठोर श्रम के कारण हमारी जठराग्नि इतनी बढ़ी कि एक एक समय में १५-१६ रोटियां खाने लगे। यहां छात्रों की संख्या भी पर्याप्त बढ़ गई। उस समय यहां श्री भगवानदेव (स्वामी ओमानन्द) श्री विश्वप्रिय, श्री सुरेन्द्रनाथ, श्री श्रुतिकान्त, श्री भद्रसेन, श्री सत्यवीर, श्री वाचस्पति, श्री वीरभद्र, श्री रूपराम, श्री रुद्रदेव, श्री शिवानन्द, श्री ब्रह्मदत्त, श्री उपमन्यु आदि तीस के लगभग छात्र विद्याध्ययन में रत थे।

ब्र० भगवानदेव (स्वामी ओमानन्द) तथा ब्र० सत्यवीर भयंकर शीत ऋतु में भी प्रात:काल नंगे शरीर घूमने जाते थे। मेरठ में आर्य प्रतिनिधि सभा उ०प्र० की रजत जयन्ती के अवसर पर भी हम सब छात्र पैदल ही गये थे। लोगों ने प्रात:काल ब्र० भगवानदेव व ब्र० सत्यवीर को दिसम्बर के महीने में, जब खूब ठण्ड पड़ रही थी, नंगे शरीर घूमने जाते देखा तो बस ने दांतों तले अंगुली दबा ली। इससे दयानन्द वेद विद्यालय की प्रशंसा चारों तरफ फैल गई। इस अवसर पर संस्कृत भाषण प्रतियोगिता में ब्र० सुरेन्द्रनाथ के समस्त गुरुकुलों में द्वितीय आने पर तो हमारे विद्यालय की प्रशंसा में चार चाँद लग गये थे।

उस समय की दो घटनाएं स्मरण आ रही हैं। एक बार शाम के समय हम शौचादि के लिए लाल किले के पीछे यमुना के किनारे गये। यहां पर बबूल एवं झाड़ियां खूब थीं। कुछ ही आगे मुसलमान गुण्डों का एक स्थान वहीं पर इकट्ठे होने का था। अकस्मात् हमारा गुण्डों से झगड़ा हो गया। हम दस-पंद्रह छात्र थे, वे संख्या में पचास-साठ। पहले हम उनकी संख्या तथा हथियार आदि देखने के विचार से पीछे हटते रहे। जब वे सब झाड़ियों से निकल कर सड़क पर आ गये और 'लाइलाह इल्लिलाह' का नारा बोल कर हमारी ओर बढ़े तो हम सब ने भी एकदम ऋषि दयानन्द की जय बोलकर तथा लाठी लेकर जो उन पर आक्रमण किया तो जैसे शेर को देखकर भेड़ों में भगदड़ मच जाती है, वैसे ही सब भाग गये तथा बीसियों जोड़ी जूते-चप्पल छोड़ गये।

दूसरी घटना —

हैदराबाद आर्य सत्याग्रह के समर्थन में दिल्ली की आर्यसमाजों का

जलूस निकला। जब जलूस खारीबावली से चाँदनी चौक की ओर बढ़ा तो फतेहपुरी मस्जिद से मुसलमानों ने जलूस पर हमला बोल दिया। हम सब छात्र पीला चोगा पहने तथा लाठी लिये जलूस में शामिल थे। हम सब ने मिलकर ऐसा मुकाबला किया कि सब मुस्लिम गुण्डे मस्जिदों के अन्दर छिप गए। कई गुण्डों के चोटें भी आईं। थाने में रिपोर्ट दर्ज कराई गई कि आर्यसमाज के साधुओं ने मुसलमानों को मारा है। समाज के अधिकारियों ने पुलिस वालों को बताया कि 'हमारे जलूस में केवल दो साधु थे जिनकी आयु ६५-७० वर्ष की थी। आप इन्क्वायरी कर लें कि इतने बूढ़े साधु कैसे मार सकते हैं।'

हैदराबाद आर्य सत्याग्रह में विद्यालय की ओर से तीन जत्थे भेजे गये थे। सब से पहले जत्थे में मैं भी गया था। (उसका विस्तृत वर्णन अन्यत्र दिया है।)

अधिक छात्रों के आ जाने पर आचार्य राजेन्द्रनाथ जी ने अपनी सहायता के लिए श्री पद्मनाभ व्याकरणाचार्य को रख लिया था। उन्होंने हमें पढ़ाना शुरू किया। परन्तु कुछ महीने बाद ही बीमार होकर वे अपने घर दक्षिण भारत चले गये। फिर बड़े विद्यार्थियों ने छोटे विद्यार्थियों को पढ़ाना प्रारम्भ कर दिया। तभी मैंने संस्कृत पाठावली एवं पञ्चतन्त्र आदि संस्कृत साहित्य का तथा अष्टाध्यायी का अध्ययन किया। यहीं पर पढ़ाते हुए आचार्य जी ने 'सिद्धान्तकौमुदी की अन्त्येष्टि' नामक ग्रन्थ लिखकर पौराणिकों की पाठशालाओं तथा कौमुदी के भक्तों में हलचल मचा दी।

इन्हीं दिनों पौराणिकों द्वारा यमुना तट पर शतकोटि होमात्मक यज्ञ के घोषणापत्र में, जो संस्कृत में छपा था, सत्तर अशुद्धियां निकाल कर पौराणिक मण्डल के बड़े-बड़े विद्वानों तक अशुद्धिपत्र पहुंचाया, परन्तु कोई उसका उत्तर न दे सका।

आचार्य जी का आदेश था कि सब छात्र संस्कृत में ही वार्तालाप करें। इसके प्रभाव से हमारा अनपढ़ रसोइया भी संस्कृत में बोलने लगा था। जनता में भी इसकी प्रसिद्धि हो गयी। एक बार एक छात्र ने किसी व्यक्ति के यह पूछने पर कि तुम कहां पढ़ते हो ? हिन्दी में कहा कि मैं गुरुकुल दयानन्द वेद विद्यालय में पढ़ता हूं, तो उसने कहा—'नहीं, तुम वहां नहीं पढ़ते। क्योंकि वहाँ के छात्र तो संस्कृत में ही बोलते हैं।'

सन् १९३८ ई० में हरिद्वार के कुम्भ के मेले में तथा महाविद्यालय ज्वालापुर व कांगड़ी गुरुकुल में 'सिद्धान्त कौमुदी की अन्त्येष्टि' पुस्तक का

प्रचार करने तथा ऋषि दयानन्द जी द्वारा प्रतिपादित अष्टाध्यायी महाभाष्यादि आर्ष ग्रन्थों का प्रचार करने को मैं व ब्र० भगवान्देव (स्वामी ओमानन्द), ब्र० विश्वप्रिय व चौधरी साहब १० अप्रैल की शाम को हरिद्वार गये। सवेरे ज्वालापुर स्टेशन पर उतर कर महाविद्यालय ज्वालापुर गये। ठीक १३ अप्रैल को जब कुम्भ स्नान का असली दिन था, गुरुकुलों के कुम्भ स्वरूप गुरुकुल कांगड़ी के पुराने स्थान को जहां स्वामी श्रद्धानन्द जी ने गुरुकुल की स्थापना की थी, देखने पैदल ही गये। उत्सव पर 'अन्त्येष्टि' का खूब प्रचार किया। वहां से ब्र० विश्वप्रिय के साथ नजीबाबाद, धामपुर, शेरकोट, लेदरपुर, नसीरदीवाला, मिर्जापुर आदि गांवों में घूमते हुए तथा आर्ष पाठविधि का प्रचार करते हुए दो मई को वापस अपने गुरुकुल में आ गये। हमारे इस अभियान से विद्यालय की प्रशंसा एवं पूज्याचार्य राजेन्द्रनाथ जी शास्त्री के तप-त्याग एवं विद्वत्ता की चर्चा सब ओर हो गयी। ध्यान रहे, आचार्य जी ने इस विद्यालय से एक पैसा भी अपने निजी खर्च के लिए कभी नहीं लिया तथा अपनी दक्षिणा भी विद्यालय को ही देते रहे।

गुरुकुल दयानन्द वेद विद्यालय की प्रशंसा सुनकर मजिस्द मोठ निवासी पटवारी भद्रसेन जी अपने कुछ साथियों के साथ यमुना तट पर आए। उन्होंने आचार्य जी को तथा अध्ययनरत छात्रों को देखकर गुरुकुल को अपने ग्राम के समीप, यूसुफ सराय से मस्जिदमोठ जाने वाले रास्ते के निकट ले चलने की प्रार्थना की. और इस निमित्त ५००० वर्ग गज भूमि दान में देने की बात कही। आचार्य जी तो ऐसे स्थान की तलाश में थे ही, जो आबादी से दूर एकान्त में हो। उन्होंने प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। सन् १९४० में गुरुकुल श्री दयानन्द वेद विद्यालय निगमबोध घाट यमुना तट से मस्जिदमोठ, पो० यूसुफसराय में आ गया।

कुछ टीन डालकर तथा यूसुफसराय में एक धर्मशाला किराये पर लेकर गुरुकुल का श्रीगणेश किया गया। आचार्य जी के त्याग तथा छात्रों के परिश्रम व लगन को देखकर दानी महानुभावों ने भी दिल खोलकर दान दिया, तो भवन बनवाने का सिलसिला जोरशोर से शुरू हो गया।

सब से पूर्व चौ० डालचन्द ठेकेदार, लड्डू घाटी पहाड़गंज दिल्ली वालों ने १००० रु० से एक बहुत ही पक्का लम्बा चौड़ा कमरा बनवाया। साथ ही सेठ जीवनराम अमृतसर वालों ने २५०० रु० में श्यामकूप व प्याऊ बनवायी। ला० रामशरणदास दरी विक्रेता तथा श्री भगवान् कृष्ण ने श्रीमती मुनिया देवी की स्मृति में कमरे बनवाये। साथ ही ला० फकीरचन्द

हरिश्चन्द्र कपड़े वालों ने औषधालय के लिए भवन बनवाया। बड़ा हाल डा०जगन्नाथ अरोड़ा ने बनवाना प्रारम्भ कराया। इसकी छत पड़नी ही शेष थी कि तभी द्वितीय महायुद्ध के कारण दिल्ली पर जर्मन बमबारी की अफवाहें आने लगीं। सफदरजंग हवाई अड्डा गुरुकुल के निकट ही था। तब आचार्य जी ने ब्रह्मचारियों की सुरक्षा की दृष्टि से गुरुकुल को मेरठ के बक्सर बुकलाना स्थान पर ले जाना उचित समझा और गुरुकुल अस्थायी रूप से वहां स्थानान्तरित हो गया।

सन् १९४२ ई० में ही एक नई कर्मकाण्ड की योजना श्री आचार्य जी ने आरम्भ की। प्रत्येक ब्रह्मचारी सायं प्रातः पृथक्-पृथक् सन्ध्या यज्ञ करता। इसका उद्देश्य यह था कि इस अभ्यास से गुरुकुल से निकलने के बाद भी जीवन में प्रातः-सायं सन्ध्या हवन करने का स्वभाव छात्रों का बन जाए।

गुरुकुल-बुकलाना

आचार्य श्री राजेन्द्रनाथ जी शास्त्री द्वारा स्थापित संस्थाओं में गुरुकुल बुकलाना भी है। यह संस्था भी उनके तप-त्याग एवं छात्रों के प्रति उनके स्नेह एवं सुरक्षा की भावना का प्रतीक है।

सन् १९४२ में जब द्वितीय विश्वयुद्ध तेजी से आगे बढ़ रहा था और कलकत्ता पर भी बम गिरने की आशंका से भगदड़ आरम्भ हो गयी थी, तब आचार्य जी को ब्रह्मचारियों एवं गुरुकुल दयानन्द वेद विद्यालय में रहने वालों का जीवन खतरे में दिखायी देने लगा। उस समय दिल्ली का हवाई अड्डा सफदरजंग में था जो विद्यालय से केवल एक किलोमीटर की दूरी पर था। हवाई अड्डे पर बम वर्षा की पूरी सम्भावना थी। बम वर्षा का असर गुरुकुल पर भी पड़ना था। अतः अपने छात्रों से माता-पिता से भी अधिक प्रेम करने वाले आचार्य जी उन की जीवन रक्षा की भावना से प्रेरित होकर पं० मूलचन्द जी के आश्वासन पर, गुरुकुल को बकसर में, जो सिम्भावली के समीप है, ले गये। पर मूलचन्द जी अपना आश्वासन पूरा न कर सके। तब बुकलाना के होरामसिंह जी प्रधान सब छात्रों एवं कर्मचारियों को बुकलाना ले गये। वहां छः महीने तक उन्होंने सबको अपनी

कोठी पर रखा, फिर १०-१५ बीघा खाम भूमि देकर गंगनहर की एक शाखा के किनारे आश्रम की स्थापना की। यहां की अनेक घटनाएं आज भी स्मृति-मंजूषा में सुरक्षित हैं।

सन् १९४२ का देश के इतिहास में भारी महत्त्व है। ९ अगस्त, '४२ को महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू एवं सरदार पटेल आदि सब मान्य नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया था। देश ने 'करो या मरो' का नारा बुलन्द किया था। इसी नारे से प्रभावित होकर ९ सितम्बर सन् १९४२ ई० को सिम्भावली स्टेशन के तार काटकर गुरुकुल बुकलाना के छात्रों ने, जिसमें मैं भी सम्मिलित था, सरकार के विरुद्ध संघष छेड़ दिया था। इसके बाद भी दो-तीन बार फिर तार काटे गये। जो नेता भूमिगत हो गये थे, उनमें से अनेक हमारे गुरुकुल में छिप कर रहे। उनकी सर्व प्रकार से रक्षा तथा उनके कार्य में गुरुकुल ने सहायता की।

यहाँ रहते हुए कार्तिक गंगा स्नान के समय गढ़मुक्तेश्वर के मेले पर प्रतिवर्ष पं० नौबतराम जी भण्डारी बिहूनी की सहायता से आर्यसमाज व गुरुकुल का प्रचार करने के लिए कैम्प लगता था। हमारे कैम्पों में पं० बस्तीराम जी तथा अन्य माने हुए उपदेशक अवश्य आते थे। बाबा बस्तीराम जो का वह भजन --"अरे यह कैसा दंगम दंगा रे, गंगा पर चढ़ा दी गंगा रे" आज भी कर्ण-कुहरों में गुंजायमान होता रहता है। उस मेले में कुछ लोग नाव में गंगा की पाषाण प्रतिमा रखकर पैसा मांगते थे। तभी यह भजन बनाया गया था।

द्वितीय विश्व युद्ध का खतरा कम होते ही गुरुकुल श्री दयानन्द वेद विद्यालय फिर मस्जिदमोठ में आ गया। पर बुकलाना के आसपास के छात्र तथा अष्टाध्यायी की प्रथमावृत्ति वाले कुछ छात्र वहीं रह गए। वहां का सारा भार मुझ पर तथा हरिशरण जी (जो कोटा मुदाफरा के रहने वाले थे, और अब इस संसार में नहीं हैं) पर छोड़ दिया गया था। मस्जिद मोठ में एक बड़ा लम्बा कमरा तथा टीन का एक लम्बा शैड व रसोई घर बन गया था। खेत पर कुआं बनवाकर उस पर रहट लगा दिया गया था।

गंग नहर पर स्थित बुकलाना गुरुकुल एवं वहाँ के निवासी ब्रह्मचारियों का आसपास के इलाके पर अच्छा प्रभाव था। एक बार कुछ मछियारे नहर में मच्छी मारने आये। ब्रह्मचारियों ने मना किया। न मानने पर उनके जालादि फाड़कर उनको भगा दिया। वे गांव वालों को साथ ले कर गुरुकुल पर आक्रमण करने के विचार से चल पड़े। रास्ते में किसी ने

पूछ लिया कि इकट्ठे होकर कहां जा रहे हो। जब उन्होंने गुरुकुल पर हमला करने की बात कही तो उसने कहा—'तुम्हें पता नहीं, वहां के ब्रह्मचारी कैसे हैं, तथा उनके पास कितने हथियार हैं। भलाई इसी में है कि वापस चले जाओ अन्यथा तुम्हारी लाशों का पता भी नहीं चलेगा'। उस इलाके में ब्रह्मचारियों की ऐसी धाक थी।

एक दिन ऐसा हुआ कि भण्डार में खाने पीने का सब सामान समाप्त हो गया। मैं कहीं गया हुआ था। रात को वापस आया तो सवेरे ही यह समस्या सामने आयी। दैवयोग से मेरे पास उस दिन कुछ पैसा नहीं था। अब छात्रों के भोजन की समस्या भयंकर रूप से सामने थी। मैंने कहा—घबराओ नहीं, सब प्रबन्ध हो जायेगा। मैंने कह तो दिया, परन्तु उपाय कोई दिखाई नहीं दे रहा था। कोई उपाय न देखकर प्रभु से प्रार्थना की शरण ली। अभी आठ भी नहीं बजे थे कि एक सज्जन आये और दस रुपये भेंट कर मुझे कहा, मैं कई दिन से इधर आने का विचार कर रहा था, पर आज मेरा मन मुझे इधर ले ही आया। उस समय १० रु० बड़ी कीमत रखते थे। झट छात्रों के लिए भोजन का सामान आ गया।

गुरुकुल बुकलाना में अध्यापन कार्य कराते समय मेरे जीवन की राह को बदलने वाली दो दुर्घटनाएं भी हुईं। मैं बिना वेतन के ही गुरुकुल की सेवा में लगा था तथा अपने आचार्य जी के पदचिह्नों पर चलने का प्रयत्न कर रहा था कि अचानक १८ जनवरी सन् १९४४ ई० को दोपहर १२ बजे के लगभग, जब मैं छात्रों को पढ़ा रहा था, पोस्टमैन ने तीन-चार पत्र लाकर दिये। एक पत्र ने मेरी सारी आशाओं एवं भविष्य के सारे प्रोग्रामों को मिट्टी में मिला दिया। वह पत्र घर से आया था। लिखा था—'आपके भाई भगवान्देव का ता० १२ जनवरी ४४ को सायं ५ बजे देहान्त हो गया। तुम्हें तार दिया, पत्र डाला, पर उसके अन्त समय में भी नहीं आ पाए। शायद ईश्वर की यही इच्छा थी। अब तुम शीघ्र चले आओ।'

मैं अपने भाई से उसी प्रकार स्नेह करता था जैसे लक्ष्मण राम से। शायद आप इसे स्वीकार न करें। परन्तु यह सत्य है। मैं बचपन में अपने पिता जी से डरता था, क्योंकि वे क्रोधी स्वभाव के थे। परन्तु मेरे भाई प्रेम की मूर्ति थे। यद्यपि मेरे पिता श्री पूर्णचन्द्र जी मेरे बचपन में ही, जब मैं १०-११ वर्ष का था, परलोक सिधार गए थे। भाई साहब पर ही परिवार का सारा बोझ था। अपने दो पुत्रों, अपनी धर्मपत्नी, माता जी, एक बहन व ताऊ जी का पालन-पोषण वही करते थे। उनके मरने के बाद भी ताऊ श्री छेदालालजी ने, जिनकी प्रेरणा से ही मैं गुरुकुल में प्रविष्ट हुआ था,

एक वर्ष तक घर का भार सम्भाला। परन्तु ठीक एक वर्ष बाद ३ जनवरी सन् ४५ ई० को प्रात: ४ बजे वे भी इस संसार से विदा हो गए। तब मैं घर पर ही था। शाम के समय उन्होंने गीता में वर्णित श्रीकृष्ण के विश्वरूप वाला अध्याय सुनाने को कहा। मैंने पढ़कर सुनाया। प्रातः वे सब को बिलखता छोड़कर चले गए। उनकी एक लड़की शान्ति देवी के अलावा कोई सन्तान नहीं थी। वे पुत्र से भी अधिक मुझ से स्नेह करते थे। उनके मरने के बाद मैं निश्शुल्क सेवा करने में असमर्थ हो गया और फरवरी १९४४ ई० से जीवन में निःशुल्क सेवा के व्रत को त्यागकर वेतन पर कार्य करना प्रारम्भ कर दिया।

गुरुकुल के हिसाब की सच्चाई व ईमानदारी का प्रमाण भी, हिसाब को आडिट करने वाले, बक्सर में जूनियर स्कूल के हेडमास्टर साहब ने दिया था। हिसाब किताब की जांच करते हुए उन्होंने सवा दो रुपये जमा में देखें, जिसके आगे लिखा था—छानस की बिक्री से। उन्होंने पूछा ये कैसे पैसे हैं ? मैंने कहा—आटा छानने से जो चोकर निकलता है उसे इकट्ठा कर लिया जाता है और गाय भैंस पालने वालों को वह बेच दिया जाता है। उसी के ये रुपये हैं। इस पर वे बड़े प्रसन्न हुए और कहा – जहां एक-एक पैसे का इतना ध्यान है, वहां हिसाब में कैसे गड़बड़ हो सकती है। यह सब पूज्याचार्य श्री राजेन्द्रनाथ जी शास्त्री के ही तप त्याग की भावना व विचारों का असर था। प्रभु उनके विचारों के अनुरूप आज के नौजवानों में ये भावनाएं भर दे तो देश का कल्याण हो जाये।

दयानन्द वेद विद्यालय का सत्याग्रही जत्था

--श्री बुद्धदेव शास्त्री, साहित्यरत्न*

२२ जनवरी १९३९ को 'हैदराबाद-दिवस' के सिलसिले में एक जुलूस निकाला गया था। फतेहपुरी मस्जिद से मुसलमानों ने जलूस पर हमला किया था। जलूस में दयानन्द वेद विद्यालय के सब छात्र व कर्मचारी भी शामिल थे। हमले का मुंहतोड़ उत्तर हमारे विद्यालय के छात्रों ने दिया था। उसमें मैं भी शामिल था।

इसी दिन हैदराबाद आर्य सत्याग्रह की घोषणा की गयी थी। यद्यपि विद्यालय में उसी दिन से सत्याग्रह की चर्चा चालू हो गयी थी, तथापि जत्था तैयार करने में दो मास लग गये।

३० मार्च सन् १९३९ ई० का वह दिन मेरे जीवन का ऐतिहासिक दिन बना। प्रातः के छः बजे थे। हमारे विद्यालय में शोक व हर्ष का मिश्रित वातावरण छाया हुआ था। कई वर्ष से साथ-साथ पढ़ने-रहने वालों का वियोग आंखों को सजल बना रहा था। साथ ही, परोपकार की भावना एक नया उत्साह उत्पन्न कर रही थी। उसी समय आचार्य श्री राजेन्द्रनाथ जी शास्त्री का आदेश सुनाई पड़ा--"शीघ्रता करो, रेलगाड़ी का समय हो रहा है।"

आदेश सुनते ही १२ सत्याग्रहियों का जत्था स्वामी सदानन्द जी (पूर्व श्री काशीराम जी) की अध्यक्षता में चल दिया। नया बाजार होता हुआ दीवान हाल पहुंचा। वहाँ से जलूस के रूप में चांदनी चौक से गुजरता हुआ, स्टेशन आया। स्टेशन पर आचार्य जी ने तथा श्री पं० व्यासदेव जी शास्त्री आदि कई महानुभावों ने सत्याग्रहियों को सम्बोधित किया व कर्तव्य के प्रति सचेत करते हुए आशीर्वाद दिया।

सत्याग्रही गाड़ी में सवार हुए और आचार्य जी, अन्य छात्रों व जनता के सजल नेत्रों से विदा पाकर उनकी आंखों से ओझल हो गये। इस समय हृदय की दशा का अनुमान लगाना कठिन ही नहीं, असम्भव था।

इस गाड़ी से हम रेवाड़ी पहुँचे। जैसे ही पहुंचे कि रेवाड़ी आर्य-

---

* स्वतन्त्रता सेनानी, समना सराय, शेरकोट, जि० बिजनौर

समाज के कार्यकर्त्ता जय-जयकार करते हुए स्वागत के लिए उमड़ पड़े। फूल मालाओं से सब सत्याग्रहियों को लाद दिया तथा मिठाई के डिब्बों द्वारा सब का सम्मान किया। यहां से नारनौल पहुँचे, तो वहां भी स्टेशन जनता से खचाखच भरा था। जलूस के साथ हम सब नई मण्डी पहुँचे। यहां पर भोजन करने के पश्चात् फिर जलूस निकला। आर्यसमाज मन्दिर गये। रात को प्रवचन व उपदेश हुआ। यहां से रात की ३ बजे की गाड़ी से हम प्रातः जयपुर पहुँचे। हम सब सत्याग्रहियों को बग्गी में बिठाकर बाजारों में घुमाते हुए आर्यसमाज मन्दिर ले गये। जयपुर की प्रशंसा बहुत सुनी थो। हम सब घूमने गये तथा रामनिवास बाग, अजायब घर, सावन भादों तथा गुलाबी शहर के बाजारों का अवलोकन किया।

यहां से हम अजमेर पहुंचे। स्टेशन पर ही बैंडबाजों तथा जयकारों से स्वागत हुआ। यहां पर भी समाज में भाषणादि हुए। शहर के प्रसिद्ध स्थान, जैनियों की चित्रशाला, चिश्ती के दरगाह, तथा वह स्थान देखा जहां पर संसार को नई चेतना व ज्ञान का प्रकाश देने वाली अनन्य ज्योति (ऋषि दयानन्द) का निर्वाण हुआ था। यहां ५ अप्रैल तक रहे। फिर ६ अप्रैल को ब्यावर, ७ को आबूरोड होते हुए ८ अप्रैल को अहमदाबाद पहुंचे। यहाँ पर गुजराती भाषा का जोर था। प्रचार करते हुए हम ९ अप्रैल को आनन्द पहुंचे। यहां आर्यप्रतिनिधि सभा गुजरात का कार्यालय है। यहाँ भी खूब प्रचार हुआ।

यहाँ से १० अप्रैल को बड़ौदा पहुंचे। कन्या गुरुकुल बड़ौदा का वार्षिकोत्सव हो रहा था। अतः हमारा जत्था कन्या महाविद्यालय में ही ठहराया गया। यहाँ की स्नातिकाओं में एक भील लड़की भी स्नातिका बनी थी। ११ अप्रैल को बड़ौदा की सैर की तथा चिड़ियाघर आदि देखे। प्रो० मानिकराव का अखाड़ा देखा जिसकी मिट्टी में इत्र की गन्ध बसी थी।

बड़ौदा से सूरत पहुंचे। वह कोठी भी देखी जिसमें अंग्रेज आकर सबसे पहले ठहरे थे। यहां से नवसारी, फिर बलसाड़ होते हुए १५ अप्रैल को बम्बई पहुंचे। काकड़वाड़ी, गिरगांव को आर्यसमाज में ठहरे। यहां ३-४ दिन रुके। चौपाटी पर विशेष जलसा हुआ, जिसमें बड़े-बड़े नेता, महात्मा संन्यासी आदि के उपदेश हुए। कुंवर सुखलाल के भजन के वे शब्द आज भी याद हैं। उन्होंने हैदराबाद सत्याग्रह को लक्ष्य करके कहा था— "तुम्हारी मदद नहीं चाहते हम गांधी"। इन शब्दों को कई बार दुहराकर फिर आह्वान किया—"मगर यह तो कह दे, बुरा हो रहा है।" इस पर

बहुत जोर से तालियों की गड़गड़ाहट हुई थी।

यहां से हमारा जत्था बिजली की ट्रेन से पूना गया। मार्ग में कई गुफाओं में से ट्रेन निकली। वहां भी खूब स्वागत हुआ। प्रचार के बाद जत्था अन्तिम मंजिल शोलापुर पहुंचा।

यहां हजारों सत्याग्रही थे। रियासत की अलग-अलग सीमाओं पर सत्याग्रह करने की योजना थी। चतुर्थ सर्वाधिकारी राजगुरु धुरेन्द्र शास्त्री के नेतृत्व में १०० सत्याग्रहियों का जत्था वार्शी गया। वहां से २१ की रात को हमने तुलजापुर में सत्याग्रह किया।

हम से पूर्व यहां पर सत्याग्रहियों पर लाठी चार्ज किया गया था, जिसकी निन्दा उस समय के सब समाचार-पत्रों में की गई थी। पुलिस वाले दोपहर को हमें पैदल ही तुलजापुर थाने में ले गए। धूप व गर्मी से सब बहुत परेशान हुए। परन्तु कुछ कहने पर गालियों की बौछार के सिवाय कुछ न मिला। रात को वहीं थाने में रहे। खाने को कुछ न मिला। अगले दिन २३ अप्रैल को नलदुर्ग भेजा गया।

२४ अप्रैल से कचहरी लगी। मनमाने जुर्म लगाकर २५ अप्रैल को हम सब को एक-एक वर्ष की सख्त सजा सुनाई गयी। अपने हाथों से खाना बनाना पड़ा, क्योंकि उनके पास रसोइये नहीं थे।

२६ को शाम को उस्मानाबाद की जेल में पहुंचे। रात नौ बजे हम ने पहली बार जेल के दर्शन किए। यहीं पर आटा पीसने की चक्की चलायी। हाथों में छाले पड़ गए। परन्तु चक्की से बीस सेर पीसने को बाध्य किया गया। हाथों पर कपड़ा बांध कर येन-केन-प्रकारेण ज्वार पीसी। यहां से ३ मई को औरंगाबाद जेल में भेजा गया। जेल के बाहर रात बितायी। उस दिन चन्द्र ग्रहण था।

यहां की कई घटनाएँ स्मरण-पथ पर अंकित हैं। जैसे—जेलर द्वारा सत्याग्रही को पीटना, चम्पू (टीन का गिलास)-सत्याग्रह, ७८३ सत्याग्रहियों के साथ महाशय कृष्ण जी का औरंगाबाद पहुंचना, भोजन न मिलना, सत्याग्रहियों के शोर करने पर खतरे की घंटी बजना, सिपाहियों के दल का आना एवं लाठी चार्ज करके सब सत्याग्रहियों को बैरकों में बन्द कर देना, सवेरे शौचादि के लिए भी न खोलना, भूख-प्यास से तड़प कर अनेक सत्याग्रहियों का बेहोश हो जाना—आदि घटनाएँ उस समय के अत्याचारों की रूपरेखा प्रकट कर देती हैं। कुछ घटनाएँ उसी समय इस प्रकार छन्दोबद्ध की थीं—

सब से पहला दिन था वह जब हाथ में चक्की दयी।
इसीलिए यह देह अपनी स्वेद से थी तर भयी।।
पट पटापट, पट पटापट स्वेद गिरता देह से।
जल बरसता भूमि पर है जिस तरह कि मेह से।।
हाथ में छाले पड़े थे, पीसना दुश्वार था।
बांधकर हाथों में कपड़ा, पीसा सारा ज्वार था।।

इसके साथ ही खाने में कंकर-पत्थर, यहां तक कि कांच भी रोटी में दिया गया। रोटी ज्वार की जली या कच्ची मोटी दी जाती थी जिस पर यह कहावत चरितार्थ होती थी—

अमीरो आपके कुत्ते जिसे हरगिज न खायेंगे।
असीराने वतन वे रोटियां हंस-हंस के खाते हैं।।

क्या करें, मजबूरी थी। पेट की ज्वाला को किसी प्रकार तो शांत करना ही था। लिखने को तो अनेक घटनाएँ हैं। यह तो थोड़ा सा नमूने के तौर पर लिखा है।

अन्त में हजारों सत्याग्रहियों के जेल पहुंचने पर निजाम पर दबाव पड़ा। तथा सन्धि हो जाने पर ९ अगस्त को सत्याग्रह समाप्त हो गया। हम भी १७ अगस्त को जेल से छूट गए।

बहवो पंगवोऽपीह नराः शास्त्राण्यधीयते।
विरला रिपुखड्गाग्रधारापात-सहिष्णवः।।

इस लोक में बहुत से विकलांग मनुष्य भी शास्त्रों का अध्ययन कर लेते हैं। किन्तु शत्रु की तलवार के अग्रभाग का वार सहने वाले लोग विरले होते हैं।

गुरुकुलीय जीवन की स्मृतियां

—विश्वदेव शास्त्री*

संभवतः १९३८ में मुझे गुरुकुल श्री दयानन्द वेद विद्यालय में प्रविष्ट कराया गया था। उस समय गुरुकुल यमुना के निगमबोध घाट पर स्थित था। आज भी जब वहां से गुजरता हूं तो गुरुकुल की पाकशाला के समीप स्थित छोटा सा मन्दिर, जो अपने पूर्व रूप में ही विराजमान है, उस काल की याद दिलाता है। हमारा गुरुकुल सोमदत्त की पाठशाला के साथ ही स्थित था। उनकी प्रातः-सायंकालीन तुलसी जी की आरती याद आती है। जब वे गाते थे—'तुलसी महारानी नमो नमः। हर की पटरानी नमो नमः।' गुरुकुल के पूर्व द्वार से निकलकर दक्षिण की ओर साथ में नाला बहता था। उसकी पुलिया पर पड़े याचकों की पुकार—'राम भजो आराम मिलेगा। सुबह नहीं तो शाम मिलेगा।' आज भी स्मृति पटल पर वैसे ही कौंधती है। गुरुकुल प्रवेश के कुछ काल पश्चात् ही मेरा विधानानुसार यज्ञोपवीत हुआ।

याद आते हैं वे दिन जब लाल किले के पीछे स्थित सघन वन में हम शौच के लिए जाया करते थे। वहां गुरुकुल के छात्रों का यवनों से लाठियों से सामना हुआ था। कुछ दिन बाद ही हैदराबाद सत्याग्रह के प्रारम्भ में भव्य जलूस निकाला गया। जलूस पर फतहपुरी मस्जिद से 'अल्लाहो अकबर' के नारे के साथ मुसलमानों का आक्रमण हुआ। जलूस के उसी स्थान पर गुरुकुल के छात्र पंक्तिबद्ध चल रहे थे। अतः उस आक्रमण का सामना गुरुकुल के छात्रों ने अपूर्व साहस के साथ किया। मैं तब आठ वर्ष का ही था। अतः हम छोटे छात्रों को वहीं के हिन्दू लोग अपने कटरों में लिवा ले गए। बाद में हमें गुरुकुल पहुंचा आए। उस काल में अंग्रेज यवनों के ही पक्षधर होते थे। उस लड़ाई में हमारे किसी छात्र को पुलिस ने घेर लिया। उस वीर ने भी चहुंमुखी लाठी चलाकर और लाठी टेक पुलिस के ऊपर से कूदकर घेरे को तोड़ अपने को बचाया था। उन दिनों हमारा परिधान पीले चोलों का हुआ करता था। सुप्रसिद्ध 'दैनिक हिन्दुस्तान' पत्र ने उस घटना के विवरण में लिखा था—"पीले चोले वालों ने कमाल कर दिया।" कुछ ही काल बीता था कि बिड़ला मन्दिर

* वैदिक प्रेस, गली नं० १७, कैलाशनगर, दिल्ली-३१

के उद्घाटन पर पुनः बड़ा भव्य जलूस निकाला गया। जलूस में जब हम जा रहे थे तो चर्खेवालान के निकट यवन गण पुलिस को संकेत करके बता रहे थे कि अमुक-अमुक छात्र थे उस दिन मार पीट करने वाले।

इसी काल में हमारे गुरुकुल का एक वार्षिक उत्सव आर्यसमाज दीवानहाल में मनाया गया। तब यज्ञवेदी पर 'वेदाहमेतं' मन्त्रोच्चारण के साथ आसनों का भव्य प्रदर्शन किया गया। श्लोकों की अन्त्याक्षरी बड़े मधुर मनोहारी गायन पूर्वक हुई थी। एक पक्ष में श्री वैद्य मूलचन्द जी के सुपुत्र श्री महावीर जी थे, जो उन दिनों इसी गुरुकुल के छात्र थे। इनका श्लोक गायन बड़ा ही मनोहारी हुआ करता था।

सायंकाल शौचार्थ हम यमुना के पार जाया करते थे। मुझे तैरना नहीं आता था। अत: जहां पानी अधिक होता, वहां हम उछल-उछल कर यमुना पार करते थे। इन्हीं दिनों मैंने यमुना में उल्टा सीधा तैरना सीखा था। इसी काल में एक छात्र ब्रह्मदत्त घाट के ही नीचे डूब गया। उसे गुरुदत्त नामक छात्र, जो देर तक पानी में रह लेता था, ढूंढ़कर निकाल लाया और डूबने से बचा लिया। यह ब्रह्मदत्त दो भाई थे। पहले गुरुकुल डौरली में पढ़ते थे। प्रवेश के समय सन्ध्या हवन के मन्त्रों का इनका उच्चारण वहुत स्पष्ट, मधुर और अनुकरणीय था। यह व्रह्मदत्त अन्त तक गुरुकुल झज्जर तक हमारे साथ रहा।

भारत वर्ष के सुदूर प्रान्तों -- आसाम, बंगाल तक के छात्र यहां पढ़ते थे। इस समय के छात्रों में श्रो सुरेन्द्र कुमार, श्री विश्वप्रिय, श्री श्रुतिकान्त सब से बड़ी श्रेणी में थे। बाद की श्रेणियों में श्री रूपराम, उपमन्यु आदि थे। इन में श्री हरिशरण जी बड़े साहसी, लाठी कुश्ती आदि में अतीव कुशल थे। सुनते हैं कि ये एक बार यमुना के किनारे घूमते-घूमते सिंहोला ग्राम चले गये। वहां पंजाब के एक प्रसिद्ध पहलवान ने चुनौती का अपना लंगोट दो वार घुमा दिया। जब किसो ने नहीं पकड़ा तो तीसरी बार में इन्होंने उसे पकड़ लिया। लोगों ने इनके शरीर को देखकर बहुत मना किया। परन्तु इन्होंने नहीं माना। कुश्ती हुई और हरिशरण ने पहली ही बार में उसे चित्त कर दिया। इसे आकस्मिक मानकर इस कुश्ती को लोगों ने अमान्य कर दिया। तब कुश्ती दुबारा हुई, इन्होंने फिर उसे पछाड़ दिया। यह जाट वीर बड़ा साहसी था।

इन दिनों लाठी आदि की शिक्षा ठाकुर कर्णसिंह दिया करते थे। ये ही ठाकुर कर्णसिंह जी यूसुफ सराय में भी आकर सिखाया करते थे। सन् १९४३ तक ये ही लाठी, तलवार, धनुष-बाण, गदा आदि के प्रशिक्षक

थे। हरिशरण इनके योग्यतम शिष्यों में से थे। ये शब्द-वेधी बाण व सभी प्रकार के लाठी तलवार आदि में निपुणतम हुए। आगे चलकर ठाकुर साहब का कार्य इन्होंने ही संभाला।

इसके बाद मैं तो अपने ननिहाल चला गया। लौटकर आया तो मेरे पिता पं० धर्मदेव गुरुकुल गदपुरी में अध्यापक हो गये थे। अतएव मैं भी वहीं पढ़ने पहुंचा। कुछ काल उपरान्त पिता जी की सत्यवादिता से किसी बात पर रुष्ट होकर वहां के संस्थापक लाला देवीसहाय जी ने उन्हें गुरुकुल से निकाल दिया। तब सन् १९४० के अन्त में वे गुरुकुल वेद विद्यालय में अध्यापक होकर आ गये। फलतः मेरी शिक्षा भी यहीं प्रारम्भ हो गई। हमारा परिवार भी गुरुकुल यूसुफसराय में ही रहने लगा था।

जब मैं गुरुकुल में पुनः प्रविष्ट हुआ तब गुरुकुल यूसुफ सराय की एक किराये की धर्मशाला में चलता था। सड़क के किनारे ही हमारी श्रेणियां लगा करती थीं, जहां सफदरजंग अस्पताल है। उसके सामने यूसुफ सराय की ओर चलकर एक प्राचीन बावड़ी थी जो बाद में दिल्ली के विस्तार के साथ बन्द कर दी गई है।

कुछ समय बाद गुरुकुल में कुआं बना और एक दो कमरे भी बन गये। तब यूसुफ सराय के मकान से गुरुकुल अपनी भूमि में हो स्थानान्तरित हो गया। इस समय गुरुकुल में गोशाला थी, ऊंट था जो कुंए का रहट चलाकर गुरुकुल की खेती में पानी देने में बड़ा सहायक था। दो घोड़े तांगा चलाने के लिए थे। एक घोड़ा तो ऐसा तीव्रगामी था कि अपने से आगे किसी तांगे को नहीं जाने देता था। उन दिनों गूजरों की लूटमार के कारण सायं ४ बजे से ही रास्ते बन्द हो जाया करते थे। एक दिन गुरुकुल का ऊंट चोरी चला गया। खोज करने पर भी ऊंट वापस न मिला। दुबारा ऊंट लिया गया। वह भी १९४४ में ग्वार या अन्य कुछ खिला देने के कारण भाग निकला। बड़े छात्रों ने पीछा किया। घोड़े पर सवार हो बड़ी मुश्किल से मथुरा के पास से श्री रूपराम उसे पकड़ कर लाये।

गुरुकुल को यूसुफ सराय आये कुछ काल ही बीता था कि हैदराबाद सत्याग्रह के लिए गुरुकुल से पहला जत्था गया। उसके बाद दूसरा जत्था जींद जिले के लूखी ग्राम का भी गुरुकुल की ओर से गया। मैं तब गुरुकुल में तीसरी श्रेणी में पढ़ता था। अतः विस्तृत विवरण नहीं दे सकता। (श्री बुद्धदेव शास्त्री ने अलग लेख में उसका वर्णन किया है।)

जब गुरुकुल के छात्र सत्याग्रह से लौटे तब उनका गुरुकुल में स्वागत

हुआ। पुन: पठन-पाठन संलग्नता से प्रारम्भ हो गया। सम्भवत: 'दयानन्द सन्देश' भी तभी आचार्य जी ने निकालना शुरू किया। 'असिधारा अंक' में महाभारत के शस्त्रास्त्रों के कल्पना-चित्र प्रस्तुत किए गये थे।

सन् १९४२ के लगभग हमारी श्रेणी अष्टाध्यायी के लिए तैयार हुई। उस सत्र में हम ३० छात्र अष्टाध्यायी श्रेणी में बैठे, जिन में श्री मोहनलाल, श्रीकृष्ण, ओमानन्द, कल्याणदेव, जयकान्त, सत्यव्रत, दयाप्रिय, ब्रह्मदत्त आदि छात्र थे। हम से बड़ी श्रेणी महाभाष्य पढ़ने वालों की थी। श्री विश्वप्रिय जी हमें अष्टाध्यायी पढ़ाते थे।

तब गुरुकुल की खेती दक्षिण में शाहपुर की ओर, और उत्तर में सफदर जंग के सामने तक होती थी। जब द्वितीय महायुद्ध का काल आया और भारत पर जापान के आक्रमण की आशंका हो गई तब उस ने दक्षिण में हवाई हमले भी किए थे। सर्वत्र भय व्याप्त था। फलत: गुरुकुल सिंभा-वली (गढ़ से पहला स्टेशन) ले जाया गया। हमें याद है गुरुकुल के छात्र प्रात: दिल्ली से चले। आगे एक घुड़सवार व एक ऊंट सवार, उनके पीछे छात्र दो पंक्तियों में लाठी लिये चले। पीछे तांगा था। पहला पड़ाव पिल-खुवा के आसपास कहीं किया गया। पुन: अगले दिन सिंभावली पहुंचे। वहां पहुंचकर आगे दो घुड़सवारों और पीछे दो पंक्तियों में छात्रों ने सिंभा-वली में प्रवेश किया। सिम्भावली के महन्त के निवास तक हम जलूस के रूप में गये। वहां पहुंचकर आर्यसमाज का प्रचार किया। भजनोपदेशकों के भजन व उपदेश हुए। कुछ काल तक गुरुकुल स्टेशन के साथ की बगीची में चलता रहा। वहां नियमित पठन-पाठन चला। कुछ समय के बाद गुरु-कुल वहां से बुकलाना ग्राम के चौधरी अहोराम सिंह की कोठी में आ गया, और वहीं रहा। शीतकाल के आरम्भ में मलेरिया का प्रकोप चला। हमारा परिवार भी गुरुकुल के साथ ही रहता रहा। शीतकाल में प्रात: शौचार्थ खेतों में जाते समय पैरों में मच्छर काटते थे। उस से बचने के लिए मैंने भी बुखार का बहाना किया। मलेरिया के उपचार की दवाई मुझे भी दी जाने लगी। मेरा यकृत् ठीक काम नहीं कर रहा था। खड़े होकर अंगड़ाई लेने पर आंखों के आगे अंधेरा छा जाता था। एक वार नहर के किनारे छुट्टी के दिन गुरुकुल के छात्रों की वाग्वर्धिनी सभा हुई। श्राद्ध जैसे विषय पर आपस में शास्त्रार्थ हुआ। शास्त्रार्थ में आर्यसमाज के विरुद्धवादी का पक्ष हावी रहा। वहां के प्रधान श्री अहोराम सिंह भी सभा में थे। वे विपक्ष के वाद से प्रभावित हुए। बाद में श्री आचार्य जी ने समाधान पक्ष रखकर उस प्रभाव को निर्मूल किया।

इन्हीं दिनों कांग्रेस का 'करो या मरो' आन्दोलन चला। गुरुकुल के बड़े छात्रों ने भी उसमें भाग लिया। उस क्षेत्र के थानेदार ने आकर आचार्य जी से शिकायत भी की। जापान के हमले का भय समाप्त होने पर पुनः गुरुकुल दिल्ली आ गया।

मेरे पिता जी गुरुकुल के प्रचारार्थ उपदेशकों के साथ बाहर जाया करते थे। प्रातः ही चले जाते, १०-१२ बजे तक आकर भोजन करते। कभी पृथ्वीसिंह बेधड़क आदि भजनोपदेशकों को लेकर प्रचारार्थ जाते। प्रदेश के सभी स्थानों के लोगों से उनका अच्छा परिचय हो गया। अतः पिता जी सपरिवार बुकलाना गुरुकुल की सेवा में ही रहे। मैं अपनी श्रेणी के साथ दिल्ली आ गया। दिल्ली गुरुकुल में पुनः सक्रियता आ गई। कभी-कभी एकाध क्रान्तिकारी आकर गुरुकुल में आश्रय लेते रहते थे।

अपूर्व शिक्षक आचार्य श्री

आचार्य जी छात्रों को आर्यसमाज के सिद्धान्तों की मार्मिक शिक्षा दिया करते थे। आर्यसमाज के प्रचारार्थ छात्रों को नैष्ठिक ब्रह्मचारी बनने की प्रेरणा देनी आरम्भ की गई। इस काल की शिक्षा में जिन बातों की विशेष शिक्षा दी गई, वे हैं—१. स्वयं व्यक्तिगत सन्ध्या हवन करना। २. भोजन में नमक का त्याग। ३. जितेन्द्रिय होना—यथा भोजन में पहले दाल, शाक फिर अन्न का ग्रहण। ४. ईश्वर पर दृढ़ विश्वास। ५. दैनिक दैनन्दिनी भरना यथा—आज के दिन कितनी बार असत्य बोला आदि। ६. भिक्षा-चरण, प्राचीन आश्रम परम्परानुसार गांवों में जाकर भिक्षा लाना। ७. खाली मन शैतान का घर, अतः खाली समय में गायत्री-जाप करना। ८. संस्कृत में ही संभाषण करना। ९. सदा नीचे ही देखकर चलना। १०. व्यायाम प्रतिदिन करना। ११. भगवानदेव (स्वा० ओमानन्द) जी के अनुकरण पर शीतकाल में भी वस्त्ररहित भ्रमण का प्रयास करना। १२. कुरान आदि की मौलवी द्वारा शिक्षा। १३. प्रारम्भ में श्री ब्रह्मदत्त जिज्ञासु द्वारा प्रचलित परीक्षाएं बाद में अपना ही आर्ष विश्वविद्यालय बनाकर परीक्षाएं दिलाना। १४. मल्ल विद्या की शिक्षा एवं लाठी, तलवार, गदा, धनुष-बाण आदि की व्यवस्था। १५. यज्ञोपरान्त सस्वर दैनिक वेदपाठ, स्वराज्य सूक्त का पाठ आदि। १६. अष्टमी, अमावस्या, पूर्णिमा के अवकाशों पर निबन्ध, कविता, अष्टाध्यायी के सूत्र और श्लोक आदि की अन्त्याक्षरी, व्याकरण के वाद-विवाद करने की शिक्षा। १७. कभी कभार बाहर की पाठशालाओं में भी शास्त्रार्थ के लिए भेजना। १८. व्यासदेव जी शास्त्री और

रामचन्द्र जी देहलवी के शास्त्रार्थों को सुनने का अवसर देना। १६. गर्मियों एवं शीतकाल में नंगे पैर ही चलना। २०. शाहपुर के पहलवान गुरुकुल में आकर दाव पेच सिखाते, इस प्रकार मल्ल विद्या की शिक्षा दी जाती। २१. श्रावणी पूर्णिमा—पर विशेष उत्सव का आयोजन किया जाता। छात्रों को स्वाध्याय की विशेष प्रेरणा दी जाती। इसी प्रेरणा से मैंने सन् १९४३ में मनुस्मृति का विशेष स्वाध्याय किया। बाद में गुरुकुल के पुस्तकालय से मृत्यु और परलोक, शिवराज विजय, घेरण्ड संहिता, धनुर्वेद संहिता, आदि अनेक पुस्तकों का पारायण किया। २२. बड़ी श्रेणी के छात्र छोटी श्रेणी के छात्रों को पढ़ाते। इस प्रकार विद्या की वृद्धि में सहायता मिलती और अध्यापकों की कमी भी न अखरती।

इस प्रकार शिक्षा देकर सादा जीवन और उच्च विचारों के भाव छात्रों को दिये जाते थे। उपर्युक्त सभी विवरण छात्र जीवन की डायरी से यहां दे रहा हूं। उस काल के आदर्शपूर्ण गुरुकुल वातावरण को देखता हूं तो आज ऐसा कोई भी गुरुकुल दिखाई नहीं देता।

गुरुकुल पुस्तकालय से योग विषयक, 'ध्यानयोग प्रकाश' 'घेरण्ड संहिता' आदि योग साहित्य की पुस्तकें पढ़ कर मेरी योग की ओर रुचि हुई। उस काल की प्रेरणा का ही फल है कि मैं उसी समय से लगभग तीन बजे ब्रह्म मुहूर्त में उठने का अभ्यस्त हो गया हूं। वह अभ्यास आज भी पूर्ववत् है। शिक्षाकाल में अष्टाध्यायी का सार्थक सोदाहरण पाठ प्रातः काल से भोजनपूर्व तक करके ही भोजन करते थे।

गुरुकुल बुकलाना से मैं अस्वस्थ अवस्था में दिल्ली आया था। मेरे हाथ आदि पर मस्से थे। उपचार करने पर भी जाते न थे। हमें व्यायाम की ओर प्रेरित किया गया। आदर्श के रूप में राव तुलाराम के परिवार के श्री रुद्रदेव का उदाहरण दिया जाता। वे नियमित व्यायाम से कुछ ही समय में ५ फुट से बढ़कर ६ फुट के और शरीर में भी दोहरे हो गये थे। राममूर्ति आदि पहलवानों के उदाहरण दिये जाते। **'व्यायामात् वर्धते गात्रम्। व्याधिर्नास्ति कदाचन।'** 'व्यायाम से शरीर बढ़ता है, कोई रोग पास नहीं आता।' आदि के प्रमाण देते। फलतः व्यायाम की ओर ऐसी रुचि हुई कि १०-५ दिन के ही व्यायाम से सारे मस्से खतम हो गये। हम प्रातः शौच के पश्चात् सफदरजंग से हवाई अड्डे तक दौड़ते जाते, वहां से दौड़ते हुए ही वापस गुरुकुल पहुंचते। आकर दण्ड बैठक करते। कुश्ती भी नियमित रूप से करते। मेरे साथी उन दिनों यूसुफ सराय के बड़े भूमि-

पति पं० चुन्नीलाल के सुपुत्र ज्ञानप्रकाश होते थे। उसके बाद श्री यशपाल दौड़ आदि में साथी बने।

हमें शिक्षा दी जाती थी कि ब्रह्मचारी को जितेन्द्रिय होना चाहिए। अतः अच्छे सुरीले भजनोपदेशकों के भजनों के बीच में से ही उठाकर हमें किसी कार्य पर भेज दिया जाता और कहा जाता—क्या तुम कानों के दास हो ? इसी प्रकार भोजन में भी दाल शाक पहले खाओ, पीछे रोटी खाओ, या पहले रोटी खा लो, पीछे दाल शाक खाओ। ब्रह्मचारी को नमक नहीं खाना चाहिए। फलतः उस समय नमक-त्याग का व्रत लिया गया। यह व्रत मैंने ४६ में गुरुकुल छोड़ने के बाद घर पर भी निभाया। बाद में घर वालों के बहुत विरोध और असुविधा को देखते हुए यह व्रत तोड़ा। ऐसे ही हम ने हंसते-हंसते तुरन्त रुकने का भी अभ्यास किया।

इसी प्रकार जितेन्द्रिय बनने के लिए एवं मन को वश में करने के के लिए प्राणायाम करने की प्रेरणा दी जाती थी।

उत्सव से पूर्व ठाकुर कर्णसिंह जी, लाठी, तलवार, भाला, गदा, धनुष-बाण आदि का प्रशिक्षण देते। छात्रों में श्री हरिशरण इन शस्त्रास्त्रों में निपुण हो गये थे। वे आंख बांधकर शब्द वेधी बाण चलाकर लक्ष्य वेध कर देते थे। गुरुकुल में एक प्राचीन **'धनुर्वेद संहिता'** की प्रति थी। उस में दिये व्यूहों के अनुसार छात्रों के दो वर्ग बनाकर आक्रमण-प्रत्याक्रमण की विधि सिखाई जाती। सैनिक अनुशासन होता था। रात्रि को खतरे की घंटी बजे तो ५ मिनट में सावधान और सन्नद्ध हो जाना पड़ता था।

अपूर्व संगठन-कौशल

आचार्य जी ने इतना अपूर्व संगठन किया कि गुरुकुल के बड़े छात्र सुदूर गांवों तक भी लाठी चलाना सिखाने जाया करते थे। श्री बुद्धदेव आदि कुछ छात्र तो दोनों हाथों से भी लाठी और तलवार चलाया करते थे। ऐसी व्यवस्था की गयी थी कि गुरुकुल की खतरे की घंटी सुनकर यूसुफ सराय और मस्जिद मोठ आदि पास के गांवों के चौकीदार दौड़कर अपने गांव की सीमा पर जाकर बिगुल बजायें। उस बिगुल को सुनकर अगले गांव के चौकीदार अपने अगले गांव के लिए बिगुल बजायें और गांव की रक्षार्थ कुछ युवकों को छोड़कर ८-१० गांव थोड़ी ही देर में एकत्र हो जायें।

याद आती है इसी काल की एक घटना। यूसुफ सराय के एक लाला

ने रात को आकर आवाज दी। गुरुकुल की घण्टी बजी और बड़े छात्र तैयार होकर यूसुफ सराय पहुंच गये। वहां पहाड़गंज से आये खलीफा और तीन तांगों में भरकर आये यवनों से हुए युद्ध में उनका खलीफा हरिशरण जी द्वारा मारा गया। तब शेष तांगे में चढ़ सिर पर पांव रख कर प्राण बचाकर भाग गये। इस प्रकार उस लाला की बहिन की रक्षा उस समय हो गई। वे गुण्डे उस बहिन का ही अपहरण करने आए थे, क्योंकि वह अत्यन्त रूपवती थी।

शस्त्रास्त्र शिक्षा के इस काल में छोटे छात्रों को भी रात्रि में भाला हाथ में देकर पहरे पर नियत किया जाता था। पहले डराते भी थे। कहते, अरे तुम्हें ईश्वर पर विश्वास नहीं, तभी डरते हो। उस समय की शिक्षा में सिखाया गया एक भजन याद आता है—'परवाह नहीं जब रक्षक जगदीश्वर हो।' इसी से अनुप्राणित हो हम रात में पहरा देते थे। दो एक बार बड़े छात्रों ने चोरों का पीछा करके उन्हें पकड़कर पीटा भी था।

अपूर्व प्रचारक

उत्सव से पूर्व यूसुफ सराय आदि ग्रामों में प्रचार किया जाता था। स्वयम् आचार्य जी रात्रि को कथा करते। गुरुकुल के समीपवर्ती मुनीरका के रास्ते में पड़ते मुहम्मदपुर आदि गांवों में प्रचारार्थ मुझे भेजा गया। गुरुकुल के उत्सव पर रिंग आदि के व्यायाम, आसनों के भव्य प्रदर्शन, लाठी आदि के प्रदर्शनों के साथ किये जाते। ये प्रदर्शन इतने मनोरञ्जक होते कि इन्हें देखकर गांवों के भंगी आदि भी बढ़चढ़ कर गुरुकुल को दान देते और उत्सव में भाग लेते।

गुरुकुल के उत्सवों पर लीलावती गणित के माध्यम से आशु गणित, आशु कविता एवं नाड़ी बन्द कर लेने आदि के प्रदर्शन भी कराये जाते थे। महात्मा लटूर जैसे अपूर्व प्रचारकों का प्रचार होता जो यूसुफ सराय में चलते सांगों को भी फीका कर देता। झज्जर को जब शाखा के रूप में बनाया गया, तो वहां के पहले उत्सव पर गुरुकुल से कुछ छात्रों की पद-यात्रा द्वारा ग्राम-प्रचार भी कराया गया था। हम कुछ छात्र दिल्ली से झज्जर तक पैदल ही गये थे।

गुरुकुल के उत्सव पर दंगल में मुनीरका के पहलवान मुन्शी एवं शाहपुर के पहलवान जगन्नाथ कुश्तियों के निर्णायक हुआ करते थे।

एक बार गुरुकुल के पश्चिम में, यूसुफ सराय से चलकर मुनीरका गांव में यजुर्वेद पारायण यज्ञ कराया गया। यज्ञ के साथ-साथ आचार्य जी

का प्रवचन होता।

बाद में हम अपनी श्रेणी के साथ गुरुकुल झज्जर चले गये। हमारे शिक्षक रूप से श्री विश्वप्रिय जी भी झज्जर आये। आगे की हमारी पढ़ाई झज्जर में ही चली। भोजन की अव्यवस्था से मैं झज्जर छोड़कर घर आ गया।

घर आकर मैंने सरकारी परीक्षाएं, नव्य व्याकरण से ४ वर्ष की संपूर्ण मध्यमा परीक्षा और फिर शास्त्री, आचार्य परीक्षा वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय से दीं। श्री यशपाल मेरे साथ ही परीक्षाएं दे रहे थे। गुरु-कुल में भी कुश्ती और दौड़ के ये हमारे साथी थे। सन् १९६० के लगभग गुरुकुल में पढ़ाने के लिए आचार्य जी ने मुझे बुला लिया। वहां से गुरुकुल बुकलाना एक वर्ष तक रहा। फिर पांच वर्ष प्रधानाचार्य रूप से टटेसर, जौन्ती में रहा। पुनः आर्यसमाज दीवानहाल में २-३ मास पुरोहित रहकर 'साधु आश्रम' अलीगढ़ पढ़ाने चला गया। बाद में सब छोड़कर घर आ गया। २-३ वर्ष राजपाल एण्ड सन्स में पुस्तक-संशोधन का कार्य कर 'वैदिक प्रेस' नाम से सन् ७१ में अपना निजी प्रेस खोल लिया।

यों जीवन की पुरानी स्मृतियों की पिटारी खोलता हूं तो स्मृतियों का अम्बार लग जाता है। पर कहीं तो इति करनी होगी। इसलिए मेरे जीवन को सुपथ पर चलाने वाले आचार्य-श्री के चरणों में प्रणतिपूर्वक प्रणाम करके प्रभु से इस प्रार्थना के साथ बस करूं कि आचार्य-श्री का आशीर्वाद चिरकाल तक हम सब को मिलता रहे।

अरी ओ जीवन स्मृतियो !

अरी ओ जीवन स्मृतियो, अपनी याद बनाये रखना,
अपनी पावन आभा से, अनुप्राणित ही करते रहना।
तुम से अनुभावित होकर, सीखें सब सुपथ गामी संभलना,
जीवन सफल करें अपना, आदर्श बनें भावी जन गण के ॥
वे दिन भी कितने सुन्दर थे, जब जीवन में बचपन था,
बे फिक्री थी, सुखमय बीता करता जीवन का हर क्षण था।
यौवन आया, अरु बीता, बूढ़ेपन ने आकर डेरे डाले,
साथ भला देंगे कब तक ये, अभिराम देह के अंग निराले ॥

आर्ष विद्या के प्रसार में निरत आचार्य प्रवर

—श्री राजवीर शास्त्री*

आर्ष-शिक्षा के प्रसारकों में आचार्य श्री राजेन्द्र नाथ शास्त्री का नाम अग्रगण्य और बड़े आदर के साथ लिया जाता है। आपने अपने जीवन का सब से अधिक मूल्यवान् यौवन का समय भौतिक ऐश्वर्यों को त्याग कर दृढ़-संकल्प एवं लगन से आर्ष-शिक्षा की संस्थाओं के निर्माण और अध्ययन-अध्यापन में ही व्यतीत किया है। दिल्ली में श्रीमद्दयानन्द वेद-विद्यालय की स्थापना करके गुरुकुल बुकलाना (मेरठ), गुरुकुल खेड़ाखुर्द (दिल्ली) इत्यादि शिक्षण संस्थाएं आपकी प्रेरणा के ही मूर्त्त केन्द्र बनी थीं। आपके शिष्यों में ही ऐसे योग्य व्याकरणादि शास्त्रों में पारंगत विद्वान् स्नातक हुए, जिन्होंने प्रारम्भ में यमुना के किनारे पर कुटिया में विद्याभ्यास करते हुए पौराणिक विद्वानों को शास्त्रार्थादि में कांदिशीक बना दिया था। कालान्तर में दयानन्द भिक्षुक-मण्डल की दीक्षा लेकर वैदिक-धर्म के प्रचार में तथा गुरुकुल झज्जर, गुरुकुल वार्शी (शोलापुर) आदि संस्थाओं के आचार्य बनकर आर्ष शिक्षा को फैलाते रहे, और कुछ तो अब भी उसी परम्परा में अक्षुण्ण रूप से चल रहे हैं। मैं भी उसी परम्परा में चलने वाले गुरुकुल का एक स्नातक हूं और आचार्य प्रवर की कठोर तपस्या, त्याग तथा महर्षि-भक्ति से भलीभांति सुपरिचित हूं।

यथार्थ में आचार्य जी का सम्मान महर्षि के मन्तव्यों का ही सम्मान है और महर्षि मन्तव्यों का सम्मान ही वैदिक सिद्धान्तों का सच्चा प्रचार व प्रसार है। क्योंकि महर्षि के आगमन से पूर्व वेद भी थे तथा वेदों के विद्वान् भी थे, किन्तु उनमें ऋषित्व बुद्धि नहीं थी। अतः वैदिक ज्योति निस्तेज बन गई थी। महर्षि ने प्राचीन समस्त ऋषियों के मन्तव्यों को समझ कर पुनः वैदिक ज्योति को प्रज्वलित किया। अतः महर्षि पर जिसकी श्रद्धा नहीं है, वह कितना भी बड़ा विद्वान् हो जाये, वह अविद्वान् ही बना रहता है।

---

* सम्पादक, दयानन्द सन्देश

मुझे भी आचार्य चरणों में बैठकर पढ़ने का सौभाग्य तो कम ही मिला, किन्तु सन् १९४६ से आपके जीवन तथा शिक्षा से अवगत रहा हूं। आप एक वैश्य-परिवार में जन्म पाकर भी सच्चे विरक्त ब्राह्मण बने, यह एक गौरव की बात है। आपके गुरुकुलीय अवैतनिक जीवन को स्मरण करके सुदामा के विषय में कही कविता का पद अनायास ही स्मरण आ रहा है—

शिक्षक हों सगरे जग के पिय ताको कहा अब देती हैं शिक्षा।
जे तप ते परलोक सुधारत सम्पत्ति की तिनको नहीं इच्छा॥
औरन को धन चाहिए बावरो ब्राह्मण को धन केवल भिक्षा।
मेरे हिये हरि के पद पंकज बार हजार न देखू परीक्षा॥

स्वभाव से साधु आचार्य वर सूझबूझ के धनी, व्याकरणादि शास्त्रों के उद्भट विद्वान्, विमल-प्रतिभा के सरोवर, सरस्वती के आराधक तथा स्वाभिमान के पुंज हैं। आप छात्र-वर्ग के परम हितैषी एवं उनके हृदय को जीतने वाले हैं। आपकी अध्यापन शैली अतीव रोचक एवं हृद्य होती थी। आप एक अच्छे लेखक व कुशल प्रवक्ता भी हैं। 'दयानन्द-सन्देश' पत्रिका के आद्य-सम्पादक आप ही थे। आपके सम्पादकत्व में प्रकाशित पत्रिकाएं मैंने स्वयं देखी और पढ़ी हैं। महर्षि की भक्ति व विद्वत्ता प्रत्येक पंक्ति से छलकती रहती थी। आप सरल स्वभाव के होने से तथा सच्चे ब्राह्मण की वृत्ति अपनाने के कारण ही प्रेस आदि व्यापार के कार्यों में सफल नहीं हो सके और सदा ही आर्थिक हानि सहते रहे। गृहस्थ का भार यदि सती साध्वी मान्या धर्मपत्नी नहीं सम्भालती तो पारिवारिक जीवन पता नहीं कितना कष्टमय बन जाता। परमेश्वर पर सच्ची आस्था, महर्षि पर अनन्य विश्वास और संकल्प की दृढ़ता ही यथार्थ में आप का सच्चा धन था। गुरुकुल की दयनीय स्थिति, और गृहस्थ जीवन चलाने के लिए आर्थिक साधनों का अभाव होते हुए भी आप के मुख पर कभी निराशा की रेखाएं नहीं देखी गईं। यह देखकर संस्कृत की सूक्तियां स्मरण आती हैं—

मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम् ॥१॥
न प्राणान्ते प्रकृतिविकृतिर्जायते चोत्तमानाम् ॥२॥
न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥३॥

गृहस्थ का उत्तरदायित्व बढ़ने पर आपने गुरुकुल के कार्य से विरक्ति तो नहीं ली, किन्तु समय के अभाव में गुरुकुल का उत्तरदायित्व दूसरों को सौंप दिया। किन्तु जो श्रद्धा वैदिक सिद्धान्तों पर बन चुकी थी, उसमें

लेश मात्र भी अन्तर नहीं आने दिया। और कालान्तर में गृहस्थ से भी विरक्त होकर संन्यास-धर्म की दीक्षा ले ली और जीवन का अन्तिम समय योग-साधना और परमेश्वर की भक्ति में ही बिताने लगे। इस आश्रम में भी प्रवेश पाकर अनेक स्थानों पर योग-धामों की स्थापना करके निष्काम भाव से महर्षि के सुखद व कल्याणप्रद आध्यात्मिक विचारों के प्रचार व प्रसार में ही लगे हुए हैं। प्रभु से प्रार्थना है—वे भविष्य में भी दीर्घायु बने रहें और हमारा पथ प्रदर्शन करते रहें।

आचार्य प्रवर के दो अमूल्य ग्रन्थ

सत्यार्थप्रकाश के संशोधनों की समीक्षा

महर्षि दयानन्द के समस्त ग्रन्थों में उनके अमर-ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' का विशेष महत्त्व है। कतिपय आर्य विद्वानों ने महर्षि के इस अमर ग्रन्थ को सरल व सुबोध बनाने के नाम से इस ग्रन्थ में पाद-टिप्पणी के अतिरिक्त महर्षि के मूल पाठ में परिवर्तन, परिवर्धन, संशोधन, ऋषि संदर्भों को आगे पीछे करने तथा सुबोध बनाने के नाम से कोष्ठान्तर्गत पाठ परिवर्धन आदि तथा आधुनिक भाषा परिमार्जन के नाम से महर्षि के मूल लेख को ही अस्त-व्यस्त करने का दुस्साहस किया था। महर्षि ने अपने ग्रन्थों का उत्तराधिकारी परोपकारिणी सभा अजमेर को बनाया था। किन्तु कापी राइट का अधिकार समाप्त होने पर महर्षि के ग्रन्थों को अनेक प्रकाशकों ने छापना आरम्भ कर दिया। ऐसे निरंकुश समय में संशोधनों की एक बाढ़ सी आ गई जिनमें, श्री स्वामी वेदानन्द जी तीर्थ, श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक, श्री उदयवीर जी शास्त्री तथा श्री पं० भगवद्दत्त जी जैसे प्रमुख विद्वान् शामिल थे। आर्य-जगत् के दिग्गज एवं ख्याति-प्राप्त इन विद्वानों ने जो कुछ भी संशोधन के नाम पर कार्य किया, चाहे उनके पीछे उनके हृदय में कुछ अंश में जनहित भी रहा हो, किन्तु उसके पीछे पाण्डित्य का दम्भ भी कार्य कर रहा था, जिसके कारण इन विद्वानों से ऐसी-ऐसी भूलें हुईं जो अक्षम्य थीं। किन्तु इनका प्रतिरोध कौन करे? यह सरल नहीं था। किसी ने कहा कि महर्षि के ग्रन्थ में भाषा की बहुत त्रुटियां रह गई हैं, क्योंकि स्वामी जी की मातृ भाषा गुजराती थी। कोई कहता था कि स्वामी जी के लेखकों की भूलें हैं, क्योंकि वे पौराणिक प्रभाव से प्रभावित थे। कोई कहता था कि स्वामी जी के ग्रन्थ में प्रमाण भाग अपूर्ण व अशुद्ध हैं, क्योंकि स्वामी जी बोलते जाते थे और लेखकों के प्रमादवश वे भूलें हो गईं। कुछ प्रेस के भूतों की गलती बताने का साहस करके अपने संशोधनों

को उचित बताने की डींग हांक रहे थे और अपने इस गलत कदम का समर्थन अधिकतर अनार्ष ग्रन्थों से ही कर रहे थे।

इन विद्वानों के संशोधनों को समझना भी कोई सरल कार्य नहीं था, जिसने आर्षभक्त गुरु चरणों में बैठकर शास्त्रों का विधिवत् अध्ययन न किया हो, जिसने सत्यासत्य की विवेक शक्ति ऊहा को प्राप्त न किया हो और जिसने आर्ष-ग्रन्थों के अध्ययन से अनार्ष-दलदल को नहीं समझा हो, वह व्यक्ति इन विद्वानों के विरुद्ध कलम कैसे उठा सकता था। किन्तु ऋषि को सर्वोपरि मानकर, यश-अपयश के भाव को दूर से ही तिलाञ्जलि देकर और शास्त्रीय विद्या से सत्यासत्य को भलीभांति, ऋषिभक्त, ऊहापोह के प्रखर धनी आचार्य ने अलौकिक साहस का परिचय दिया और समस्त संशोधनपरक प्रकाशनों को इकट्ठा करके तथा महर्षि के मूल लेख से अक्षरश: मिलान कर के एक पुस्तक की ही रचना कर दी, जिसका नाम है, **'सत्यार्थप्रकाश के संशोधनों की समीक्षा'**। ऋषि के एक अन्य भक्त स्व० ला० दीपचन्द आर्य ने इस पुस्तक के प्रकाशन का समस्त व्यय वहन करने का साहस कर दिखाया। प्रस्तुत पुस्तक में नीरक्षीर विवेक न्याय से जो सप्रमाण सत्यासत्य का विवेक किया गया है, उसके अध्ययन से विद्वान् तो समझे ही, किन्तु सामान्य आर्य बन्धु भी इस सत्य प्रकाशक पुस्तक से महर्षि के मूल लेख के महत्त्व को भलीभांति समझने लगे। इस पुस्तक का ही ऐसा अप्रतिम प्रभाव हुआ कि भविष्य में होने वाले ऐसे काल्पनिक संशोधन करने की आंधी शान्त हो गई और अनार्ष ग्रन्थों के प्रभाव से उत्पन्न आर्यों के मन की कालिमा समूल नष्ट हो गई। इस पुस्तक का जिसने भी अध्ययन निष्पक्ष भाव से किया, वह इसकी प्रशंसा मुक्तकण्ठ से करता है। विमति रखने वाले विद्वान् भी आज तक इसका उत्तर नहीं दे सके हैं, तथा मध्यस्थ विद्वान् भी यह मानने को उद्यत हो गये हैं कि मूल लेख से जो आशय निकलता है, वह संशोधित पाठों से नहीं निकलता, प्रत्युत अनेक स्थानों पर अर्थ का अनर्थ और सत्य का असत्य बन गया है। इस प्रकार इस अमूल्य ग्रन्थ के लेखन से समस्त ऋषिभक्तों को आचार्यवर ने प्रायश्चित्त के प्रत्यवाय से बचाकर अतीव पुण्य-भागी बना दिया है।

सिद्धान्त कौमुदी की अन्त्येष्टि—

ऋषि भक्त आचार्य प्रवर ने जिस समय आर्ष-पद्धति से गुरुकुल चलाने का संकल्प मन में धारण किया, उनके समक्ष एक सब से बड़ी समस्या खड़ी हो गई कि वेदों के छः अंगों में व्याकरण का स्थान प्रमुख है

और व्याकरण पढ़ाने की जो पद्धति वर्तमान में प्रचलित है, वह तो अनार्ष है। महर्षि दयानन्द ने अपनी पाठविधि में उसका स्पष्ट निषेध किया है। जगद्गुरु विरजानन्द दण्डी तो अपने शिष्यों से अनार्ष-पद्धति के ग्रन्थों के प्रति अनास्था जगाने के लिए जूते भी लगवाया करते थे। इस अनार्ष-पद्धति में पढ़ने से छात्रों को अत्यधिक श्रम करने पर भी पूर्णत: विषयबोध नहीं हो पाता। अनार्ष ग्रन्थों का पढ़ना तो ऐसा है जैसे पहाड़ खोदना और कौड़ी का लाभ होना और आर्ष ग्रन्थों का पढ़ना ऐसा है, जैसे एक गोता लगाना तथा बहुमूल्य मोतियों का प्राप्त करना। परन्तु आर्ष-पद्धति के अध्यापक तो मिलते नहीं, जिसके कारण गुरुकुल में छात्रों का व्याकरण ज्ञान व पठन-पाठन सम्भव नहीं हो सकेगा। महर्षि के अनन्य भक्त इस आचार्य के समक्ष नवीन गुरुकुल के स्थान की, मकानों की, आर्थिक साधनों की, पढ़ने वाले छात्रों की आदि-आदि समस्याएं परेशान कर रही थीं, वहां अध्यापकों व ऋषि भक्त सहयोगियों का अभाव भी बहुत खटक रहा था। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि भारत की राजधानी दिल्ली में यह महर्षि का दिवाना विषम वातावरण व समस्याओं से जूझने के लिए अकेला ही आगे बढ़ने लगा है। सच ही कहा है—

सोत्साहानां समुद्रोऽपि कुल्यायते, वह्निरपि जलायते च।

अर्थात् उत्साही व्यक्तियों के लिए कुछ भी असम्भव नहीं होता। वे असम्भव को भी सम्भव कर देते हैं। इसी दृढ़ उत्साह व ऋषि भक्ति को हृदय में संजोये आचार्य वर ने कतिपय छात्रों को लेकर ही यमुना किनारे पर्णकुटी बनाकर गुरुकुल की स्थापना कर दी और स्वयं ही छात्रों को आर्ष-पद्धति से व्याकरणादि पढ़ाने लगे। कालान्तर में यमुना के पवित्र परिसर में अनार्ष-पद्धति के पौराणिक विद्यालयों में पढ़ने वाले छात्रों के साथ संवाद आदि के माध्यम से आर्ष-ज्ञान का बाल-सूर्य प्रखर होने लगा। महर्षि दयानन्द के लेख पर दिन दूनी और रात चौगुनी श्रद्धा बढ़ने लगी। उस समय आचार्य वर ने अपने सुयोग्य छात्रों से और स्वयं भी अनार्ष-पद्धति के मूर्धन्य ग्रन्थ सिद्धान्तकौमुदी पर एक पुस्तक की रचना की, जिसमें इस पद्धति के दोषों तथा व्याकरण के सर्वमान्य प्रणेता महर्षि पाणिनि के व्याकरण की लघुता, सरलता, विषय व्यापकता आदि मौलिक विशेषताओं को नष्ट कराने वाले अनर्थों का स्थालीपुलाक न्याय से ही दिग्दर्शन कराया गया[*]। आचार्य वर के इस अमूल्य ग्रन्थ को पढ़ने के पश्चात् तो पक्ष-विपक्ष के विद्वानों की मानो आंखें ही खुल गईं और वे
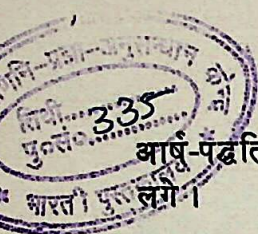
आर्ष-पद्धति से इतने प्रभावित हुए कि अनन्य भाव से इनके सहयोगी बनने लगे।

नामकरण की यथार्थता—

आर्ष-शिक्षा के प्रबल समर्थक आचार्य वर ने आर्ष-ग्रन्थों के विरुद्ध उनके दोषों तथा वैदिक सत्य ज्ञान में एक प्रबल बाधा समझकर उनके विरुद्ध एक आन्दोलन ही खड़ा कर दिया। जैसे महर्षि-दयानन्द की शिक्षा समाप्ति पर गुरुवर ने अपने योग्य शिष्य को यह मूलमन्त्र और एक कसौटी बताई थी—'दयानन्द ! अनार्ष-ग्रन्थों में ऋषियों की निन्दा और वेद विरुद्ध बातें भरी हुई हैं तथा वे पाण्डित्य-प्रदर्शन की भावना से ही दुरूह बनाकर लिखे गए हैं। उसी मूलमन्त्र को आचार्य प्रवर ने भी अपने गुरुवर श्री शुद्ध-बोध तीर्थ से प्राप्त कर उसके प्रचार व प्रसार का व्रत ले लिया था। उनके हृदय में गुरुवर दण्डी की भांति अनार्ष शिक्षा के प्रति विद्रोह की अग्नि दहक रही थी। अध्ययन-अध्यापन के माध्यम से अपने छात्रवर्ग में भी उसी पावन पावक को प्रज्वलित करने के लिए ही आचार्य वर ने इस पुस्तक का नामकरण किया—**'सिद्धान्तकौमुदी की अन्त्येष्टि'**। जैसे मानव की अन्त्येष्टि के बाद मानव की ऐहिक जीवन लीला समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार आचार्य जी की भी यही भावना थी कि इस अनार्ष-ग्रन्थ की भी अन्त्येष्टि करने से ही समाप्ति सम्भव है। यह नाम उनकी भावनाओं का प्रतीक है।

पुस्तक का वर्ण्य विषय—

प्रस्तुत पुस्तक में नव्य व्याकरण के प्रमुख ग्रन्थ 'वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी' के प्रमुख दोषों का दिग्दर्शन कराया गया है। जो इस प्रकार है—

१. **वेदांगत्व का ह्रास** व्याकरण वेद के छः अंगों में प्रमुख है और वेद की रक्षा के लिए ही व्याकरण पढ़ा जाता है। परन्तु कौमुदीकार ने वैदिक सूत्रों को प्रकरण-बाह्य करके पृथक् कर दिया है, जिससे छात्र यह समझने में समर्थ नहीं हो पाते कि सामान्य-नियम क्या है और वेद में विशेष नियम क्या है ? अपने-अपने प्रकरण में अनुवृत्तिपूर्वक जो सूत्रार्थ समझ में आ जाता है, वह कौमुदीक्रम से कदापि समझ में नहीं आ सकता। इसलिए वैदिक नियमों को समझना अतीव दुरूह कार्य हो गया है।

(२) **लघुता का अभाव**—व्याकरणाध्ययन के प्रयोजनों में महर्षि-पतञ्जलि ने लिखा है—**लघ्वर्थं चाध्येयं व्याकरणम्**। अर्थात् महान् शब्द-

सागर के शुद्धाशुद्ध रूप को जानने के लिए व्याकरण के बिना अन्य कोई सरल व लघु साधन नहीं है। एक-एक शब्द का पारायण कराने से शब्द-बोध करना कई जन्मों में भी सम्भव नहीं है। महाभाष्य में इन्द्र और बृहस्पति के सहस्र वर्ष पर्यन्त शब्द-पारायण से यह बात स्पष्ट की है। इसीलिए पाणिनि मुनि ने सामान्य और विशेष नियम बना कर शब्दबोध का सरल व लघु उपाय ढूंढ़ा था। परन्तु कौमुदी से पढ़ने वाला छात्र यह जानने में ही समर्थ नहीं हो सकता कि कौन-सा सूत्र सामान्य नियम का और कौन-सा सूत्र विशेष नियम का बोधक है। इस सामान्य-विशेष की प्रक्रिया को न समझने के कारण ही कौमुदी पढ़ने वालों में यह वाग्धारा प्रसिद्ध हो गई है—**द्वादशभिर्वर्षैर्व्याकरणं श्रूयते।** अर्थात् निरन्तर बारह वर्षों तक व्याकरण पढ़ने से भी व्याकरण का श्रवण मात्र ही होता है, बोध नहीं। परन्तु आर्ष-पद्धति से पढ़कर मध्यबुद्धि का भी छात्र तीन वर्षों में ही वैयाकरण बन जाता है।

(३) सूत्रशैली एवं महर्षि पाणिनि के लक्ष्य की समाप्ति—सूत्रशैली की यह विशेषता रहती है कि उसमें अल्प से अल्प अक्षरों से पूर्ण विषय का बोध हो जाता है। इसीलिए वैयाकरणों में यह प्रसिद्धि है—**अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः।** अर्थात् सूत्रों में यदि कोई वैयाकरण आधी मात्रा का भी लाघव करने में समर्थ हो जाता है तो उसे पुत्रजन्म के समान हर्ष होता है। इसी प्रकार महर्षि पाणिनि से पूर्व इन्द्र, चन्द्र, काशकृत्स्न इत्यादि संस्कृत के आठ व्याकरण प्रचलित थे। पाणिनि मुनि ने अपने बुद्धिचातुर्य से उनकी समस्त विशेषताओं को अक्षुण्ण रखते हुए एक नवीन व्याकरण की रचना की, जिसके विषय में यह कहा गया है—**सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्।** अर्थात् यह पाणिनि मुनि का व्याकरण समस्त शब्दबोध करा देता है और वेदों की समस्त शाखाओं में व्यवहृत शब्दों का पूर्णतः बोध कराता है। परन्तु कौमुदीकार ने सूत्रशैली एवं पाणिनि मुनि के लक्ष्य को ही समाप्त कर दिया, क्योंकि इस क्रम से प्रकरणानुसार सूत्र न होने से अर्थ समझ में नहीं आता। अतः सूत्र तथा वृत्ति दोनों को कण्ठस्थ करना पड़ता है। पुनरपि सामान्य-विशेष नियम का बोध न होने से अथाह शब्दराशि का बोध होना तो दूर की बात है, प्रत्युत सूत्रार्थ को समझाने के लिए दिये उदाहरणों में ही छात्र उलझा रहता है। इसीलिए यह देखा गया है कि छात्र से यदि कौमुदी से भिन्न कोई उदाहरण पूछा जाये तो वह वैयाकरण खसूचि ही बना रहता है। इसका मूल कारण प्रयोगानुसारी यह अनार्ष व्याकरण ही है। एक प्रयोग सिद्धि में प्रयुक्त अनेक सूत्रों को छात्र

यही समझता है कि इस प्रयोग के लिए ही ये सब सूत्र हैं। अतः सूत्रशैली तथा पाणिनि-मुनि का मूल उद्देश्य ही कौमुदी के पठन-पाठन ने समाप्त कर दिया है।

इसी प्रकार सूत्रकार ने अधिकार-सूत्र, परिभाषासूत्र, नियमसूत्र, निषेधसूत्र और एकसंज्ञाधिकारसूत्र भी बनाए हैं, जिन को कौमुदी क्रम से समझ पाना सर्वथा असम्भव है। क्योंकि छात्र को सूत्रों के पूर्वापर का, प्रकरण का, अधिकार का, बोध हो ही नहीं पाता। जैसे अष्टाध्यायी के प्रथमाध्याय में एक संज्ञा का अधिकार किया है, जिसमें नदी-घि, पद-भ, लघु-गुरु कारकीय विभिन्न संज्ञाएँ हैं, जिनका स्पष्टीकरण सूत्रक्रम से ही हो सकता है। इसी प्रकार 'अनभिहिते' (अनूक्ते) अधिकार का बोध न होने से विभक्ति-नियमों का ज्ञान अधूरा ही रहता है। और अष्टाध्यायी के **'पूर्वत्रासिद्धम्' 'असिद्धवदत्राभात्'** जैसे सूत्रकार्यों को समझना तो असम्भव ही है, क्योंकि इन को समझने के लिए सूत्रक्रम को समझना परमावश्यक है। इसी प्रकार क्रादिनियम, भारद्वाज-नियम, सूत्रों में पूर्वनिषेध व पर-निषेध का प्रयोजन, अंगाधिकार के कार्य, उत्तरपदाधिकार के कार्य तथा व्याकरण शास्त्र के मूर्धन्य सूत्र **'विप्रतिषेधे परं कार्यम्'** को सूत्रक्रम के बिना समझा ही नहीं जा सकता। **पूर्वपरनित्यान्तरंगापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः।** अर्थात् पूर्व की अपेक्षा परसूत्र, पर की अपेक्षा नित्यसूत्र, नित्य की अपेक्षा अन्तरंगसूत्र, अन्तरंग की अपेक्षा अपवादसूत्र बलवान् होता है। व्याकरण की इन सूक्ष्म ग्रंथियों को सूत्रक्रम को बिना जाने समझा ही नहीं जा सकता। अतः कौमुदीक्रम से व्याकरण पढ़ना छात्रों के लिए अभिशाप ही है।

(४) **व्याकरणाध्ययन के प्रयोजनों में असफलता**— यद्यपि लघुता, वेदरक्षादि प्रयोजनों के विषय में पहले भी कहा जा चुका है, पुनरपि **'महता शब्देन नः साम्यं यथा स्यादित्यध्येयं व्याकरणम्, वाङ् नो विवृणुयादात्मानमित्यध्येयं व्याकरणम्।'** अर्थात् वाग्विषय की पूर्ण जानकारी होने से सरस्वती का वरण तथा उस के साथ समता प्राप्त करना, **'म्लेच्छा मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम्'** शब्दापशब्द विवेक द्वारा अपशब्दरूप म्लेच्छता को दूर करना इत्यादि व्याकरण-पठन के प्रयोजनों की सिद्धि सूत्रक्रम से ही होती है, कौमुदी के क्रम से कदापि नहीं।

(५) **कतिपय अन्य दोष**—इनके अतिरिक्त कौमुदी में अन्य बहुत-सी कमियाँ हैं। जैसे (क) परिपूर्वक 'भू' धातु का प्रयोग अनादर अर्थ में होता है। कौमुदीकार ने कौमुदी के प्रारम्भ में ही **'तदुक्तीः परिभाव्य च'** लिख कर यह स्पष्ट कर दिया है कि उसकी ऋषियों के प्रति आस्था बिल्कुल भी

नहीं थी। अन्यथा 'ऋषियों की उक्तियों का अनादर करके' वे ऐसा कदापि नहीं लिखते। (ख) 'यम' नासिका से उच्चरित होने वाले नासिक्य अक्षरों का एक नाम है। परन्तु **'अनुस्वारयमा नासिक्याः'** सूत्र को सर्वथा उपेक्षा करके कौमुदीकार ने **'पलिक्क्नी, चख्ख्नतुः'** इत्यादि प्रयोगों से पूर्व सदृश वर्णों को ही यम मानकर मिथ्या व्याख्या की है। (ग) पाणिनिसूत्रों का जहां महाभाष्य में योगविभाग किया गया है, वहाँ-वहाँ प्रायः दो सूत्र मान कर ही उल्लेख किया गया है। योगविभाग तो किसी इष्ट प्रयोग की सिद्धि के लिए ही होता है, परन्तु कौमुदी में भिन्न-भिन्न सूत्र ही मान लिये हैं। (घ) अनेक स्थानों पर सूत्रों की व्याख्या ही मिथ्या की गई है। जैसे 'वायौ' सूत्र में महाभाष्य के विरुद्ध 'वा' को आदेश न मान कर विकल्प ही मान लिया गया है। (ङ) प्रत्याहारसूत्रों को माहेश्वरकृत मानना, व्याकरणशास्त्र के प्रारम्भ में १४ प्रत्याहार सूत्र दिए गए हैं, जिन पर महर्षि पतञ्जलि का महाभाष्य भी उपलब्ध है। उसमें इन सूत्रों को पाणिनि मुनिकृत ही माना गया है। परन्तु कौमुदीकार ने उन्हें माहेश्वरकृत माना है, यह उसकी प्रमाणहीन काल्पनिक मिथ्या मान्यता है। इस विषय में (हयवरट्) सूत्र का महाभाष्य देखने से कौमुदीकार की मान्यता का सर्वथा प्रत्याख्यान हो जाता है।

शास्त्रोपस्कृत-शब्द-सुन्दर-गिरः शिष्य-प्रदेयागमाः।
विख्याता गुरवो वसन्ति विषये यस्य प्रभोर् निर्धनाः।
तज्जाड्यं वसुधाधिपस्य मुनयस्त्वर्थं विनापीश्वराः।
कुत्स्याः स्युः कुपरीक्षका हि मणयो यैरर्घतः पातिताः॥

जो शास्त्रों से संशुद्ध (समन्वित) शब्दों से युक्त सुन्दर वाणी का प्रयोग करते हैं, और अपना अर्जित शास्त्र-ज्ञान शिष्यों में वितरित करते हैं, ऐसे गुरु भी यदि किसी राजा के राज्य में निर्धन बने रहते हैं, तो वह उस अधिपति की ही जड़ता है। ऐसे मुनिजन तो बिना धन के भी ऐश्वर्य-सम्पन्न हुआ करते हैं। यदि कोई मूल्य-वान् मणि का उचित मूल्य न लगाये तो वह कुपरीक्षक ही निन्द्य होता है।

'योगी का आत्मचरित्र' के रूप में स्वामी सच्चिदानन्द जी योगी की विशिष्ट देन

—इं० आदित्यपालसिंह आर्य*

१९८२ से मैं दयानन्द के जीवन के उन वर्षों के विषय में अनुसन्धान-रत हूं, जिनके विषय में उनके जीवन-चरित्रों से कोई प्रकाश नहीं पड़ता है। ये वर्ष हैं सन् १८५६ से लेकर १८६० तक के ४ वर्ष। इनसे पूर्व दयानन्द का प्रारम्भिक जीवनचरित्र हमें उन्हीं के शब्दों में उपलब्ध है और बाद के वर्षों के विषय में जीवनी लेखकों ने पर्याप्त खोज-बीन करके लिखा है। परन्तु इस चार वर्षीय अवधि पर कोई भी जीवनी-लेखक प्रकाश नहीं डाल पाया। कारण यही रहा है कि स्वयं दयानन्द ने इस काल की अपनी गतिविधियों को छिपाए रखना ही उपयुक्त समझा और इस समय तक उनका जीवन इतना सार्वजनिक नहीं हो पाया था कि उसकी चर्चा अन्य लोगों से सुनी जा सके। इस विषय में जब किसी भक्त ने उनसे पूछा तो दयानन्द ने कहा कि 'देहान्त से पूर्व हम अपने माता-पितादि का नाम और पूर्व वृत्त प्रकट कर देंगे। यदि इस समय ऐसा करेंगे, तो **गोलमाल** होगा।'[1] यहाँ 'गोलमाल' शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है।

१८७५ में 'सत्यार्थप्रकाश' का प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ था। इसे उन्होंने १८७४ में लिखाया था। इसकी पाण्डुलिपि के अन्त में उन्होंने अपना संक्षिप्त परिचय भी दिया था, जिसमें लिखा है कि 'ऐसे ही देश-देशान्तर में भ्रमण किया।' दयानन्द के ग्रन्थों का अध्ययन करने वाले जानते हैं कि उनके द्वारा लिखित एक भी शब्द व्यर्थ अथवा निरर्थक नहीं होता है। फिर जो यहां 'देश-देशान्तर में भ्रमण करने'[2] का उल्लेख है, उस में देश और देशान्तर क्या हैं?

---

* एफ ५/५२ चार इमली, भोपाल-४६२०१६

१. ऋ० द० सरस्वती का जीवन-चरित्र, भाग-२, पृ० २३२
२. ऋ० द० सरस्वती का जीवन-चरित्र, भाग-२, पृ० २५२

'सत्यार्थप्रकाश' के ११वें समुल्लास में उन्होंने स्वयं लिखा है कि 'यह आर्यावर्त्त देश ऐसा है जिसके सदृश भूगोल में कोई दूसरा देश नहीं है।' और आठवें समुल्लास में लिखा है कि 'उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्याचल, पूर्व और पश्चिम में समुद्र तथा सरस्वती, पश्चिम में अटक नदी, पूर्व में दृषद्वती जो नेपाल के पूर्वभाग के पहाड़ से निकल के बंगाल के और आसाम के पूर्व और ब्रह्मा के पश्चिम ओर होकर दक्षिण के समुद्र में मिली है, जिसको ब्रह्मपुत्र कहते हैं और जो उत्तर के पहाड़ों से निकल के दक्षिण के समुद्र की खाड़ी में आकर मिली है। हिमालय की मध्यरेखा से दक्षिण और पहाड़ों के भीतर और रामेश्वरपर्यन्त विन्ध्याचल के भीतर जितने देश हैं, उन सब को आर्यावर्त्त इसलिए कहते हैं कि यह आर्यावर्त्त देश अर्थात् विद्वानों ने बसाया और आर्यजनों के निवास करने से आर्यावर्त्त कहाया है।' इसी प्रकार अमेरिका, यूरोप, कन्धार तथा ईरान से भारत-वासियों के प्राचीन सम्बन्धों का विवरण देने के उपरान्त वे सत्यार्थप्रकाश के ही १०वें समुल्लास में लिखते हैं कि 'जो देश-देशान्तर द्वीप-द्वीपान्तर में न जाते होते तो ये सब बातें क्योंकर हो सकती थीं ?'

दयानन्द के इन कथनों से उनकी परिभाषा के देश और देशान्तर का हमें परिज्ञान होता है, परन्तु यदि दयानन्द के 'देश-देशान्तर में भ्रमण करने' के शब्द सार्थक हैं, तो हमें उनके जीवनचरित्रों में हिमालय, असम, पूर्वी बंगाल, रामेश्वर आदि तक उनके भ्रमण करने का वृत्तान्त क्यों नहीं मिलता ? और कुछ-एक देशान्तरों यथा—तिब्बत और लंका में जाने के विषय में दयानन्द जीवनचरित्र मौन क्यों हैं ?

मेरठ में दयानन्द ने अपने भक्तों से कहा था कि 'मैं एक बार गंगोत्री से चलकर गंगासागर तक और एक बार गंगोत्री से रामेश्वर तक गया था।' जब उन्होंने यह बात कही तब वहां थियासोफिकल सोसाइटी के संस्थापक कर्नल एच० एस० आल्काट और मैडम एच० पी० ब्लावट्स्की भी उपस्थित थीं। अत: मैडम ने अपनी पुस्तक 'फ्राम दी केव्स एण्ड जंगल्स ऑफ हिन्दोस्तान' के २० वें पृष्ठ पर लिखा था कि **'Dayananda has covered the whole peninsula from Cape Comorin to the Himalayas, and from Calcutta to Bombay'.**

जब दयानन्द की मृत्यु हो गई तो कर्नल ने भी 'थियोसोफिस्ट' पत्र के दिसम्बर १८८३ के अंक में उन्हें श्रद्धांजलि देते हुए लिखा था कि **'There are few towns and but one province we believe namely, Madras—that Pandit Dayananda did not visit in furtherence**

of his missionary work and fewer still where he has not left the impress of his remarkable mind behind him.

पूना-प्रवचनों में दयानन्द ने स्वयं कहा कि 'इस प्रकार हिन्दुस्तान[१] के सब भागों में मैं गया।' और **'काश्मीर से लेकर नेपाल की सीमा तक हिमालय का जो उच्च प्रदेश है,** वही देवलोक था और उस समय आज की तरह उस स्थान पर बर्फ नहीं पड़ती थी, ऐसा विदित होता है। प्राचीन समय में यदि इतनी बर्फ पड़ती होती तो देवलोगों की देवलोक में स्थिति कैसे होती? इस देवलोक में भद्र पुरुष प्रत्येक स्थान पर राज्य करते थे। इस विषय में आज तक भारतखण्ड में प्रमाण मिलता है। और 'विष्णु वैकुण्ठवासी थे अर्थात् उनकी राजधानी का स्थान वैकुण्ठ था। महादेव कैलासवासी थे। कुबेर की अलकापुरी नगरी थी। इन सब बातों का केदार-खण्ड में वर्णन किया गया है। मैं स्वयं भी इस प्रदेश में घूमा हूँ और एक वार बर्फ में अपना देह गलाकर संसार से मुक्त हो जाऊं—इस हेतु प्राचीन अलकापुरी जिस पर्वत पर थी, वहां तक गया था। परन्तु वहां देह त्याग करना कोई पुरुषार्थ नहीं, ज्ञान सम्पादन करके पुरुषार्थ और परोपकार करना चाहिए—ऐसा मन में विचार लेकर लौट आया।'

दयानन्द के इन सब कथनों और लेखों से हम सब के मस्तिष्क में यह चित्र उभरता है कि उनका भ्रमण-क्षेत्र अति व्यापक था और उसमें हिमालय से लेकर कन्याकुमारी और रामेश्वर पर्यन्त तथा गंगोत्री से लेकर गंगासागर पर्यन्त आर्यावर्त्त का समस्त भूभाग सम्मिलित था। यही नहीं, उन्होंने कुछ यात्राएं देशान्तर की भी की थीं, जिन को वे सार्वजनिक रूप से किसी राजनैतिक बाध्यता के कारण व्यक्त नहीं कर सके।

सो यदि दयानन्द का भ्रमण-क्षेत्र इतना व्यापक था, तो उसका प्रभाव उन के द्वारा सृष्ट साहित्य पर भी पड़ा होगा, तो आइए इस पर भी हम एक नजर डाल लें। स्वयं देखे हुए स्थानों और दृश्यों के लिए ही वे निश्चयात्मिका और वर्तमान क्रिया का प्रयोग करते हैं।

दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में लिखा था कि तब भीम ने निश्चय कर लिया कि यही भैंसा (महादेव) है। भीम उसको पकड़ने को दौड़ा तब वह भैंसा पृथिवी में गुप्त हो गया। उसका सिर नेपाल में निकला जिसका नाम पशुपति रक्खा है? तथा उसका पग कश्मीर में निकला जिसका नाम अमरनाथ रक्खा और चूतड़ वहीं निकला जिसका

१. इसे केवल उत्तर भारत तक सीमित नहीं किया जा सकता।

नाम केदार है और जंघा जहां निकली, उसका नाम तुंगनाथादिक रक्खा है। ऐसे पांच केदार लोगों ने रच लिये हैं। इसमें विचार करना चाहिए कि **नेपाल में** भैंसे का शृंग, नाक, कान कुछ नहीं दीख पड़ता है, काश्मीर में खुर भी नहीं दीख पड़ते। ऐसे ही अन्यत्र भी भैंसे का कुछ चिह्न नहीं दीख पड़ता, सर्वत्र पाषाण ही दीख पड़ते हैं।'

सत्यार्थप्रकाश के प्रचलित संस्करणों के ग्यारहवें समुल्लास में भी हमें लिखा मिलता है कि 'पशुपति एक मन्दिर और पंचमुखी मूर्ति का नाम धर रखा है। जब कोई न पूछे तभी ऐसी लीला बलवती होती है। परन्तु जैसे तीर्थ के लोग धर्म धनहारे हैं, वैसे पहाड़ी (अर्थात् नेपाली) लोग नहीं होते। वहां की (अर्थात् नेपाल की) भूमि बड़ी रमणीक और पवित्र है।'

दयानन्द के ये लेख नेपाल के पशुपतिनाथ के मन्दिर, अमरनाथ और कश्मीर के अन्य भागों के देखे होने का प्रमाण हैं। नेपाल की भूमि की रमणीयता तथा पवित्रता का जो प्रमाणपत्र दयानन्द ने दिया है, वह बिना उसे देखे नहीं दे सकते थे।

नेपाल से कलकत्ता आते हुए दयानन्द मुंगेर होकर आए थे। इसी कारण इस स्थान से वे पूर्व-परिचित थे। फलतः, जीवन-चरित्रों के अनुसार जब 'दयानन्द पहली (?) बार ४ अक्टूबर सन् १८७२ के प्रातःकाल मुंगेर पहुंचे तो बिना किसी से पूछे हुए एक ओर को चल दिए। मानो वे उस स्थान से जहां उन्हें ठहरना था, पहले से परिचित थे। कुछ दूर चलकर एक साधु के आश्रम पर पहुँच गए, जिसमें दो कमरे थे, कुआं था, फुलवारी थी। वहां पहुंचकर स्वामी जी ने राजनाथ विद्यार्थी और कहार से आश्रम में ही आसन लगाने की आज्ञा दी, और वहाँ ही ठहर गए।'[1] इस प्रकार जिस साधु के आश्रम में दयानन्द उसकी अनुपस्थिति में ही ठहर गए थे, वह उनसे पूर्व परिचित था।

कामाख्या (आसाम) के विषय में दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में लिखा है कि 'वहां अंधे लोग भेड़ के तुल्य एक के पीछे एक चलते हैं। कूप-खाड़े में गिरते हैं, हट नहीं सकते। वैसे ही एक मूर्ख के पीछे दूसरे चलकर मूर्तिपूजा रूप गढ़े में फंसकर दुःख पाते हैं।' कामाख्या का यह सजीव चित्रण उनके उसे देखे होने का प्रमाण है।

दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के दशम समुल्लास में महाभारत के कुछ श्लोकों का अर्थ करते हुए लिखा कि 'पिता का वचन सुनकर शुकाचार्य

१. ऋ० द० सरस्वती का जीवन चरित्र, भाग-१, पृ० २५३।

पाताल से मिथिलापुरी की ओर चले। प्रथम मेरु अर्थात् हिमालय से ईशान, उत्तर और वायव्य देश में जो देश बसते हैं, उनका नाम हरिवर्ष था। अर्थात् हरि कहते हैं बंदर को; उस देश के मनुष्य अब भी रक्तमुख अर्थात् वानर के समान भूरे नेत्र वाले होते हैं। जिन देशों का नाम इस समय यूरोप है, इन्हीं को संस्कृत में हरिवर्ष कहते हैं। उन देशों को देखते हुए और जिनको हूण-यहूदी भी कहते हैं, उन देशों को देखकर चीन में आए। चीन से हिमालय और हिमालय से मिथिलापुरी आए।'[1]

इस उल्लेख से ज्ञात होता है कि दयानन्द को चीन से भारत आने वाले इस मार्ग की जानकारी थी, जबकि महाभारत के सम्बधित श्लोकों का ऐसा शाब्दिक अर्थ नहीं है।

सत्यार्थप्रकाश के आठवें समुल्लास में दयानन्द ने इस प्रश्न का कि 'मनुष्यों की आदि सृष्टि किस स्थल में हुई?' यह उत्तर दिया है कि 'त्रिविष्टप अर्थात् जिसको **तिब्बत** कहते हैं।' सो दयानन्द ऐसा उत्तर देने में किस प्रकार समर्थ हुए? इसके पीछे उस अंचल में ऐसी लोक-कथाओं का प्रचलित होना है जिनसे जाना जाता है कि आदि सृष्टि तिब्बत में ही हुई है। हम सब बहुश्रुत एवं बहुपठित लोगों को भी जब इस प्रचार के युग में भी इनकी जानकारी नहीं है, तो दयानन्द को आज से ११५ वर्ष पूर्व इसकी जानकारी क्या उनके बिना तिब्बत गए होनी सम्भव थी?

दयानन्द के जीवनचरित्रों में तो उन के **गोमुख** और **उत्तरकाशी** जाने का भी उल्लेख नहीं मिलता है परन्तु वे सत्यार्थप्रकाश में लिखते हैं कि 'गोमुख का आकार टका लेने वालों ने बनाया होगा और वही पहाड़ पोप का स्वर्ग है। वहां उत्तरकाशी आदि स्थान ध्यानियों के लिए अच्छा है, परन्तु दूकानदारों के लिए वहां भी दूकानदारी है। उनका यह लेख उनके द्वारा इन स्थानों के स्वयं देखे होने का प्रमाण है।

पुरी के जगन्नाथ मन्दिर के विषय में दयानन्द ने लिखा है कि 'जगन्नाथ में वाममार्गियों ने भैरवी चक्र बनाया है क्योंकि सुभद्रा—श्रीकृष्ण और बलदेव की बहिन लगती है। उसी को दोनों भाइयों के बीच में स्त्री और माता के स्थान में बैठाई है। जो भैरवी चक्र न होता तो यह बात कभी न होती।... जब बहुत से लोग दर्शन को आते हैं, तब इतना बड़ा मन्दिर है कि जिसमें दिन में भी अन्धेरा रहता है और दीपक जलाना पड़ता है।' इत्यादि।

---

१. ऋषि का ल्हासा से दार्जिलिंग का मार्ग यही था।

इस प्रकार दयानन्द ने जगन्नाथ मन्दिर का स्वानुभूत वर्णन करके सजीव और रोचक खण्डन किया है, जो उनके उसे देखे होने का प्रमाण है। इस पर कहा जा सकता है कि ये बातें उन्होंने उस व्यक्ति से जान-समझकर लिखी होंगी, जिसने बारह वर्ष पर्यन्त जगन्नाथ की पूजा की थी और जो विरक्त होकर मथुरा में उनसे मिला था। वस्तुतः उसका उल्लेख दयानन्द को केवल कलेवर बदलने के प्रसंग में ही करना पड़ा, क्योंकि यह कृत्य उसी वर्ष में किया जाता है जब आषाढ़ मास लौंध का महीना होता है, प्रतिवर्ष नहीं। चूंकि दयानन्द पुरी में आषाढ़ शुक्ला २, संवत् १९१४ विक्रमी (२३ जून १८५७ ई०) से होने वाले रथ यात्रा के उत्सव में सम्मिलित हुए थे जिस वर्ष कि आषाढ़ मास लौंध का महीना नहीं था, अतः कलेवर बदलने सम्बन्धी जानकारी के लिए ही उन्हें उस व्यक्ति का सहारा लेना पड़ा। जगन्नाथ मन्दिर का बड़ा होना, उस में दिन में भी अन्धेरा रहना और उसकी निवृत्ति के लिए दीपक का जलाया जाना प्रत्यक्ष नेत्रों के ही विषय हैं। इसलिए दयानन्द ने इस मन्दिर को देखा हुआ था, यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है।

आगे जाकर जब दयानन्द **रामेश्वर** पहुंचे तो उसके विषय में उन्होंने ११ वें समुल्लास में ही लिखा है कि '(रामेश्वर के) मन्दिर में भी (जगन्नाथ के मन्दिर के समान) दिन में अन्धेरा रहता है। दीपक रात-दिन जला करते हैं। जब जल की धारा छोड़ते हैं, तब उस जल में बिजली के समान दीपक का प्रतिबिम्ब झलकता है और कुछ भी नहीं। न पाषाण घटे, न बढ़े, जितना का उतना रहता है। ऐसी लीला करके बिचारे निर्बुद्धियों को ठगते हैं।' सो यह सब विवरण भी प्रत्यक्ष आंखों का ही विषय है और दो मन्दिरों की तुलना में जो उन्होंने 'भी' शब्द का प्रयोग किया है, वह तुलना क्या इन दोनों मन्दिरों को बिना देखे की जा सकती है।

इस प्रकार दयानन्द **दक्षिण भारत** में भी गए थे। तभी तो वे सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में लिखते हैं कि 'जैसे दाक्षिणात्य लोगों की स्त्रियां वस्त्र धारण करती हैं, वैसा ही पहले था, क्योंकि कभी वस्त्र अशुद्ध नहीं रहता, सब दिन पुरुषों के वस्त्र शुद्ध रहते हैं, वैसे स्त्री लोगों के शुद्ध रहते हैं। इससे इस प्रकार का वस्त्र धारण करना उचित है।' और 'गुजराती, महाराष्ट्र तैलंग, द्राविड़ तथा कर्नाटक—इनमें भोजन के बड़े बखेड़े हैं। इन पांचों में से गुजराती लोगों के भोजन का बड़ा पाखण्ड है। महाराष्ट्रादिक चारों द्रविणों का तो एक भोजन है, परन्तु गुजराती लोगों का आपस में बड़ा भेद है।'

'वर्णोच्चारण शिक्षा' की भूमिका में दयानन्द ने लिखा है कि 'जैसे ज्ञा, इसमें ज्+ञ्+आ, ये तीन अक्षर मिले हैं। इनका उच्चारण भी जकार ञकार और आकार ही का होना चाहिए किन्तु ऐसा न हो कि जैसे दाक्षिणात्य लोग अर्थात् द्राविड़, तैलंग, कर्नाटक और महाराष्ट्र 'द्नान', गुजराती लोग 'ग्यांन' और पंचगौड़ 'ग्यान' ऐसा अशुद्ध उच्चारण अन्ध-परम्परा से वेदादि शास्त्रों के पाठ में भी करते हैं।'

पूर्वोक्त तीनों उद्धरण दयानन्द के दाक्षिणात्यों के साथ निकट संपर्क में आए होने के प्रमाण हैं।

इस प्रकार दयानन्द द्वारा प्रणीत साहित्य से ही यह सिद्ध हो जाता है कि उन्होंने जो 'हिन्दुस्तान के सब भागों में जाने' और 'गंगोत्री से गंगा-सागर तक' तथा 'गंगोत्री से रामेश्वर तक' जाने का तथा 'देश-देशान्तर में भ्रमण करने' की जो बातें कही अथवा लिखी हैं, वे अक्षरशः सत्य हैं।

अब प्रश्न उठता है कि इन सब स्थानों की यात्राएँ दयानन्द ने कब कीं ? इसके लिए यदि हम उनकी 'आत्मकथा' और 'जीवनचरित्र' देखें तो पता चलेगा कि गृहत्याग से लेकर १८५५ में हरिद्वार के कुम्भ के मेले में सम्मिलित होने से पूर्व तक तो उन्होंने ऐसी कोई यात्रा की ही नहीं थी, और १४ नवम्बर १८६० को जब वे विरजानन्द के पास पढ़ने के लिए मथुरा पहुंचे, उसके आगे का विस्तृत विवरण उनके जीवन चरित्रों में उपलब्ध है ही जिनमें भी इन प्रदेशों की यात्रा करने का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। अतः यह निश्चित हो जाता है कि दयानन्द ने ये सारी यात्राएँ १८५५-६० के मध्य में ही की हैं जिनका अधिकृत विवरण 'अज्ञात जीवनी' के प्रकाश में आने तक अनुपलब्ध था।

४ अगस्त १८७५ को पूना में अपने पूर्व-चरित्र का विवरण देते हुए दयानन्द ने कहा था कि '(अहमदाबाद से) मैं जाते-जाते हरिद्वार गया। वहाँ उस समय कुम्भ का मेला भरा हुआ था। वहाँ से हिमालय में अलख-नन्दा जहां से निकली है, वहाँ गया। वहां केवल बर्फ थी, पानी अत्यन्त ठण्डा था। वहाँ पानी में मेरे पैर में कुछ लग जाने से घाव हो गया और रक्त बहने लगा। हिमालय पर्वत पर जाकर यहां देह छोड़ दूं, ऐसी मेरी इच्छा हुई। परन्तु पुनः मन में विचार आया कि ज्ञानप्राप्ति करने के पश्चात् देह छोड़ना चाहिए, ऐसा निश्चय करके मैं मथुरा आया।'

दयानन्द के जीवन चरित्रों के पाठक जानते हैं कि वे १८५१ ई० के अन्त तक अहमदाबाद में रहे थे और १४ नवम्बर १८६० को स्वामी

विरजानन्द जी के पास मथुरा में पहुंचे थे। इस प्रकार पूर्वोक्त घटनाक्रम लगभग ९ वर्ष का बैठता है। इस बीच कुम्भ का मेला हरिद्वार में फरवरी अप्रैल १८५५ में हुआ था। इस अवस्था में, आगे जाकर 'थियासोफिस्ट' पत्रिका में यदि दयानन्द ने अपना जन्म-चरित्र छपवाया होता तो उनके जीवन-चरित्रों का जो स्वरूप आज होता, उसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है। पूना-प्रवचन के इस पूर्व चरित्र के आधार पर जो जीवन चरित्र तब लिखे जाते, उन में निश्चय ही आबू पर्वत पर योगाभ्यास के लिए विताए गए तीन वर्षों का उल्लेख न होता तथा अलखनन्दा स्रोत से लेकर मथुरा पहुंचने तक के विवरणों के मध्य काशीपुर, द्रोणसागर, मुरादाबाद, सम्भल, गढ़मुक्तेश्वर, फर्रुखाबाद, शृंगीरामपुर, कानपुर-प्रयाग के मध्यवर्ती स्थानों, मिरजापुर, काशी, चण्डालगढ़ और आगे नर्मदास्रोत की ओर की यात्रा का कोई उल्लेख न होता।

यहाँ विचारणीय प्रश्न यह भी है कि क्या दयानन्द ने इस अवधि का मात्र इतना ही विवरण दिया था, अथवा वह पूना-प्रवचनों के लेखक महादेव गोविन्द रानडे महोदय द्वारा मात्र इतना ही लिखा जा सका था। किंचित् विचार करने पर यह तो माना जा सकता है कि दयानन्द ने आबू जाने का उल्लेख एक वाक्य में कर दिया हो और उत्तराखण्ड के कुछ स्थानों पर जाने का भी उल्लेख किया हो, परंतु कथ्य की शीघ्रता और लेखन की शिथिलता के कारण रानडे महोदय इन्हें नोट न कर पाए हों। परन्तु यह नहीं माना जा सकता कि अलखनन्दा स्रोत से मथुरा पहुंच तक के ४ वर्षों में दयानन्द जिन-जिन स्थानों पर गए, उनका उल्लेख तो उन्होंने अपने व्याख्यान में किया हो किन्तु रानडे महोदय उनमें से किसी भी स्थान को नोट न कर पाए हों। तब स्वभावतः ही यह प्रश्न उठता है कि सार्वजनिक रूप से कहे गए इस पूर्व चरित्र में ऐसा कौन सा कथ्य था, जो दयानन्द छिपाना चाहते थे।

इतिहासज्ञ जानते हैं कि १८५६-६० तक के ४ वर्ष भारत में काफी उथल-पुथल के वर्ष रहे हैं क्योंकि इन वर्षों में भारत का प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम लड़ने की तय्यारी की गई। वह अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ा गया था। अतः जब तक दयानन्द की इस युद्ध में कोई सक्रिय भूमिका न रही हो, तब तक अन्य कोई ऐसा कारण नहीं था कि वे इस काल की अपनी यात्राओं एवं गतिविधियों पर किंचित् भी प्रकाश न डालते, जबकि 'पूर्व-चरित्र' में ऐसा तिरोभाव अन्यत्र नहीं किया गया है। अन्यत्र उसमें केवल सिद्धपुर से बड़ौदा जाने के मध्य अहमदाबाद का, और बड़ौदा से नर्मदा-तट घूमने के

मध्य काशी जाने का ही स्पष्ट उल्लेख नहीं हो पाया है, जो हमारी दृष्टि में लेखक प्रमाद के फलस्वरूप ही है।

इस प्रसंग में दयानन्द द्वारा कहे गए ये शब्द हमें याद आते हैं कि 'यदि इस समय ऐसा करेंगे तो गोलमाल होगा।' सो सारा रहस्य १८५६ से १८६० तक के इन चार वर्षों में हो छिपा हुआ है और यदि कोई रहस्य न होता तो दयानन्द को इन चार वर्षों में की गई अपनी यात्राओं का विवरण देने में क्या आपत्ति हो सकती थी ?

१८७९-८० में मैडम एच० पी० ब्लावट्स्की और कर्नल एच०एस० आल्काट की मासिक पत्रिका 'थियासोफिस्ट' में दयानन्द ने अपना जो जीवन-चरित्र छपवाया, उसमें इस अवधि के लिए उत्तराखण्ड की यात्रा का कुछ अधिक विस्तार से वर्णन मिलता है और आगे काशीपुर से नर्मदास्रोत की ओर की यात्रा का कुछ विवरण मिलता है। इसके उपरान्त यह 'आत्मकथा' भी मौन हो जाती है क्योंकि वह आगे विभिन्न कारणों से 'थियासोफिस्ट' पत्रिका में छप ही नहीं सकी। इससे दयानन्द के जीवन के विषय में हमारा ज्ञान पूना के 'पूर्व-चरित्र' और 'थियासोफिस्ट' के इस 'जन्मचरित्र' के उल्लेखों तक ही सीमित होकर रह गया है। फलतः दयानन्द ने १८५६ से १८६० के मध्य जो महत्त्वपूर्ण यात्राएं कीं, वे संसार की आंखों से ओझल ही बनी रहीं।

१६ नवम्बर १८६९ को दयानन्द और काशी के पण्डितों के मध्य मूर्ति-पूजा पर हुए प्रसिद्ध 'काशी-शास्त्रार्थ' का विवरण जब उस समय के अनेक समाचार पत्रों में प्रकाशित हुआ तो दयानन्द की यशः कीर्ति का विस्तार दिग्दिगन्त में हो गया। चूंकि ब्रह्मसमाज के लोग मूर्तिपूजा के पहले से ही विरुद्ध थे, अतः इस अद्भुत संन्यासी की कीर्ति सुनकर वे उसके प्रति स्वाभाविक रूप से ही आकृष्ट हुए और जब काशी-शास्त्रार्थ के पश्चात् दयानन्द मिरजापुर होकर माघ शुक्ला ५ संवत् १९२६ को प्रयाग पधारे, जहां उस समय कुम्भ का मेला भर रहा था, तो वहां ब्रह्मसमाज के प्रधान नेता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर आदि भी पधारे और उन्होंने स्वामी जी से भेंट की। भेंट के समय दयानन्द ने देवेन्द्रनाथ ठाकुर से वैदिक पाठशाला स्थापना का प्रस्ताव किया जिस पर ठाकुर महाशय ने स्वामी जी से कलकत्ता पधारने का निवेदन किया और आश्वासन दिया कि उसी समय इस प्रस्ताव पर विचार किया जा सकेगा।

इसी निमंत्रण के अनुसार स्वामी दयानन्द सरस्वती काशी शास्त्रार्थ के ३७ महीने बाद कलकत्ता में १६ दिसम्बर १८७२ को पहुंचे और वहां

१६ अप्रैल १८७३ पर्यन्त ४ माह रहे। इस बीच उनका कलकत्ता के अनेक गण्यमान्य व्यक्तियों से परिचय और प्रेमालाप हुआ जिनमें बैरिस्टर चन्द्रशेखर सेन, पं० सत्यव्रत सामश्रमी, बैरिस्टर उमेशचन्द्र वन्द्योपाध्याय, केशवचन्द्र सेन, द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर, समुद्रनाथ ठाकुर, त्रिदेव भट्टाचार्य, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, कृष्णदास पाल, राजा राजेन्द्रनाथ मलिक, महाराज जितेन्द्रनाथ ठाकुर, उत्तरपाड़ा के जमींदार जयकृष्ण मुखोपाध्याय, राजेन्द्रलाल मित्र, राजनारायण वसु, रामतने लाहड़ी, रमेशचन्द्रदत्त आई० सी०एस०, उमेशचन्द्र मित्र, सूर्यकान्त आचार्य चौधरी, रजनीकान्त गुप्त, यतोन्द्र मोहन ठाकुर, डा० महेन्द्रलाल सरकार, प्रतापचन्द्र मजूमदार, द्वारकानाथ गंगोली, गंगाधर कविराज, देवेन्द्रनाथ ठाकुर, अक्षयकुमार दत्त, महेशचन्द्र न्यायरत्न आदि प्रमुख थे। इन सभी लोगों ने दयानन्द के व्यक्तित्व और कर्तृत्व से प्रभावित होकर उनका पूर्व-चरित्र जानने की इच्छा प्रकट की, जो नितान्त स्वाभाविक थी।

अत: इस कार्य के लिए स्वामी जी के उपदेशों को लिपिबद्ध करने के लिए देवेन्द्रनाथ ठाकुर और पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और केशवचन्द्र सेन ने कुछ लेखकों को नियुक्त कर दिया जो संस्कृतज्ञ थे और स्वामी जी द्वारा संस्कृत में कथित वाणियों को यथाशक्ति लिपिबद्ध करते थे।

इस सम्बन्ध में दयानन्द के जीवनी लेखक पं० लेखराम आर्यपथिक ने लिखा है कि "सन् १८७२ में जब वे कलकत्ता में पधारे और संस्कृत भाषा में धर्म-प्रचार आरम्भ किया तो यहां के कतिपय सम्मानित सज्जनों ने भी उनका जीवन-चरित्र सम्बन्धी वृत्तान्त जानने का प्रयत्न किया, परंतु असफल रहे। विद्वान् संन्यासियों के अतिरिक्त (जिन्हें वे कुछ वृत्तान्त कभी मित्रता के नाते बता दिया करते थे), साधारण गृहस्थियों के सामने ऐसे वृत्तान्त बताना वे निरर्थक समझते रहे।"[1]

पं० लेखराम के इस लेख से यह सिद्ध ही है कि कलकत्ता में दयानन्द का जीवन सम्बन्धी वृत्तान्त जानने का उपक्रम किया गया था, परन्तु इसमें असफल रहने का जो उल्लेख हुआ है, वह वस्तुत: इस कारण से है कि स्वयं पं० जी ही कलकत्ता में लिखित इन विवरणों को प्राप्त करने में असफल रहे थे, क्योंकि उस समय आर्यसमाज और ब्रह्मसमाज के सम्बन्ध अच्छे नहीं थे। पं० लेखराम जी का यह लिखना कि स्वामी जी संन्यासियों के अतिरिक्त गृहस्थियों को अपना जीवन वृत्तान्त नहीं बताते थे, वास्तविकता

१. ऋषि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र, पं० लेखराम, भाग-१, अध्याय १।

से परे है, क्योंकि पूना में अपने 'पूर्व-चरित्र' पर उन्होंने जो व्याख्यान दिया, उसके सभी श्रोता संन्यासी नहीं थे और 'थियासोफिस्ट' पत्रिका में जो 'जन्म-चरित्र प्रकाशित कराया उसके सभी पाठक भी संन्यासी नहीं थे। इसके अतिरिक्त अन्य अवसरों पर भी वे अपने जीवन की कुछ घटनाएँ वार्तालाप में प्रसंग आने पर सुना दिया करते थे, जिनके सुनने वाले प्रायः गृहस्थ ही हुआ करते थे, ऐसा ऋषि दयानन्द के जीवन-चरित्रों के अध्येता सभी पाठक जानते हैं।

कालान्तर में जब ऋषि दयानन्द के योग्य-शिष्य और आदिब्रह्म-समाज के प्रचारक श्री हेमचन्द्र चक्रवर्ती द्वारा बंगला-भाषा लिखित 'बंगाल में ऋषि दयानन्द के चार मास' विषयक 'दयानन्द-प्रसंग' नामक पुस्तक १९५४ ई० में प्रथम बार प्रकाशित हुई तो उससे पता चला कि :

"**२२ से ३१ मार्च १८७३ के मध्य :** स्वामी जी एकान्त में ग्रन्थ-प्रणयन में संलग्न रहे। अवकाश के समय उनका उपदेश हुआ।"

इस उल्लेख के अनुसार स्वामी जी किस ग्रन्थ-रचना में संलग्न रहे, इसका विवरण उनके जीवन-चरित्रों में उपलब्ध नहीं होता है। अतः सभी लोग यह मानकर बैठ गये थे, कि जब ऐसा ग्रन्थ अब तक उपलब्ध नहीं हुआ है, तो उसके भविष्य में भी उपलब्ध होने की सम्भावना नहीं है।

परन्तु दीपावली १९८२ के आसपास की बात है, जब संयोग से पं० हेमचन्द्र चक्रवर्ती द्वारा किए गए इस उल्लेख और 'योगी का आत्म-चरित्र' नामक पुस्तक के उपसंहार पर हमारी दृष्टि एक साथ पड़ी, जिसमें यह उल्लेख था कि "१६ दिसम्बर १८७२ को मैं कलकत्ता पहुंचा था, आज ३१ मार्च १८७३ है। अब हुगली और वर्धमान की तरफ भी मुझे जाना है। इसके पश्चात् बिहार की तरफ प्रस्थित हो जाऊँगा। कल से मौन धारण करूंगा। परम प्रभु आप लोगों की सदिच्छा पूर्ण करें।" तब हमें ही सर्व-प्रथम यह पता चला कि 'योगी का आत्म-चरित्र' ही वह ग्रन्थ है जिसकी रचना में दयानन्द कलकत्ता में एकान्त में संलग्न रहे थे क्योंकि इस पुस्तक का उपसंहार लिखाने का दिनांक (३१ मार्च १८७३) और ग्रन्थ समाप्ति का 'दयानन्द-प्रसंग' में उल्लिखित दिनांक (२२ से ३१ मार्च १८७३) परस्पर मेल खा रहे थे। बस तभी से मैं 'योगी का आत्म-चरित्र' को लेकर अनुसंधान कार्य में जुट गया और ५ वर्षों के चिन्तन-मनन और अनुसंधान के फलस्वरूप यह वक्तव्य दे सकने में सफल हो पा रहा हूं, कि --

"इस प्रकार 'योगी का आत्म-चरित्र' स्वयं दयानन्द द्वारा ही लिखाया हुआ सिद्ध हो जाता है।"

दयानन्द द्वारा कलकत्ता में लिखाया गया यह आत्मचरित्र उसके गवेषक, उद्धारकर्त्ता और अनुवादक स्व० पं० दीनबन्धु जी वेदशास्त्री, बी० ए०, वेदाचार्य को कैसे, कब और कहाँ से प्राप्त हुआ, इसका पूरा विवरण उनके द्वारा लिखित 'अज्ञात जीवनी को पृष्ठ-भूमि' में उपलब्ध है। उनके अनुसार इस कार्य में उन्हें १९२३ से लेकर १९६८ तक के ४५ वर्षों का समय लगा, जिसकी चर्चा इस कालावधि में विभिन्न अवसरों पर वे करते रहे।

इस प्रकार कलकत्ता के स्वर्गीय पं० दीनबन्धु जी वेदशास्त्री को अपनी ४५ वर्षों की निरन्तर खोजबीन के उपरान्त बंगला भाषा में लिखे गए दयानन्द की जीवनी सम्बन्धी जो मूल हस्तलेख अथवा उनकी प्रतिलिपियां प्राप्त हुईं, उन्हें उन्होंने १९६८ ई० में क्रमबद्ध कर उनका हिन्दी अनुवाद करना प्रारम्भ किया। यह अनुवाद करके वे सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के साप्ताहिक मुखपत्र 'सार्वदेशिक' को क्रमशः भेजते रहे जिसमें यह सारा विवरण 'महर्षि दयानन्द सरस्वती की अज्ञात जीवनी' शीर्षक से उनके ५ जनवरी १९६९ से लेकर ८ नवम्बर १९७० तक के अंकों में ६६ किस्तों में सर्वप्रथम प्रकाशित हुआ।

इस आत्मचरित्र से ही सर्वप्रथम दयानन्द की उन यात्राओं की जानकारी मिली जिनकी आर्यजगत् को पिछले १०० वर्षों से तलाश थी और जिनके विस्तार क्षेत्र की पहले चर्चा की जा चुकी है। इससे हमें दयानन्द की तीन नई यात्राओं की जानकारी मिलती है जो उन्होंने १८५५-६० के मध्य कीं। इन में से, **पहली** यात्रा कुम्भ मेले के उपरान्त उत्तराखण्ड के श्रीनगर से काश्मीर के श्रीनगर तक जाने पुनः वहाँ से अमरनाथ, गन्धरबल, कंगन, मट्टन, कार्गिल, लेह, हिमिस गोम्पा तक जाने और वहाँ से वापस उत्तराखण्ड तक आने की है। **दूसरी** उत्तराखण्ड की यात्रा के उपरान्त गंगोत्री से गंगासागर तक की अर्थात् ऋषिकेश, देहरादून, यमुनोत्तरी, उत्तरकाशी, गंगोत्री, केदारनाथ, वसुधारा, सतोपंथ, अलकापुरी शिखर, मानसोद्भव तीर्थ, मानसरोवर, कैलाश, ल्हासा, दार्जिलिंग, नाटोर, बैरकपुर, कलकत्ता, गंगासागर, नवद्वीप, कामरूप, पशुरामकुण्ड, नेपाल, कलकत्ता और पुरी तक की यात्रा है, जो १८५६-५७ में की गई थी। **तीसरी** यात्रा नासिक से प्रारम्भ होकर शृंगेरी, बंगलौर, मैसूर, कांची, त्रिचनापल्ली, मदुरा, रामेश्वर, धनुष्कोटि, तलैमन्नार, कोलम्बो, कांडी, आदम शृंग, अनुराधापुर, पुनः धनुष्कोटि और कन्याकुमारी आने तक की है जिससे आर्यावर्त्त का वह सारा क्षेत्र दयानन्द द्वारा घूम लिया जाता है जिसका संकेत हम ने पहले दिया था।

निश्चय ही, इसी आधार पर सिद्ध हो जाता है कि 'अज्ञात जीवनी' में ऐसी कोई बात नहीं थी जिसे लेकर उसे मनगढ़न्त ठहराया जा सके अथवा उसे एक औपन्यासिक रचना करार दिया जाय। फिर भी, पूर्वाग्रहपूर्वक 'अज्ञात जीवनी' को उपन्यासमात्र अथवा षड्यन्त्र का निराधार आरोप लगाने वालों से पूछा जा सकता है कि—

(१) जब 'पूना-प्रवचन' और 'थियासोफिस्ट' में छपे 'जन्मचरित्र' के आधार पर लिखे गए सभी जीवनचरित्रों में दयानन्द का जन्म से लेकर नर्मदा-स्रोत पहुंचने तक का जीवनचरित्र उपलब्ध था, और केवल सन् १८५६ से लेकर १८६० तक के मध्यवर्ती ४ वर्षों का ही जीवनचरित्र अज्ञात था, तब यदि कोई षड्यंत्रपूर्वक इस अन्तराल को दयानन्द द्वारा मेरठ में कहे गए इस वाक्य कि "मैं एक बार गंगोत्री से चलकर गंगासागर तक और एक बार गंगोत्री से रामेश्वर तक गया था" को आधार बनाकर भरने का प्रयास करता तो उसके लिए यही स्वाभाविक होता कि वह दयानन्द के नर्मदास्रोत पर समाप्त हो रही इस यात्रा को आगे बढ़ाकर रामेश्वर तक ले जाता और उन्हें वहां से वापस गंगोत्री लाकर गंगासागर पर्यन्त घुमाकर ४ वर्षीय अन्तराल की पूर्ति करता। परन्तु 'अज्ञातजीवनी' के षड्यंत्रकारियों ने ऐसा नहीं किया। क्यों?

(२) सभी आत्मचरित्रों और जीवनचरित्रों में कुम्भ मेले (१८५५ ई०) के उपरान्त सीधे उत्तराखण्ड की यात्रा पर जाने का उल्लेख था। 'अज्ञातजीवनी' के तथाकथित षड्यंत्रकारियों को इसके मध्य कश्मीर और लद्दाख तक की यात्रा डालने का साहस कैसे हुआ?

(३) इसी प्रकार उत्तराखण्ड की यात्रा के उपरान्त दयानन्द का काशीपुर आकर नर्मदास्रोत तक की यात्रा का विवरण उपलब्ध था, लेकिन 'अज्ञात जीवनी' के तथाकथित षड्यन्त्रकारियों को इसे नजरअन्दाज कर उत्तराखण्ड से ही दयानन्द की कैलाश, मानसरोवर, तिब्बत, पूर्वोत्तर भारत, नेपाल और पुरी तक की यात्राओं का विवरण देने का साहस कैसे हुआ?

(४) 'अज्ञात-जीवनी' के ये अज्ञात षड्यंत्रकारी जब षड्यंत्र करने पर तुल ही गए थे, तो उन्होंने दयानन्द द्वारा स्वयं लिखाई गई उत्तराखण्ड की विस्तृत यात्रा और आगे काशीपुर से नर्मदास्रोत तक की उपलब्ध यात्राओं का विवरण क्यों छोड़ दिया? इनका उपयोग तो वे अपनी तथाकथित औपन्यासिक रचना को अधिक रोमांचक बनाने में कर

ही सकते थे ?

(५) दयानन्द के जितने आत्मचरित्र और जीवनचरित्र १९६९-७० से पूर्व उपलब्ध थे, उनमें टिहरी पहुंच के सन्दर्भ में लिखा था कि "इनमें से तन्त्र की पुस्तकें मेरी देखी हुई नहीं थीं, इसलिए उनसे मांगीं।" इसके विपरीत इसके पूर्व ही काशी में दयानन्द द्वारा तन्त्रशास्त्रों का पाठ करने का उल्लेख कोई षड्यंत्रकारी कैसे कर सकता था, जबकि बड़ौदा से काशी जाना भी विवादास्पद था ? 'अज्ञात-जीवनी' के इस अंश के ११ मई १९६९ के 'सार्वदेशिक' के अंक में प्रकाशन के ६ वर्ष बाद जब मार्च १९७५ में पहली बार दयानन्द की आत्मकथा का हस्तलेख प्रकाशित हुआ जिसमें लिखा था कि "तब मैंने कहा कि और ग्रन्थ तो मैंने देखे हैं, **परन्तु तन्त्रग्रन्थ देखना चाहता हूँ।**" दयानन्द के इस कथन का यह आशय कदापि नहीं है कि उन्होंने तन्त्रग्रन्थों को टिहरी पहुंचने से पूर्व काशी में कतई देखा ही नहीं था। इसका आशय तो मात्र इतना ही है कि उन्होंने इस विषय के थोड़े से ही ग्रन्थ देखे थे, अतः वे कुछ ग्रन्थ और देखना चाहते थे। अधिकाधिक जानने की इसी जिज्ञासावश उन्होंने आगे जाकर श्रीनगर में भी तन्त्र-ग्रन्थों को देखा। तब क्या ये षड्यंत्रकारी भविष्य में स्पष्ट हो सकने वाली बात का भी पूर्वज्ञान रखते थे, जो उन्होंने तात्कालिक जानकारी के विरुद्ध यह सब 'अज्ञात-जीवनी' में लिखा ?

उल्लेखनीय है कि अभी तक जिन स्वामी सच्चिदानन्द परमहंस से दयानन्द की भेंट बड़ौदे में हुई बताई जाती थी, वह नवीन अनुसंधानों से गलत सिद्ध हो गई है। क्योंकि उक्त परमहंस जी काशी के ही रहने वाले थे जैसा कि 'अज्ञात-जीवनी' में कहा गया है।

इस प्रकार हमारे सम्मुख दयानन्द के तीन आत्मचरित्र क्रमशः कलकत्ता-कथ्य, पूना-प्रवचन व 'थियासोफिस्ट' पत्रिका के लिए लिखित 'जन्म-चरित्र' आते हैं। इन तीनों आत्मचरित्रों के पारस्परिक संगति-स्थापन की समस्या आर्य विद्वानों के सम्मुख चिरकाल से थी, परन्तु कोई भी आर्य विद्वान् इस समस्या को इस सिद्धान्त के आधार पर कि 'एक व्यक्ति एक समय में एक ही स्थान पर रह सकता है' हल नहीं कर पाया था। सौभाग्य से यह कार्य मैंने २२ मार्च से ३१ मार्च १९८३ ई० के मध्य प्रथम बार सम्पन्न किया और 'ऋषि दयानन्द के हरिद्वार से मथुरा तक के साढ़े पाँच वर्ष' शीर्षक शोध लेख लिखकर जब उसे मई १९८३ में मुद्रित कराकर आर्य विद्वानों को विचारार्थ भेजा तो उसका अभूतपूर्व

स्वागत हुआ। इस प्रकार दयानन्द के जीवनचरित्रों के सम्बन्ध में उस समस्या का हल हो गया जो पिछले लगभग १०० वर्षों से संसार के सामने थी।

इन तीन आत्मचरित्रों के संयोजन के उपरान्त भी कुछ अवधियां ऐसी रह जाती हैं जिनके लिए किसी भी आत्मचरित्र में कुछ भी नहीं लिखा अथवा कहा गया है। अब तक अज्ञात ऐसी मुख्य समयावधियाँ ये हैं—

(क) **श्रीनगर (उत्तराखण्ड) से श्रीनगर (काश्मीर) की यात्रा (१८५५ ई०) :** चूंकि दयानन्द को इसकी वापसी यात्रा लिखनी अभीष्ट नहीं थी, अतः इस यात्रा को भी उन्होंने नहीं लिखाया, ऐसा प्रतीत होता है।

(ख) **श्रीनगर (काश्मीर) से श्रीनगर (उत्तराखण्ड) की यात्रा (१८५५-५६ ई०) :** इस अवधि में दयानन्द ११ अक्टूबर १८५५ को हरिद्वार के पहाड़ पर अगले स्वतन्त्रता संग्राम की तैयारी विषयक एक सभा में सम्मिलित हुए थे। श्री निहालसिंह आर्य (दिल्ली) के अनुसार स्वामी दयानन्द सरस्वती इसी अवधि में ११ बार नाना साहब से मिले थे, और हो सकता है कि वे इसी अवधि में बिठूर (कानपुर) भी गए हों।

(ग) **पुरी से उत्तरभारत की यात्रा (जुलाई से अक्टूबर १८५७ ई०) :** इस अवधि में दिल्ली में स्वातन्त्र्य युद्ध लड़ा गया था, जिस में क्रान्तिकारियों को पराजय मिली थी। इस समय दयानन्द दिल्ली के आस-पास सक्रिय थे।

(घ) **नर्मदास्रोत से नासिक तक की यात्रा (१८५८-५९ ई०) :** यह वह समय था जब तात्या टोपे होशंगाबाद के निकट नर्मदा नदी को पार कर मुलताई होते हुए नासिक के उत्तर में छोटा उदयपुर की ओर बढ़ रहे थे।

(ङ) **कन्याकुमारी से मथुरा तक की यात्रा (१८६० ई०) :** दयानन्द ने नाना साहब को कन्याकुमारी में संन्यास देकर उन्हें विदा कर दिया। पुनः वे कहां-कहां होकर मथुरा पहुंचे, इसका विवरण अज्ञात है। द्वारिका की एक घटना से, जो सत्यार्थप्रकाश में वर्णित है, यह अनुमान होता है कि वे द्वारिका होकर मथुरा पहुंचे होंगे। स्व० पं० श्रीकृष्ण शर्मा, आर्योपदेशक राजकोट के अनुसार 'कहा जाता है कि नाना साहब पुनः महर्षि को मिले थे, जिसके फलस्वरूप अपनी जन्मभूमि प्रान्त सौराष्ट्र में ही उनके गुप्तवास के लिए महर्षि ने प्रबन्ध

कर दिया था। सौराष्ट्र के राजनीतिक वातावरण में घर-घर में आज भी (अर्थात् १९६४ में भी) चर्चा चलती रहती है कि "नाना साहब का सन्ध्याकाल मोर्वी में और उनके किसी भाई या साथी का अंतकाल सीहोर (सौराष्ट्र) में व्यतीत हुआ था। सौराष्ट्र के पत्रों में अनेक ऐसे लेख छपे हैं, जिनमें बतलाया गया है कि सन् ५७ की क्रांति के पश्चात् एक विशालकाय प्रतिभासम्पन्न साधु ने मोर्वी के नगर सेठ को आकर एक पत्र दिया था। उसके आधार पर नगर सेठ ने उनको आश्रय दिया था। उस साधु ने नगर सेठ के बीमार पुत्र की चिकित्सा भी की थी जिससे वह पुत्र अच्छा हो गया। वह साधु कौन था ? वह किसका पत्र लेकर आया था ? इन प्रश्नों का एक ही उत्तर दिया जाता है कि वे साधु थे श्री नाना साहब पेशवा और वह पत्र था महर्षि दयानन्द का।"

इस प्रकार पूर्वोक्त समयावधियों का वैसा होना, जिनमें दयानन्द को १८५७ के स्वातन्त्र्य युद्ध में सक्रिय भागीदारी के कुछ संकेत अन्य स्रोतों से ही मिलते हैं, परन्तु उनके अपने लेख व कथ्य के रूप में नहीं, यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि उनकी इस युद्ध में सक्रिय एवं महत्त्वपूर्ण भागीदारी थी, तभी उन्होंने इन अवधियों की अपनी गतिविधियाँ नहीं लिखाईं।

१८५७ के भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में दयानन्द की सहानुभूति किस पक्ष के साथ थी, यह उनके स्वयं के एक लेख से स्पष्ट है। सत्यार्थ-प्रकाश के ११वें समुल्लास में वे लिखते हैं कि 'जब संवत् १९१४। अर्थात् १८५७ ई०) के वर्ष में तोपों के मारे मंदिर, मूर्ति अंग्रेजों ने उड़ा दी थीं, तब मूर्तियां कहां गई थीं ? प्रत्युत बाघेर लोगों ने जितनी वीरता की, शत्रुओं (अर्थात् अंग्रेजों को) मारा, परन्तु मूर्ति एक मक्खी की टांग भी न तोड़ सकी। जो श्रीकृष्ण के सदृश कोई होता तो इनके (अर्थात् अंग्रेजों के धुर्रे उड़ा देता और ये (अर्थात् अंग्रेज) भागते फिरते (अर्थात् भारतवर्ष छोड़कर चले जाते)।'

यही नहीं, इसके लिए उन्होंने भारतीयों को इस काल में युद्ध करने की प्रेरणा भी दी होगी, यह परोक्षरूप से 'संस्कृतवाक्यप्रबोध' नामक पुस्तक में उपलब्ध इन प्रश्नोत्तर से सुस्पष्ट है कि "इस समय सभा में किस विषय पर विचार करना चाहिए ? युद्ध अर्थात् लड़ाई का। उसके साथ युद्ध करना चाहिए वा नहीं ? यदि करना चाहिए, तो कैसे ? यदि वह धर्मात्मा हो तब तो उससे युद्ध करना ठीक नहीं, और जो पापी हो तो उसके साथ

युद्ध करना ही चाहिए। वह अन्याय से प्रजा को निरन्तर पीड़ा देता है, इस कारण से वड़ा पापी है। यदि ऐसा है तो शस्त्र-अस्त्र फेंकने वा चलाने में और युद्ध में कुशल, बड़ी लड़ने वाली, खजाना और अन्नादि सामग्री सहित सेना युद्ध के लिए भेजनी चाहिए। सच है, इसमें हम सब लोग सम्मति देते हैं।"

प्रश्न यह है कि क्या दयानन्द अंग्रेजों को अन्यायी समझते थे? उत्तर यह है कि अवश्य। क्योंकि उन्होंने कहा था कि 'अंग्रेज लोग अपने मनुष्यों पर अत्यधिक कृपा दृष्टि रखते हैं। यदि कोई गोरा या फिरंगी किसी देशी की हत्या कर दे और न्यायालय में कह दे कि मैंने शराब पी हुई थी तो उसको छोड़ देते हैं। **यह एक बड़ा अन्याय है**। यही दशा बिल्कुल दुर्योधन की थी। जब उसकी आँखें अपने नियत स्थान से निकल कर मस्तक पर चली गईं तो राज्य का सत्यानाश हो गया। इसी प्रकार यहां भी यदि अधिक अन्याय करेंगे तो राज्य अधिक न रहेगा, जैसा कि उन्होंने लखनऊ के बलवे में कुछ अंग्रेजों की हत्या के बदले में अनाथ और निरपराध हिन्दुस्तानियों को मार डाला।'[1]

युद्ध कैसे लड़ा जाना चाहिए, इसका विवरण दयानन्द ने सत्यार्थ-प्रकाश के छठे समुल्लास में 'मनुस्मृति' के कुछ श्लोकों के आधार पर दिया है। परन्तु उसमें केवल श्लोकों का अर्थ ही नहीं है, उन्होंने अपने अनुभव के आधार पर भी कुछ बातें जोड़ी हैं। यथा—'सब राजपुरुषों को युद्ध करने की विद्या सिखावे और आप सीखे तथा अन्य प्रजाजनों को भी सिखावें। जो पूर्ण शिक्षित योद्धा होते हैं, वे ही अच्छे प्रकार लड़-लड़ा जानते हैं।'[1] जब नगर, दुर्ग वा शत्रु की सेना में प्रविष्ट होकर युद्ध करना हो तब 'सूचीव्यूह' अथवा 'वज्रव्यूह'—जैसे दुधारा खड्ग दोनों ओर काट करता है, वैसे युद्ध करते जाएँ और प्रविष्ट भी होते चलें। वैसे अनेक प्रकार के व्यूह अर्थात् सेना को बनाकर लड़ावें। जो सामने शतघ्नी=तोप वा भुशुण्डी=बन्दूक छूट रही हो तो, 'सर्पव्यूह' अर्थात् सर्प के समान सोते-सोते चले जाएं। जब तोपों के पास पहुंचें, तब उनको मार वा पकड़ तोपों का मुख शत्रु की ओर फेर उन्हीं तोपों से वा बन्दूक आदि से उन शत्रुओं को मारें। अथवा वृद्ध पुरुषों को तोपों के मुख के सामने घोड़ों पर सवार करा दौड़ावें और मारें। बीच में अच्छे-अच्छे सवार रहें। एक बार धावा कर शत्रु की सेना को छिन्न-भिन्न कर पकड़ लें अथवा भगा दें।

---

१. पं० लेखराम, ऋ० द० सरस्वती का जीवन चरित्र, पृ० ३५५।

व्यूह के बिना लड़ाई न करावें।'

'राजपुरुषों का युद्ध समय में भी चौका लगाकर रसोई बनाके खाना अवश्य पराजय का हेतु है, किन्तु क्षत्रिय लोगों का युद्ध में एक हाथ से रोटी खाते, जल पीते जाना और दूसरे हाथ से शत्रुओं को घोड़े, हाथी, रथ पर चढ़ वा पैदल होके मारते जाना, अपना विजय करना ही आचार और पराजित होना अनाचार है। इसे मूढ़ता से इन लोगों ने चौका लगाते-लगाते, विरोध करते-कराते सब स्वातन्त्र्य, आनन्द, धन, राज्य, विद्या और पुरुषार्थ पर चौका लगाकर[1] हाथ पर हाथ धरे बैठे हैं और इच्छा करते हैं कि कुछ पदार्थ मिले तो पकाकर खावें। परन्तु वैसा न होने पर जानो सब आर्यावर्त्त देशभर में चौका लगाके सर्वथा नष्ट कर दिया।'— ऐसा दसवें समुल्लास में लिखा और बताया कि 'विदेशियों के आर्यावर्त्त में राज्य होने के कारण आपस की फूट, मतभेद, ब्रह्मचर्य का सेवन न करना, विद्या न पढ़ना-पढ़ाना व बाल्यावस्था में अस्वयंवर विवाह, विषयासक्ति, मिथ्या भाषणादि कुलक्षण, वेदविद्या का अप्रचार आदि कुकर्म हैं। जब आपस में भाई-भाई लड़ते हैं, तभी तीसरा विदेशी आकर पंच बन बैठता है।'[2]

'कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मतमतान्तर के आग्रहरहित अपने और पराए का पक्षपात-शून्य, प्रजा पर माता-पिता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।' दयानन्द के ये शब्द १ नवम्बर १८५८ को महारानी विक्टोरिया द्वारा इलाहाबाद में की गई क्षमादान की घोषणा की प्रतिक्रिया स्वरूप हैं कि 'Firmly relying ourselves on the truth of Christianity and acknowledging with gratitude the solace of religon, we disclaim alike the right and the desire to impose our convictions on any of our subjects. We declare it to be our royal will and pleasure that none be anywise favoured, none molested or disqualified by reason of their religious faith and observance, but that all shall alike enjoy the equal and impartial protection of the law, and we do strictly charge and enjoin all those who may be in authority under us that they abstain from all interefrence with the religious belief or worship of any of our sub-

---

१. १८५७ के स्वातन्त्र्य समर में भाग लेने वाले प्रजाजन पूर्वशिक्षित न होने से ही सफल नहीं हो पाये थे। यह बात ऋषि जानते थे।

२. १८५७ में ऋषि ने यह स्वयम् अनुभव किया। १८५७ में स्वदेश की यही स्थिति थी।

jects on pain of our highest displeasure'.

इस स्वातन्त्र्य युद्ध की असफलता के पश्चात् दयानन्द ने अनुभव किया कि विना वैदिक ज्ञान के विशुद्ध ज्ञान नहीं आ सकता। समाज संस्कार और जातीय जागरण वैदिक भित्ति पर हो"[1] इस सिद्धान्त को देश-हित और मानव हित के लिए दयानन्द ने ग्रहण किया था क्योंकि इस युद्ध का यही प्रतिफल निकला था जैसा कि जी० डब्ल्यू० फारेस्ट ने 'History of the Indian Mutiny' की भूमिका में लिखा है कि 'भारतीय क्रांति से इति-हासकारों को अनेक शिक्षाएं मिल सकती हैं किन्तु उसमें इससे बढ़कर कोई अन्य महत्त्वपूर्ण शिक्षा नहीं है कि भारत में ब्राह्मण और शूद्र, हिन्दू और मुसलमान हमारे (अर्थात् अंग्रेजों के) विरुद्ध संगठित होकर क्रांति कर सकते हैं और हमारे अधिराज्य के सम्बन्ध में यह मानना धोखे से खाली नहीं है कि विभिन्न धार्मिक रीति-रिवाजों का परिपालन करने वाली जातियों से जब तक यह देश परिपूर्ण है, तब तक हमारा यह राज्य शान्तिपूर्ण और स्थिर बना रहेगा, क्योंकि ये लोग एक दूसरे के रहन-सहन, रीति-रिवाज और व्यवहारों को भलीभांति समझते ही नहीं, उनके प्रति आदर भावना रखकर उनमें सहयोग भी प्रदान करते हैं। १८५७ की इस क्रांति ने हमें यह स्मरण करा दिया है कि हमारा आधिपत्य एक पतली परत पर आधा-रित है और समाज सुधार तथा धार्मिक क्रांति के विस्फोटों से यह किसी भी समय नष्ट हो सकता है।'

दयानन्द का उत्तरवर्ती सारा जीवन इसी निष्कर्ष को कार्यरूप में परिणत करने वाला है। फलतः उनके कार्यों से जिस समाज-सुधार की नींव रखी गई और जो धार्मिक क्रांति हुई, उसी के फलस्वरूप देश आगे चलकर ९० वर्षों के बाद १५ अगस्त १९४७ को स्वतन्त्र हो सका।

इस पर कुछ लोग पूछ सकते हैं कि 'क्या दयानन्द का सम्बन्ध नाना साहब इत्यादि १८५७ के प्रमुख क्रान्तिकारियों से रहा था?' तो हमारा उत्तर होगा कि अवश्य, क्योंकि ऐसा न केवल उनकी 'अज्ञात जीवनी' ही बताती है अपितु जीवन चरित्रों में भी उल्लेख आता है कि '(बम्बई में) किसी-किसी द्वेष-परायण दुष्ट ने सरकार को दयानन्द के विरुद्ध करने के लिए यहां तक कहा कि वह सिपाही-विद्रोह में भाग लेने वाले नाना साहब का भेजा हुआ दूत है।'[2] ऐसा जिस व्यक्ति ने कहा वह दयानन्द के नाना

१. अपना जन्म चरित्र, पृ० ३०४।

२. ऋ० द० सरस्वती का जीवनचरित्र, भाग-१, पृ० ३२२।

साहब के साथ के सम्बन्धों एवं सम्पर्कों के विषय में जानकारी अवश्य रखता था। क्योंकि जब दयानन्द कुम्भ के मेले में १८५५ के पूर्वार्द्ध में हरिद्वार में थे तो वहां उनका नाना साहब पेशवा, बाला साहब, अजीमुल्ला खां, तात्या टोपे, कुंवरसिंह तथा लक्ष्मीबाई से सम्पर्क हुआ था और तब दयानन्द ने कुम्भ मेले में पधारे अनेक साधु संन्यासियों से मिलकर उन्हें इस क्रांति में सक्रिय होकर भाग लेने की प्रेरणा दी थी। उन्हें कहा था कि 'उत्तर भारत में मेरठ की ओर, पूर्व भारत में बैरकपुर की ओर और दक्षिण भारत में वेल्लोर की ओर अवश्य जाना चाहिए। केवल आप लोग दिल्ली के योगमाया मन्दिर के पुरोहित त्रिशूल बाबा से सम्पर्क रखिएगा। वहां से नियमित समाचार मिलेगा और आप लोगों के समाचार भी हम को मिलने चाहिए।'[1] सो दयानन्द का उनसे समाचार प्राप्त करने का यह क्रम १८५७ की क्रांति की विफलता के बाद भी जारी रहा। इसीलिए उनके जीवन-चरित्रों में यह उल्लेख आता है कि 'गंगाघाट पर भ्रमण का कारण स्वामी जी यह बताते थे कि गंगा का जलवायु विशुद्ध और उपकारी है। वहां साधु-संतों का समागम और देश की स्थिति का परिज्ञान होता है।'[2] प्रतीत होता है कि गंगातट का विचरण करते हुए दयानन्द उन्हीं साधुओं से मिलकर देश का समाचार लेते थे जिनका उनसे हरिद्वार के इस कुम्भ मेले में सम्पर्क और और परिचय हुआ था। इन्हीं परिचितों में से किसी ने बम्बई में दयानन्द के नाना साहब से सम्बन्धित होने की बात फैलाई थी जो यथार्थ ही थी।

कुल मिलाकर दयानन्द का १८५५-६० का जीवनचरित्र कुछ ऐसा बनता है कि वे आबू से फाल्गुन-चैत्र सं० १९११ विक्रमी में मारवाड़, पुष्कर, अजमेर, जयपुर, अलवर, दिल्ली, मेरठ और गढ़मुक्तेश्वर होते हुए हरिद्वार के कुम्भ मेले में पहुंचे। मार्ग में उन्हें १८५७ की प्रस्तावित क्रांति की तय्यारियों के विषय में अनेक अनुभव हुए। हरिद्वार के कुम्भ में पहुंचकर वे चण्डी के पहाड़ पर ठहरे, जहां उनकी नाना साहब, बाला साहब, अजीमुल्ला खां, तात्याटोपे, कुंवरसिंह और लक्ष्मीबाई से भेंट हुई। इस अवसर पर मेले में उपस्थित शतशः साधु संन्यासियों और विभिन्न धर्म गुरुओं से दयानन्द ने भेंट की और उन्हें इस क्रांति में सहयोग देने के लिए प्रेरित किया, परन्तु निराशा ही पल्ले पड़ी। इसके साथ ही वे चण्डी के पहाड़ पर योगाभ्यास भी करते रहे। सर्वखाप पंचायत सोरम जिला मुजफ्फरनगर

१. अपना जन्मचरित्र, पृ० २३२।
२. ऋ० द० सरस्वती का जीवनचरित्र, भाग-१, पृ० ३१६।

से श्री निहालसिंह आर्य (दिल्ली) को प्राप्त ११ पन्नों में से यह तथ्य उजा-हुआ है कि 'सन् १८५५ के प्रारम्भ में सम्भवतः मार्च १८५५ के पूर्वार्द्ध में एक सभा मथुरा में भी हुई थी जिसमें बहादुरशाह जफर का पुत्र फिरोज-शाह, रावसाहब मराठा, बाला साहब मराठा, रंगोबापू, अजीमुल्ला खां और रमजान बेग उपस्थित थे। कुल उपस्थिति १५०० के लगभग थी। इस सभा में ब्रिटिश सरकार के हिंदुस्तानी सैनिकों एवं प्रजा में विद्रोह की भावना का प्रसार करने के लिए कमल-फूल और चपातियों के वितरण की योजना स्वामी ओमानन्द ने स्वामी पूर्णानन्द और अन्य साधुओं से मिलकर जिनमें स्वामी दयानन्द भी सम्मिलित थे, तय्यार की थी।'[1] इस प्रकार दयानन्द ने जो योजना अजीमुल्ला खां को बताई थी, वह स्वीकार कर ली गई।

मेले को समाप्ति पर दयानन्द अप्रैल (उत्तरार्द्ध) में ऋषिकेश चले गए और वहां कुछ दिन ठहरकर टिहरी होकर उत्तराखण्ड के श्रीनगर पहुंच गए। पुनः वहां से वे अमरनाथ, कश्मीर के श्रीनगर, गन्धरबल, कंगन, मट्टन, कार्गिल, लेह, हिमिस गोम्पा सितम्बर माह के पूर्वार्द्ध तक पहुंच गए। वहां से वापस लौटकर पुनः हरिद्वार आए। जहां ११ अक्टूबर १८५५ को एक सभा हुई, जिसमें स्वामी पूर्णानन्द, स्वामी विरजानन्द एवं स्वामी दयानन्द समेत ५६५ साधु एवं फकीर उपस्थित हुए थे। इस सभा में स्वामी पूर्णानन्द और साईं फखरुद्दीन ने भाषण दिए थे और देशोत्थान की प्रेरणा दी थी।[2]

यहां से दयानन्द सम्भवतः बिठूर तक गए और अनेक बार नाना साहब से मिले। फिर वापस आकर चैत्र(कृष्ण पक्ष)सं० १९१२ से कार्तिक १९१३ वि०पर्यन्त उत्तराखंड के विभिन्न स्थानों में घूमते रहे जिनमें श्रीनगर, शिवपुरी, केदारनाथ, ओखीमठ, जोशीमठ, बद्रीनारायण, अलखनंदा स्रोत, पुनः बद्रीनारायण एवं रामपुर सम्मिलित हैं। शिवपुरी में वर्षाकालीन ४ मासी पड़ाव के दौरान वे सम्भवतः मथुरा में भी आए, जहां भाद्रपद माह में कृष्ण जन्माष्टमी पर्व पर आयोजित उस सभा में भी सम्मिलित हुए जिसमें नानासाहब, अजीमुल्ला खां, रंगूबापू और बहादुरशाह जफर का एक शाह-जादा उपस्थित हुआ था, और स्वामी विरजानन्द ने सम्बोधित किया था।[3]

---

१. डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार, आर्यसमाज का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ६९६
२. वही, पृ० ६९७।
३. वही, पृ० ६९५-९६।

उत्तराखण्ड की यात्रा सम्पन्न करके दयानन्द ऋषिकेश, देहरादून, यमुनोत्तरी, उत्तरकाशी, गंगोत्री, केदारनाथ, वसुधारा, सतोपंथ, अलकापुरी शिखर, मानसोद्भव तीर्थ होकर मानसरोवर और कैलाश गए जहां से ल्हासा होकर दार्जिलिंग, नाटौर और बैरकपुर आए, जहां मंगलपाण्डे उनसे आकर मिला। यह फरवरी १८५७ की बात है। बैरकपुर से दयानन्द कलकत्ता आकर गंगासागर, नवद्वीप, कामरूप, परशुराम कुण्ड तक गए और पुनः बिहार होते हुए नेपाल में काठमांडू, पशुपतिनाथ एवं मुक्तिनाथ तक गए। फिर वापस कलकत्ता लौटे और वहां से पुरी तक गए। इस प्रकार जून १८५७ बीत गया।

पुरी में ही दयानन्द को उत्तरी भारत में क्रांति आरम्भ हो जाने की जानकारी मिली, जिससे वे दिल्ली आ गए और उसके आसपास सक्रिय रहे। इस क्षेत्र में वे अपने जैसे एक बलिष्ठ ब्रह्मचारी के साथ घोड़े पर सवार के रूप में देखे गए। दिल्ली की पराजय के उपरान्त वे गंगोत्री की ओर चले गए और वहां से चलकर काशीपुर, द्रोण सागर, मुरादाबाद, सम्भल, गढ़मुक्तेश्वर, फर्रूखाबाद, शृंगीरामपुर, होकर वे जब कानपुर पहुंचे तब संवत् १९१४ समाप्त हो गया।

फिर वे कानपुर और प्रयाग के मध्यवर्ती स्थानों पर अगले पांच महीनों तक घूमते रहे। इस बीच इस क्षेत्र में अनेक घटनाएँ घटीं जिनमें से प्रमुख नाना साहब आदि का बरेली जाना, कुंवर सिंह का आजमगढ़ पर अधिकार होना, तात्याटोपे का बेतवा तट पर अंग्रेजों से पराजित होना, अंग्रेजों द्वारा झांसी पर अधिकार कर लेना, २४ मई को कालपी में रानी लक्ष्मीबाई, बांदा के नवाब और नाना साहब के भतीजे राव साहब की ह्यू रोज से पराजय, ग्वालियर पर क्रान्तिकारियों का अधिकार होना, पुनः लश्कर की पहाड़ियों में १७ जून को लक्ष्मीबाई का वीरगति प्राप्त करना और जुलाई, अगस्त, सितम्बर में कैम्पवेल, होप ग्राण्ट और बालपोल द्वारा प्रमुख विद्रोहियों को ढूंढ़-ढूंढ़कर मार डालना—इत्यादि सम्मिलित हैं। इसके बाद दयानन्द इस युद्ध में क्रांतिकारियों की पराजय होती देख दक्षिण भारत की ओर चल पड़े और मिरजापुर काशी, चण्डालगढ़ होकर नर्मदा स्रोत की ओर चलते चले गये। १८५९ के प्रारम्भ में वे नासिक पहुंचे। यह वह समय था जब तात्याटोपे नर्मदा नदी को पार कर मुल्ताई होते हुए नासिक के उत्तर में छोटा उदयपुर की ओर बढ़ रहा था।

नासिक से दयानन्द शृंगेरी, बंगलौर, मैसूर, कांची, त्रिचनापल्ली, मदुरा, रामेश्वर, धनुष्कोटि होकर लंका तक गए और वहां तलैमन्नार,

कोलम्बो, कांडो, आदमश्रृंग, अनुराधापुर आदि स्थानों पर घूम फिर कर पुनः धनुष्कोटि आ गए और फिर १८६८ ई० के प्रारम्भ में कन्याकुमारी पहुंचे। जहां नाना साहब, तात्याटोपे एवं दुर्जयराव ने आकर उनसे भेंट की, और नाना साहब ने उनसे संन्यास ग्रहण कर दिव्यानन्द स्वामी नाम ग्रहण किया। यहां से नाना साहब आदि सौराष्ट्र में अपना शेष जीवन बिताने के लिए चले गए और दयानन्द भी सम्भवतः द्वारिका होकर मथुरा में गुरु विरजानन्द जी की शरण में १४ नवम्बर १८६० को पहुंचे। इसके आगे उनका जीवन-चरित्र सर्वज्ञात है ही।[1]

तात्याटोपे को शिवपुरी में १८ अप्रैल १८५६ को फांसी नहीं हुई थी, अब यह अनेक प्रमाणों से सिद्ध हो चुका है। इसी प्रकार नाना साहब की भी नेपाल में मृत्यु नहीं हुई, अपितु वे बहुत वर्षों तक जीवित रहे। इस विषय में पर्याप्त साहित्य लिखा जा चुका है। स्वयम् अंग्रेजों ने भी ऐसा स्वीकार नहीं किया, यह इसी बात से सिद्ध है कि सन् १८६२ ई० के जुलाई महीने में नानासाहब और तात्याटोपे समेत उनके साथियों को पकड़ने के लिए अंग्रेजों ने एक इश्तिहार जारी किया था। यदि नाना साहब और तात्याटोपे जुलाई १८६२ में जीवित न होते तो उनके नाम इस इश्तिहार में क्यों आते?

इस प्रकार हम पाते हैं कि स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती योगी द्वारा 'सार्वदेशिक' साप्ताहिक पत्र में छपी ऋषि दयानन्द की **'अज्ञात जीवनी'** के १९७२ में प्रकाशित पुस्तकाकार संस्करण **'योगी का आत्म-चरित्र'** में वर्णित ऋषि दयानन्द की यात्राएँ काल्पनिक न होकर वास्तविक ही हैं। जिनको भले ही कतिपय वर्तमान विद्वान् अपने पूर्वाग्रहों के कारण स्वीकार न करें, परन्तु आर्य जाति की भावी सन्तति उन्हें अवश्य स्वीकार करेगी और इसके लिए वह पं० दीनबन्धु वेदशास्त्री एवं स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती योगी के प्रति अवश्य कृतज्ञ होगी। हमने और स्वामी जी के यशस्वी पुत्र डा० वेदव्रत 'आलोक' ने ऋषि दयानन्द की इस प्रकार उपलब्ध तीनों ही आत्मकथाओं का **'अपना जन्म-चरित्र'** के नाम से १९८७ में एक संयुक्त संस्करण प्रकाशित कर स्वामी जी की अगली पीढ़ी पर उनके ऋण से उऋण होने का एक तुच्छ प्रयास किया है।

स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती योगी को 'अज्ञात-जीवनी' के जिन

---

१. ऋषि दयानन्द के प्रारम्भिक ४० वर्षीय (१८२४–६४ ई०) जीवनक्रम को पृथक् से दिया जा रहा है। अगला लेख देखें।

अंशों ने अपनी ओर आकृष्ट किया वे उस में वर्णित योग-विषयक कतिपय ऐसे समाधान थे जिनको वे अन्यत्र कहीं नहीं पा सके थे। परन्तु कतिपय आर्य विद्वान् 'योगी के आत्म-चरित्र' में वर्णित योग विषयक विवरणों को ऋषि दयानन्द के आर्य सामाजिक क्षेत्र में प्रचलित सिद्धान्तों के विपरीत मानते हैं। ऐसे विद्वानों की संतुष्टि के लिए हम ऋषि दयानन्द के 'थियासोफिस्ट' पत्रिका के दिसम्बर १८८० के अंक में कर्नल एच० एस० आल्काट द्वारा उनसे अगस्त १८८० में मेरठ में लिये गए साक्षात्कार के रूप में प्रकाशित विचारों को आगे उद्धृत कर रहे हैं। इस साक्षात्कार के समय ३०-४० व्यक्ति उपस्थित थे जिन में से तीन व्यक्तियों ने ऋषि दयानन्द के इन कथनों की लिखित रूप से पुष्टि की थी। तथा ऋषि दयानन्द ने भी अपने इन कथनों का 'थियासोफिस्ट' पत्रिका में प्रकाशनोपरांत कभी खण्डन नहीं किया था—

"In reply to the request that without suggestion he would state what specific powers the proficient in Yoga enjoys, he said that the true Yogi can do that which the vulgar call miracles. It is needless to make a list of his powers, for practically his power is limited only by his desire and the strength of his will. Among other things he can exchange thoughts with his brother Yogis at any distance even though they be as far apart as one pole from the other, and have no visible, external means of communication such as the telegraph or post. He can read the thoughts of others. He can pass (in his inner self) from one place to another and so be independent of the ordinary means of conveyance and that at a speed incalculably greater than that of the railway engine. He can walk upon the water or in the air above the surface of the ground. He can pass his own soul (atma) from his own body into that of another person, either for a short time or for years as he chooses. He can prolong the natural term of the life of his own body by wiihdrawing his atma form it during the hours of sleep, and so, by reducing the activity of the vital processes to a minimum, avoid the greater part of the natural wear and tear. The time so occupied is so much time to be added to the natural sum of the physical existence of the bodily machine.

Q. Can a Yogi prolong his life to the following extent; say the natural life of his own body is seventy years, can he, just before the death of that body, enter the body of a child of six years, live

in that another term of seventy years, remove from that to another, and live in it a third seventy ?

A. He can, and can thus prolong his stay on earth to about the term of four hundred years.

Q. How many kinds of Yoga practices are there ?

A. Two—**Hatha Yoga** and **Raja Yoga.** Under the former the student unndergoes physical trials and hardships for the purpose of subjecting the body to the will. For example, the swinging of one's body from a tree, head downwards, at a little distance from five burning fires, etc. In **Raja Yoga** nothing of the kind is required. It is a system of mental training by which the mind is made the servant of the will. The one—**Hatha Yoga**—gives physical results: the other—**Raja Yoga**—spiritual powers. He who would become perfect in **Raja**, must have passed through the training in **Hatha.**

Q. But are there not persons who possess the **Siddhis,** or powers, of the **Raja Yoga** without ever having passed through the terrible ordeal of the **Hatha** ? I certainly have met three such in India, and they themselves told me that they had never submitted their bodies to torture.

A. Then they practised **Hatha** in their previous birth.

Q. Explain, if you pleaee, how we may distinguish between real and false phenomena when produced by one supposed to be a Yogi.

A. Phenomena and phenomenal appearances are of three kinds : the lowest are produced by sleight of hand or dexterity; the second by chemical and mechanical aids or appliances; the third, and highest, by the occult powers of man. Whenever anything of a startling nature is exhibited by either of the first two means, and it is falsely represented to have been of an unnatural or supernatural, or miraculous character, that is properly called a **Tamasha,** or dishonest deception. But if the true and correct explanation of such surpristng effect is given, then it should be classed as a simple exhibition of scientific, or technical skill, and is to be called **Vyavahar-Vidya.** Effects, produced by the sole exercise of the trained human will, without apparatus or mechanical aids, are true Yoga.

Q. You do not believe, then, that the Yogi acts contrary to Natural Laws ?

A. Never; nothing happens contrary to the laws of Nature. By Hatha Yoga one can accomplish a certain range of minor phenomena, as, for instance, to draw all his vitality into a single finger, or when in Dhyan (a state of mental quiescence) to know another's thoughts. By Raja Yoga he becomes a Siddha; he can do whatever he wills and know whatever he desires to know, even languages which he has never studied. But all these are in strict harmony with Natural Laws.

Q. I have occasionally seen inanimate articles duplicated before my eyes, such as letterss, coins, pencils, articles of jewellery; how is this to be accounted for ?

A. In the atmosphere are the particles of every visible thing in a highly diffused state The Yogi knowing how to concentrate these, does so by the exercise of his will, forms them into any shape of which he can picture to himself the model."

जहां तक उक्त सिद्धियों का प्रश्न है—डॉ० रामनाथ वेदालंकार एम०ए० ने इन्हें ऋग्वेद के १०वें मण्डल के १२वें सूक्त के सात मंत्रों के आधार पर साप्ताहिक 'सार्वदेशिक' के शिवरात्रि अंक (५ मार्च १९८९ में प्रकाशित अपने एक लेख द्वारा वेदानुकूल सिद्ध किया है। ऋषि दयानन्द के जीवन-चरित्रों के अध्येता जानते हैं कि ऋषि दयानन्द को भी ऐसी अनेक सिद्धियां प्राप्त थीं।

कस्यादेशात् क्षपयति तमः सप्तसप्तिः प्रजानाम् ?
छायाहेतोः पथि विटपिनाम् अञ्जलिः केन बद्धः ?
अभ्यर्थ्यन्ते जल-लव-मुचः केन वा वृष्टिहेतोः ?
जात्यैवैते परहित - विधौ साधवो बद्ध-कक्ष्याः ॥

सूर्य मान आदेश किसी का, क्या जग का तम हरता है ?
पथ में छाया देता तरु कब, हाथ बंधाया करता है ?
जल-कण-वर्षा-हित मेघों ने, किसे प्रार्थना बाध्य किया ?
परहित सज्जन सहज स्वयं कटिबद्ध सदा ही रहता है ॥

'अपना जन्मचरित्र' के आधार पर ऋषि दयानन्द के प्रारम्भिक ४० वर्षों की घटनाएँ और यात्राक्रम (अनुमानित)

—इ० आदित्यपालसिंह आर्य

क्रम	घटना, स्थान एवं यात्रा	विक्रम संवत्	ई० सन्
१.	जन्म टंकारा में	भाद्रपद शुक्ल ६, गुरुवार १८८१ वि०	२ सितम्बर, १८२४ ई०
२.	नामकरण संस्कार, 'मूलशंकर'	पौष कृष्ण ५-६, शनिवार १८८१ वि०	११ दिसम्बर १८२४ ई०
३.	प्रथम जन्मोत्सव	भाद्रपद शुक्ल ६, मंगलवार सं० १८८२ वि०	२० सितम्बर १८२५ ई०
४.	विद्यारम्भ-संस्कार	सं० १८८६ वि०	सन् १८२६ ई०
५.	यज्ञोपवीत-संस्कार	सं० १८८६ वि०	सन् १८३२ ई०
६.	शिवरात्रि का व्रत	फाल्गुन कृष्ण १३-१४, गुरुवार संवत् १८६४ वि०	२२ फरवरी १८३८ ई०
७.	बहन की मृत्यु	संवत् १८६६ वि०	सन् १८४२ ई० की ग्रीष्म ऋतु में
८.	चाचा की मृत्यु	संवत् १६०० वि०	सन् १८४३ ई० की ग्रीष्म ऋतु में

९. काशी भेजने का निवेदन और जमींदारो के गांव में अध्ययनार्थ जाना	संवत् १९०१ वि०	सन् १८४४ ई०
१०. विवाह का अन्तिम प्रयत्न	संवत् १९०२ वि०	सन् १८४५ ई०
११. गृह-त्याग	आश्विन कृष्ण पक्ष संवत् १९०२वि०	सितम्बर १८४५ का उत्तरार्द्ध
१२. सायले शहर में योग-साधना एवं ब्रह्मचारी शुद्ध चतन्य नाम ग्रहण	आश्विन-कार्तिक संवत् १९०२ वि०	अक्तूबर १८४५ ई०
१३. कोटकांगड़ में	कार्तिक कृष्ण पक्ष संवत् १९०२वि०	अक्टूबर १८४५ ई० उत्तरार्द्ध
१४. सिद्धपुर के मेले में पिता द्वारा पकड़ा जाना एवं पुन: मुक्ति	कार्तिक शुक्ल पक्ष संवत् १९०२वि०	नवम्बर १८४५ ई० का पूर्वार्द्ध
१५. अहमदाबाद में	मार्गशीर्ष संवत् १९०२ वि०	मध्य नवम्बर से मध्य दिसम्बर १८४५ ई० तक
१६. वड़ौदा में	पौष (कृष्ण पक्ष) संवत् १९०२ वि० से पौष (कृष्ण पक्ष) संवत् १९०३	दिसम्बर १८४५ के अन्तिम सप्ताह से दिसम्बर १८४६ के तृतीय सप्ताह पर्यन्त
१७. वड़ौदा से काशी	पौष (शुक्ल पक्ष) संवत् १९०३ से माघ (शुक्ल पक्ष) संवत् १९०३ वि०	दिसम्बर १८४६ के अन्तिम सप्ताह से जनवरी १८४७ के अन्तिम सप्ताह में
१८. काशी में विद्याध्ययन	माघ (शुक्ल पक्ष) संवत् १९०३ से भाद्रपद संवत् १९९४ वि० पर्यन्त	फरवरी से सितम्बर १८४७ई०

१९. काशी से बिलासपुर, अमरकंटक, मंडला, जबलपुर, ब्रह्मांडघाट, होशंगाबाद, ओंकारेश्वर, मण्डलेश्वर, महेश्वर, धर्मपुरी, कालभैरव की गुफा में बलिदान का प्रयत्न, धर्मपुरी, मांडवगढ़, हिरणफाल तीर्थ, शूलपाणि तीर्थ, राजघाट (बड़वानी), चाणोद	भाद्रपद संवत् १९०४वि० से फाल्गुन सं०१९०४ वि० के मध्य तक माघ कृष्ण ३०, सं० १९०४ वि०	सितम्बर १८४७ ई० से मार्च १८४८ ई० के प्रारम्भ तक ५ फरवरी १८४८ ई०
२०. चाणोद में संन्यास ग्रहण कर स्वामी दयानन्द सरस्वती नामकरण	फाल्गुन संवत् १९०४ से आषाढ़ (कृष्ण पक्ष) संवत् १९०५ वि० से ज्येष्ठ। शुक्ल पक्ष संवत् १९०५वि०	मार्च से जून १८४८ के पूर्वार्द्ध तक
२१. व्यासाश्रम में स्वामी योगानन्द से योगाभ्यास की शिक्षा	आषाढ़(कृष्ण पक्ष) सं०१९०५ वि० से कार्तिक(शुक्ल पक्ष) सं०१९०५ वि०	जून १८४८ के उत्तरार्द्ध से नवम्बर १८४८ ई० के पूर्वार्द्ध तक
२२. सीनौर में पं० कृष्ण शास्त्री से व्याकरण का अध्ययन	मार्गशीर्ष (कृष्ण पक्ष) से फाल्गुन (कृष्ण पक्ष) संवत् १९०५ वि०	नवम्बर १८४८ के उत्तरार्द्ध से फरवरी १८४९ के उत्तरार्द्ध तक
२३. पुनः चाणोद एवं अहमदाबाद में ज्वालानन्दपुरी एवं शिवानन्द गिरि से योगविद्या शिक्षा	फाल्गुन(कृष्ण पक्ष) सं०१९०५ वि० से फाल्गुन (कृष्ण पक्ष सं०१९०८)	फरवरी १८४९ से फरवरी १८५२ पर्यन्त
२४. अहमदाबाद से आबू पर्वत पर और वहां योगाभ्यास	फाल्गुन (कृष्ण पक्ष) सं० १९०८ से फाल्गुन(कृष्ण पक्ष) सं०१९११ वि० तक	फरवरी १८५२ से फरवरी १८५५ ई० तक)

२५. आबू से मारवाड़, पुष्कर, अजमेर, जयपुर, अलवर, दिल्ली, मेरठ, गढ़-मुक्तेश्वर, हरिद्वार	फाल्गुन-चैत्र सं० १९११ वि०	फरवरी-मार्च १८५५ ई०
२६. हरिद्वार के कुम्भ मेले में (क्रांतिकारी नेताओं एवम् अनेक साधु-संतों से भेंट एवं योगाभ्यास)	फाल्गुन-चैत्र से वैशाख (कृष्ण पक्ष) सं० १९११-१२ वि०	फरवरी-मार्च से अप्रैल पूर्वार्द्ध सन् १८५५ ई०
२७. हरिद्वार से ऋषिकेश, टिहरी, श्रीनगर (उत्तराखण्ड), श्रीनगर (काश्मीर), अमरनाथ, श्रीनगर, गन्दरबल, कंगन, मटयन, कार्गिल, लेह शहर, हिमिस गोम्पा, श्रीनगर .. हरिद्वार... इत्यादि स्थानों पर भ्रमण और ऋषिकेश पहुंचना	वैशाख(शुक्ल पक्ष) सं०१९१२ वि० से फाल्गुन सं० १९१२ वि०	अप्रैल (उत्तरार्द्ध) १८५५ से मार्च (पूर्वार्द्ध) १८५६ ई० पर्यन्त
२८. उत्तराखण्ड-भ्रमण अर्थात् ऋषिकेश, टिहरी, श्रीनगर, शिवपुरी (वर्षा ऋतु में यहीं से सम्भवतः मथुरा-गमन और वापसी), केदारनाथ, ओखीमठ, जोशीमठ, बदरीनारायण, अलकनन्दा-स्रोत, बदरी-नारायण, रामपुर, ऋषिकेश	चैत्र (कृष्ण पक्ष) से कार्तिक सं० १९१३ वि० पर्यन्त	माच (उत्तरार्द्ध) से नवम्बर (पूर्वार्द्ध) सन् १८५६ ई० पर्यन्त

२९. **गंगोत्री से गंगासागर*** और पुरी पर्यन्त (अर्थात् ऋषिकेश, देहरादून, यमुनोत्तरी, उत्तरकाशी, गंगोत्तरी, केदारनाथ, वसुधारा, सतोपंथ, अलकापुरी शिखर, मानसोद्भवतीर्थ, मानसरोवर, कैलास, ल्हासा, दार्जिलिंग, नाटोर, बैरकपुर (में मंगलपाण्डे से भेंट), कलकत्ता, गंगासागर, नवद्वीप, कामरूप, परशुरामकुण्ड, नेपाल, मुंगेर, कलकत्ता, पुरी)	मार्गशीर्ष सं० १९१३ विक्रमी से आषाढ़ सं० १९१४ वि०	नवम्बर (उत्तरार्द्ध) १८५६ से जून १८५७ ई० पर्यन्त
३०. सन् १८५७ (संवत् १९१४) की क्रान्ति में भाग लेने पुरी से उत्तर भारत (दिल्ली के निकटवर्ती क्षेत्र) में, पुनः गंगोत्री की ओर	श्रावण(कृष्ण पक्ष) से कार्तिक सं० १९१४ वि० पर्यन्त	जुलाई से अक्टूबर १८५७ ई० पर्यन्त
३१. **गंगोत्री से रामेश्वर*** और श्रीलंका पर्यन्त [अर्थात् काशीपुर, द्रोणसागर, मुरादाबाद, सम्भल, गढ़मुक्तेश्वर, फर्रुखाबाद, शृंगीरामपुर, कानपुर-	मार्गशीर्ष १९१४ वि० से कार्तिक कृष्ण पक्ष १९१७ वि० पर्यन्त	नवम्बर १८५७ से नवम्बर (पूर्वार्द्ध) १८६० ई० पर्यन्त

---

* "मैं एक बार गंगोत्री से चलकर गंगासागर तक और एक बार गंगोत्री से रामेश्वर तक गया था।" महर्षि दयानन्द सरस्वती के जीवन चरित्र (भाग-२, पृ० २५२) में ऋ० द० का कथन।

प्रयाग (के मध्यवर्ती स्थान), मिर्जापुर, काशी, चाण्डालगढ़, नर्मदास्रोत की ओर, नासिक, शृंगेरी, बंगलौर, मैसूर, कांची, त्रिचिनापल्ली, मदुरा, रामेश्वर, धनुष्कोटि, तलैमन्नार, कोलंबो, कांडी, आदमश्रृंग, अनुराधापुर, पुनः धनुष्कोटि, कन्याकुमारी (में नाना साहब, तात्याटोपे एवं दुर्जयराव से भेंट एवं नाना साहब की संन्यासाश्रम में दीक्षा)...हाथरस, मुरसान, मथुरा]		
३२. मथुरा आगमन और स्वामी विरजानन्द से मथुरा और आगरा में रहकर ४ वर्ष तक विद्याध्ययन	कार्तिक (शुक्ल पक्ष) सं० १९१७ से आश्विन सं० १९२१ वि० पर्यन्त	[नवम्बर (उत्तरार्द्ध) १८६० से सितम्बर अक्टूबर १८६४ ई० पर्यन्त]

वह्निस्तस्य जलायते जलनिधिः कुल्यायते तत्क्षणात्,
मेरुः स्वल्पशिलायते मृगपतेः संघः कुरंगायते ।
व्यालो माल्यगुणायते विषरसः पीयूषवर्षायते,
यस्यांगेऽखिललोकवल्लभतमं शीलं समुन्मीलति ॥

उसके लिए आग पानी बन जाती है, समुद्र नहर बन जाता है, मेरु पर्वत छोटी शिला बन जाता है, शेरों का झुण्ड हिरण बन जाता है, सांप माला बन जाते हैं और विषरस अमृतवर्षा बन जाता है, जिसके अंग-अंग में संसारभर को वश में करने वाला शील उजागर होता है ।

स्वामी जी की अमर साहित्यिक देन

—मा० निहाल सिंह आर्य*

भारतवर्ष के महाविनाशकारी युद्ध 'महाभारत' के पश्चात् ५१२६ वर्ष बीत चुके हैं। अनेक ऐतिहासिक उथल-पुथल भरे युगों के इस दीर्घ अन्तराल में भारत राष्ट्र तथा आर्ष शिक्षा-पद्धति के उद्धारक जगदाचार्य, वेदमर्मज्ञ आदित्य ब्रह्मचारी, पूर्ण सिद्धयोगी, तत्त्ववेत्ता, महर्षि दयानन्द का आविर्भाव एक महत्त्वपूर्ण घटना है। उन का जीवन चरित्र लिखने वाले अनुमानतः सैकड़ों होंगे। वे सभी अक्षय यश तथा पुण्य के भागी हैं, जिन्होंने उस दिव्य आप्त महापुरुष के सच्चरित्र का वर्णन करके लाखों पाठकों को आर्य बनने का सुअवसर प्रदान किया। इस से आर्य संस्कृति के संवर्धन एवं परिपालन का मार्ग प्रशस्त हुआ है।

पं० दीनबन्धु जी वेद शास्त्री ने वर्षों तक घोर परिश्रम करके बंगाल में विभिन्न १२ सम्भ्रान्त घरों से महर्षि दयानन्द के जीवन की तब तक अज्ञात लिखित सामग्री का संकलन किया था। स्वामी सच्चिदानन्द जी ने ३३ मास उनके साथ रहकर उस पर चिन्तन-मनन किया। श्री वेद शास्त्री जी के साथ मिलकर बंगला से हिन्दी अनुवाद को संशोधित किया। उसी को अपने वर्षों के 'अनुसंधान' के साथ सम्पादित व पोषित कर (सन् १९७२ में 'योगी का आत्मचरित्र' नाम से प्रकाशित कराया। इस ग्रन्थ में महर्षि दयानन्द द्वारा देखे घूमे हुए महत्त्वपूर्ण स्थानों का परिचय और चित्र भी दिये गये थे। सन् १८५७ के स्वाधीनता संग्राम में महर्षि दयानन्द द्वारा साधु-संगठन और राजाओं से सहायता पाने का प्रयास आदि विशिष्ट सहयोग बड़ी उत्तमता से सप्रमाण सिद्ध करने में यह ग्रन्थ सफल हुआ। इसमें महर्षि की अज्ञात जीवनी का विवरण तिथि, संवत्, वार अन्य लेखकों के जीवन चरित्रों से भी मेल खाता है। जहां कहीं संगति ठीक से नहीं बैठपाई थी, उसे अब बहुत बारीकी से परिगणित करके, उन्हीं से प्रेरणा पाकर इं० श्री आदित्यपालसिंह जी तथा योगी के सुपुत्र डा० वेदव्रत 'आलोक' ने महर्षि का 'अपना-जन्मचरित्र' नाम से पुनः सम्पादित कर दिया

* 'ओ३म् भवन', बी-११, यादव पार्क, नांगलोई, दिल्ली-११००४१

हैं। ये दोनों ही कृतियां महर्षि-जीवनी के रहस्यों को उद्घाटित करने वाली अत्युत्तम शोध रचनाएं बन पड़ी हैं।

भारत के प्रथम स्वातन्त्र्य समर में ऋषि के योगदान पर शंका व्यक्त करने वालों स्वर्गीय सम्माननीय पं० सत्यकेतु जी विद्यालंकार लिखित 'आर्यसमाज का इतिहास' के प्रथम खण्ड के २३वें अध्याय को भली-भांति पढ़ना चाहिए। उसमें पृ० ६८८ से ७०६ तक अत्यन्त प्रबल प्रमाणों से इतिहास के इस महत्त्वपूर्ण अज्ञात सत्य को स्पष्ट कर दिया गया है। डा० सत्यकेतु ने सिद्ध किया है कि फ्रैंच उपन्यास 'मरियम' में क्रान्तिपत्र-वितरक बाबा सीताराम ने १८ से २५ जून १८५८ तक ८ दिन में ५८ पृष्ठों के बयान में बताया था कि "स्वातन्त्र्य युद्ध के गुप्त संचालक दश्श बाबा (अर्थात् स्वामी पूर्णानन्द जी सरस्वती थे। दक्षिण भारत में इस क्रान्ति के सहयोगी थे उन्हीं के शिष्य दीनदयाल जी" और यह नाम 'स्वामी दयानन्द' के ही नाम को छुपाने के लिए गढ़ा गया था।

स्वामी सच्चिदानन्द जी ने इस घटना के पोषण में जो तर्क दिया हैं, उसका भी कोई उत्तर किसी के पास नहीं है—"देश स्वतन्त्रता संग्राम में कूद पड़ा हो। साधु संन्यासी सब ही भाग ले रहे हों। दयानन्द कानपुर में हों और वे असंग रहें, असम्भव है। सन् ५७ की घटनाओं का तिथि वार मिलान कीजिए। फिर विचारिये उस भयंकर स्वतन्त्रता-संग्राम की आग भड़कने पर, दयानन्द जैसा भारत को जगाने वाला अग्रगण्य नेता, **आर्याभिविनय जैसे भक्तिपूर्ण ग्रन्थों में भी अखण्ड साम्राज्य की स्थापना करने वाला, सत्यार्थप्रकाश में विदेशी राज्य का घोर विरोध करने वाला,** लाट पादरी और गवर्नर से भी निर्भय हो भारत की आजादी की बात कहने वाला, क्या क्रान्ति से अलग-थलग रह सकता था ?"

—योगी का आत्मचरित्र 'अनुसंधान' पृ० १११।

नवम्बर-दिसम्बर १८८० ई० की थियासोफिस्ट पत्रिका में स्वयं महर्षि दयानन्द द्वारा लिखी गई 'आत्मकथा' में वे कहते हैं 'अगले पांच मास में कानपुर व प्रयाग के मध्यवर्ती अनेक प्रसिद्ध स्थान मैंने देखे।'

"During the following five months, I visited manya place between Canpur and Allahabad"

(आत्मकथा, पृ० १७ एवं ४३)

१८५७ की क्रान्ति के मुख्य नेता नाना साहब धुन्धु पन्त स्वामी दयानन्द से कई बार मिले थे, और उनको अपना मार्गदर्शक मानते थे। इसलिए क्रान्ति विफल होने पर उन्होंने स्वामी जी से ही संन्यास लेकर

स्वामी दिव्यानन्द नाम धारण कर लिया था। इसलिए स्वामी सच्चिदा-नन्द जी ने यह निष्कर्ष सूचित किया है—

"नाना साहब की समाधि मोरवी में बनी यह घोषित कर रही है कि नाना साहब ऋषि-शिष्य थे। इसीलिए उन्होंने मोरवी में प्रच्छन्न रूप से वास किया। मधु नदी के किनारे रेलवे लाइन के पास शंकर आश्रम में (नाना साहब की) समाधि वनी है।" (वही पृ० ११४)

मैंने अन्य अनेक स्रोतों से सामग्री इकट्ठी करके गणना की है कि "१८५७ में स्वामी दयानन्द विभिन्न क्रान्ति-नेताओं से २०-२५ बार मिले थे। अकेले नाना साहब से ११ बार मिले थे।" इसके लिए मेरा शोध-लेख 'चार वेदज्ञ योगी संन्यासी १८५७ स्वतन्त्रता संग्राम के संयोजक' द्रष्टव्य है, जो 'आर्यजगत्' साप्ताहिक पत्र में १६ मई १९८० को तथा मासिक पत्र 'सुधारक' (गुरुकुल झज्झर) के मार्च १९८६ अंक में छप चुका है।

कुछ विद्वान् शंका करते हैं कि अजीमुल्ला खां १८५५ को कुम्भ के अवसर पर इंगलैण्ड में था, वह स्वामी जी से कैसे भेंट कर सकता था। किन्तु सच्चिदानन्द जी ने वताया है—"१८५४ में नाना साहव ने उन्हें राजदूत के रूप में इंग्लैण्ड भेजा।" वीर सावरकर ने यही वर्ष अपने अमर ग्रन्थ '१८५७ का भारतीय स्वातन्त्र्य समर' में पृष्ठ ३३ पर दिया है।

स्वर्गीय डा० सत्यकेतु जी ने मुझे ११ जुलाई १९८८ को बताया था कि १९०३ ई० के 'वैदिक मैगजीन' नामक पत्र में एक लेख मिला है। इससे ज्ञात होता है कि १८८३ में महर्षि दयानन्द के मोक्षारोहण के श्रद्धा-ञ्जलि अर्पण के अवसर पर मैसूर राज्य के मन्त्री माधवनारायण ने कहा था-"१८५७ के संग्राम में स्वामी दयानन्द ने मैसूर के राजा से यह बोला था कि हम सब भारतीयों के परस्पर मेल-संगठन से ही भारत की स्वाधी-नता और उन्नति हो सकती है।" इस पत्रिका को देखने के लिए मैंने प्रो० राजेन्द्र जिज्ञासु जी को लिख भेजा है।

'योगी का आत्मचरित्र' के 'अनुसंधान' में पृ० १३३ से पृ० १४० तक 'ऋषि का हिमालय के समस्त पर्वतीय स्थलों में घूमना' शीर्षक से स्वामी सच्चिदानन्द जी ने जो सामग्री संकलित की है, वह उनकी विशिष्ट खोजी-वृत्ति और स्वयं यात्रा करके निश्चित की गई धारणाओं को स्पष्ट करती है। वि० २०१५ में छपी 'ऋषि दयानन्द स्वरचित' लिखित व कथित जन्मचरित्र' के छठे संस्करण से भी इस यात्रा विवरण का कोई विरोध नहीं, प्रत्युत वहुत मेल वैठता है।

स्वामी सच्चिदानन्द जी का सारा अनुसन्धान उनकी उसी तीव्र मेधा को प्रकट करता है जो बाल्यकाल से ही उनमें रही और आचार्य राजेन्द्रनाथ शास्त्री के रूप में उनके विविध क्रिया-कलापों के माध्यम से अनेकश: प्रकट होती रही। पूजनीय श्री स्वामी जी महर्षि दयानन्द के परम श्रद्धालु भक्त हैं। सारी आयु आर्यसमाज का गौरव बढ़ाने में, वेद-विद्या के प्रचार-प्रसार में और पाणिनि मुनि-प्रणीत अष्टाध्यायी-प्रणाली द्वारा आर्ष-शिक्षा-पद्धति के संचालन एवं अध्ययन-अध्यापन में ही कटिबद्ध रहे हैं। आप अपने युवाकाल से ही सदाचार की सचेत प्रतिमूर्ति मृदुभाषी, नम्र-स्वभाव संयमी और आत्मसम्मान से दीप्त रहे हैं। ऐसे धीर-स्वभाव योगी, आर्य-जगत् के पूज्य योग-निष्ठ मार्गदर्शक वेदशास्त्र-मनीषी को उनके अभिनन्दन पर अपनी शुभ कामनाओं सहित बधाई देता हूं और परमात्मा से प्रार्थना करता हूं कि उन्हें दीर्घकाल और उत्तम स्वास्थ्य प्रदान करे।

□

नास्माकं शिबिका न चास्ति कटकाद्यालंक्रिया सत्क्रिया,
नोत्तुंगस्तुरगो न कश्चिदनुगो नाप्यम्बरं सुन्दरम्।
किं तु क्ष्मातलवर्त्यशेषविदुषां साहित्यविद्याजुषां,
चेतस्तोषकरी शिरोनतिकरी विद्याऽनवद्यास्ति नः॥

हमारे पास रथ और पालकी नहीं हैं, सैन्यादि का भी कोई तामझाम नहीं है, न उत्तुंग तुरंग है, न कोई अनुचर है, न ही सुन्दर वस्त्र हैं; किन्तु पृथ्वी-तल पर विद्यमान समस्त साहित्य और विद्यासेवियों के चित्त को सन्तोष देने वाली, उनके सिरों को नत कर देने वाली, अनवद्य विद्या हमारे पास है।

काल-भैरव की यात्रा

ऋषि दयानन्द के जीवन की एक अज्ञात घटना की पुष्टि की खोज

—डा० वेदव्रत 'आलोक'*

मध्य प्रदेश में नर्मदा-नदी के तटवर्ती दुर्गम वनों में एक अज्ञात सा स्थान है काल-भैरव गुफा जिसे काला देव भी कहते हैं। आज से लगभग सवा सौ वर्ष पूर्व यहां नरबलि हुआ करती थी।

स्थान की भयंकरता एवम् उसके साथ जुड़ी उक्त महत्त्वपूर्ण घटना ने मुझे भी उस स्थान की यात्रा के लिए उत्सुक बना दिया। गत मास दिल्ली से इटारसी होते हुए हम २३ सितम्बर १९७३ को प्रात: ७।। बजे हरसूद पहुंचे। स्वामी सच्चिदानन्द योगी द्वारा प्रेरित हमारी मण्डली में कुल १७ व्यक्ति थे। आगे रास्ता बताने के लिए यहां स्वामी ओमानन्द उपस्थित थे। हरसूद के आगे रेलमार्ग नहीं था।

अगले दिन प्रात: पौने आठ बजे की बस से हम १२-१३ मील दूर नर्मदा के दक्षिणी-तट पर पहुंचे। सामने उत्तरी तट पर बड़केश्वर ग्राम दिखाई दे रहा था। नदी का पाट ४-५ सौ गज चौड़ा और उसका जल-स्तर तट से सौ फुट नीचा होगा। जब लोगों ने बताया कि हाल की बाढ़ में यही तट दस-दस फुट पानी में डूबा हुआ था तो मैं अवाक् रह गया।

नाव से नदी पार की। चार बैलगाड़ियां तैयार थीं। कुछ दूर गाड़ी में बैठकर चलने पर ही ज्ञात हो गया कि पैदल चलना अधिक सुखकर है। सारी राह में छोटे बड़े पत्थर पड़े थे, कहीं-कहीं कीचड़ थी। कब पहिया किसी पत्थर से टकराकर आदमी को ऊँचा उछाल दे और जमीन पर पटक दे, कौन जाने। रास्ते में कई नाले भी पड़े। आखिरी नाला अधिक गहरा था। वहां गाड़ियों से सामान उतार कर कंधों पर ढोना पड़ा। खाली बैल-गाड़ियां डूबती-उतराती किसी तरह पार हुईं, और उन पर सामान फिर से जमाया गया। दोपहर २ बजे 'डण्ठा' नामक गांव में पहुंचे।

रात्रि को ही ज्ञात हो गया था कि गुफा के साथ के जंगल में रहने वाले जंगली भीलों के गिरोह कभी-कभी आक्रमण कर यात्रियों को लूट भी लिया करते हैं। इसलिए स्वामी ओमानन्द एकाध बन्दूक का प्रबन्ध

---

* प्रवर प्रवक्ता संस्कृत विभाग, स्वामी श्रद्धानन्द कॉलेज, दिल्ली-३६

भी करना चाहते थे। खेमा पटेल के पास बन्दूक थी भी। पर उसकी जरूरत नहीं पड़ी।

२६ सितम्बर को सवेरे एक बरसाती नाला पार करने के पश्चात् जिस गांव में हम पहुंचे, उसका नाम था 'पामाखेड़ी'। यहीं से काल-भैरव की गुफा की ओर रास्ता जाता है। घने जंगल में होकर दस किलोमीटर जाने के पश्चात् गुफा आती है। इस बीच 'वारंगा' नामक एक नाला आता है, जिसे इधर-उधर से ८ बार पार करना पड़ता है।

फिर बैलगाड़ियों से यात्रा प्रारम्भ। सीधे रास्ते में कीचड़ बहुत थी। इसलिए कुछ घुमाव वाला रास्ता चुना गया, पर इस रास्ते पर भी तीन मील चलने के बाद ऐसी गहरी कीचड़ और दलदल आ गई कि खाली बैलगाड़ी भी उसमें दो-दो फुट गहरी धंस जाती थी। पैदल चलने वाले यात्रियों को मुश्किल का अंदाज ही लगाया जा सकता है। हरसूद के पश्चात् हमारी मण्डली में मध्य प्रदेश के भी कुछ लोग शामिल हो गए थे जिनमें कुछ वृद्ध थे और ५-६ महिलाएँ भी। वे शायद कालभैरव की गुफा को तीर्थ समझ कर उसके दर्शन की इच्छा से आए थे। इस प्रकार मण्डली के यात्रियों की संख्या ३० के आस-पास पहुंच गई थी।

दोनों ओर घने जंगल का साम्राज्य। सुनसान और बीहड़ रास्ता। 'वारंगा' नाले को घुटनों-घुटनों पानी में हम ५ स्थानों से पार कर चुके थे। अभी ३ बार नाला पार करना बाकी था। शाम के ६ बज रहे थे। तभी कहीं दूर से आती हुई घोड़ों की टापों की-सी आवाज सुनाई दी। सुनसान रास्ते के भय-मिश्रित वातावरण में टापों की यह आवाज कुछ और आतंक बढ़ा पाती, उससे पहले ही यह पता चल गया कि वह घोड़ों की टाप नहीं, बल्कि वर्षा की बड़ी-बड़ी बूंदों की टपाटप है।

क्षण भर में भीषण वर्षा प्रारम्भ हो गई। बचाव का कोई उपाय नहीं। जिनके पास छाते थे, वे भी असहाय थे, फिर बिना छाते वालों के सामने इस परिस्थिति का हौसले से मुकाबला करने के सिवाय और चारा ही क्या था।

घना जंगल, शाम का समय, ऊपर से बादलों का घटाटोप और भीषण वर्षा। धीरे-धीरे अन्धकार गहरा हो गया। इतना कि आसपास कुछ फुट की दूरी तक दीखना भी मुश्किल। तब टार्चों की याद आई, पर टार्चें निकलीं केवल आठ। इतनी कम टार्चों से तीस यात्रियों का मार्गदर्शन मुश्किल था। तब अलग-अलग टोलियां बनाई गईं और एक-एक टोली के साथ एक-एक टार्च रख कर आगे बढ़ते गए।

कुछ दूर चलने पर ही यह स्पष्ट हो गया कि जिस रास्ते पर हम चल रहे हैं, वह अब रास्ता न रह कर कीचड़ भरा नाला बन चुका है। कहां कितना गहरा है, यह भी राम जाने, पर आगे तो बढ़ना ही होगा। कुछ देर रास्ते के साथ इस कशमकश के बाद हम उस स्थान पर पहुंच गए, जहाँ से नाले को सातवीं बार पार करना था। अब तक भीषण वर्षा के कारण बारंगा नाला भी उग्र रूप धारण कर चुका था। उसमें ५-५ फुट तक पानी और धार बहुत तेज। नीचे का तल ऊँचे-नीचे छोटे-बड़े पत्थरों से पटा हुआ। बड़ी मुश्किल से आधे लोग पार हो पाए तब ध्यान आया कि गाड़ियों पर से सामान उतार कर सिर पर उठा कर लाना होगा। साहसी युवक ब्रह्मचारी रामसूरज ने कई चक्कर लगा कर सामान पार उतारने में और वृद्ध जनों को पार होने में सहारा दिया। इस पार उतराई में पूरा घंटा भर लग गया।

अमावस्या की अंधेरी रात में किसी तरह यह काफिला आगे बढ़ता जा रहा था। इधर-उधर घुप्प अंधेरा। टार्च वाले के पीछे सावधानी से एक के बाद एक चलते चले गए। अभी नाले का आठवां मोड़ बाकी था। किसी तरह रास्ता पार करने के सिवाय मन में और कुछ सोचने की न इच्छा थी न सामर्थ्य।

आखिर नाले का आठवां मोड़ भी आ ही गया। पानी की तीव्र कलकल ध्वनि मन में दहशत भर रही थी। नेतृत्व करने के जोश में स्वस्थ और साहसी स्वामी ओमानन्द नाले में उतर पड़े और जब किसी तरह पार पहुंच गए तो तत्काल चिल्लाए—"और कोई हिम्मत मत करना, धार बहुत तेज है।" पर कोई युवक इस चुनौती को स्वीकार न करे तो उसका यौवन किस काम का? एक युवक पानी में उतर ही पड़ा। कुछ कदम चलने के बाद ही वह लड़खड़ा गया और पानी की तेज धार में बह चला।

अनुभवी लोग जानते हैं कि ऐसे समय बरसाती नाले अपने उद्दाम वेग से हाथियों तक को बहा ले जाते हैं, फिर आदमी की क्या बिसात? किनारे पर खड़े लोग डर के मारे चिल्लाए। वहां बचाने भी कौन आता? खुद युवक ने ही हौसला नहीं छोड़ा। सौभाग्य से उसे तैरना भी आता था। वह कुछ दूर तक बहा और कुछ दूर तक तैरा। और फिर नाले के बीच में ही उसे एक ऐसी बड़ी चट्टान मिल गई जिसने उसके लिए जीवन-नौका का काम किया। चट्टान का सहारा लेकर उसने सांस लिया, कुछ स्वस्थ हुआ और फिर हिम्मत करके तैराकी के लंबे हाथ मारता हुआ पार

हो गया। अब नाले में उतरने की किसी और की हिम्मत नहीं हुई।

सब ने यही सोचा कि वर्षा थमने दी जाये। जब पानी का वेग कम हो जाए तभी पार उतरने की बात सोची जाए। कुछ देर बाद सचमुच ही वर्षा रुक गई पर पानी का वेग कम होने की प्रतीक्षा करते-करते जंगल की एकान्त भांय-भांय, झिल्लीरव और सुनसान प्रदेश ने यात्रियों के मन में एक नये भय का संचार कर दिया। कहीं से कोई सांप, बिच्छू, भालू, कोई जंगली जानवर या कोई लुटेरे-डाकू ही आ धमके तो क्या हो ?

नाले के इस किनारे से काल-भैरव की गुफा पचास गज की दूरी पर होगी, पर इस समय वहाँ जाना काल के मुख में ही जाना था। इसलिए जहां थे, वहीं दम साध कर प्रतीक्षा करते रहे। घंटे भर बाद पानी का वेग कुछ कम हुआ। पहले बांस के डण्डों से पानी की गहराई की थाह ली और तब धीरे-धीरे, एक-एक करके पानी में उतरने लगे। पानी तीन फुट गहरा होगा पर धार में अब भी तेजी थी। इतनी कि पाँव उखड़-उखड़ जाते। पर हिम्मत ने साथ दिया और सब को सुरक्षित पार पहुंचा देख कर सभी को संतोष हुआ।

नाला पार करने के बाद थोड़ी सी सीधी चढ़ाई चढ़नी पड़ी। उसके बाद वन-विभाग का रेस्ट हाउस था। नाले के उस पार से रेस्ट हाउस तक लगभग आधे फर्लांग की दूरी को पार करने में दो घंटे से अधिक लग गये। रात के दस बज चुके थे। रेस्ट हाउस में पहुंचते ही आग जलाई गई और सब से पहला काम यह किया गया कि अपने भीगे हुए कपड़े निचोड़ कर आग की गर्मी से सुखाए जाने लगे। हवा ठण्डी थी, ऊपर से सब भीग चुके थे। इसलिए आग के पास बहुत अच्छा लग रहा था।

अभी तक जान सांसत में होने के कारण भूख और प्यास ओझल थी, पर अब शरीर को शरण मिल जाने पर और कपड़े सूख जाने पर पेट में चूहे कूदने लगे। वहाँ खाने-पीने का सामान तो क्या, पीने का स्वच्छ पानी भी दुर्लभ था। अलबत्ता थोड़ी सी चीनी साथ थी। तब नाले का ही बरसाती पानी लाकर उसे उबाला गया। बिना चाय के भी पानी की रंगत तो चाय जैसी थी ही, उसी में चीनी डालकर, उस पानी को चाय समझ घूंट-घूंट गले में उतारा।

रेस्ट हाउस क्या था, बस एक बड़ा सा कमरा था। उसकी छत दसियों जगह से चू रही थी। ऐसे समय सोने की किसे सूझे और भूख के मारे नींद भी कैसी। वाह रे स्वामी ओमानन्द ! जिद करने लगे कि अमावस्या की इस काली रात्रि में काल भैरव को सन्तुष्ट करने के लिए यज्ञ

अवश्य होना चाहिए। समय भी काटना आवश्यक था। कहावत है, 'भूखे भजन न होय गोपाला', पर दुःख में ही तो भजन सूझता है, सुख में कौन 'सुमिरन' करता है। आखिर मणि अमावस्या की उस रात में साढ़े बारह बजे से साढ़े तीन बजे तक उस धूनी में ही घी और सामग्री की आहुतियां देकर यज्ञ किया गया। यात्रा के प्रारम्भ से जो यजुर्वेद-पारायण यज्ञ प्रारम्भ हुआ था, उस रात उस यज्ञ की पूर्णाहुति हुई। सवेरा होने में अभी देर थी। जिसके जहां सींग समाये, थके-मांदे यात्री वहीं पसर गए।

२७ सितम्बर को मौसम साफ था। काल-भैरव की गुफा तक पहुंचने के लिए फिर नाले के इस पार आना था।

ठोस पत्थर से बने सौ सवा-सौ फुट ऊंचे एक पर्वतखण्ड के मूल में ६-७ फुट व्यास के मुख वाली, अर्धसीपी के आकार की, वह गहरी सी खोह। वहां कोई मूर्ति नहीं थी। अन्दर-बाहर सब तरफ असम-विषम प्रस्तर खण्डों पर लिपा हुआ ढेर सारा मक्खन। नरमुण्ड नहीं, उससे साम्य रखने वाले बीसियों नारियल फूटे पड़े थे। स्पष्ट था कि गत दिवस अमावस्या को लोग इस गुफा रूपी काला देव की पूजा-अर्चना करके गए हैं। गुफा के अन्दर की ओर सांपों की बांबियां नजर आ रही थीं। शायद ये सांप ही उन जंगली लोगों के काला देव थे जिनको प्रसन्न करने के लिए कभी वे नरवलि चढ़ाया करते थे।

गुफा से दसेक फुट दूर कुछ नीचे की ओर बारांग नाला है। इसी नाले ने कल हमें कितना परेशान किया था। पर प्रकृति के वैचित्र्य का क्या ठिकाना! आज दिन की रोशनी में देखा कि पर्वत के मूल में से स्थान-स्थान पर गुनगुना गरम, स्वच्छ मीठा जल वह कर नाले के पानी में मिलता जा रहा है। क्या यह प्रकृति की ओर से कालादेव की पूजा की अनोखी विधि है! सब ओर सघन हरीतिमा। कितनी तरह के पेड़ हैं, कौन जाने! रात को जो वातावरण आतंकप्रद लगता था, वही अब आह्लादकारी लगने लगा। तन-मन की सारी थकान इस मनोमुग्धकारी दृश्य को देख कर दूर हो गई।

यही है वह स्थान जहाँ ब्रह्मचारी शुद्ध चैतन्य ने एक गरीब ब्राह्मण बालक को बलि से बचाने के लिए जंगली लोगों के सामने स्वयं को बलि के लिए प्रस्तुत किया था। लोग उसे पकड़कर बलि देने के लिए यहां ले भी आए थे, पर तभी अचानक उधर से मराठा फौज के कुछ सैनिक गुजरे। उन्हें देखते ही बलि चढ़ाने वाले डर के मारे भाग गए। मराठा सैनिकों ने ही ब्रह्मचारी शुद्ध चैतन्य को पाशमुक्त किया। तब से काल भैरव को

अमावस्या के दिन नर बलि देने की प्रथा समाप्त हो गई और उसके स्थान पर नारियल चढ़ाये जाने लगे।

यहां से मुक्त होकर ब्रह्मचारी शुद्ध चैतन्य नर्मदा तट पर पुनघाट के एक सन्त से मिले थे जिसका नाम सामवन था और उसके पास एक सप्ताह ठहरे थे। श्री सामवन के ही शिष्य हैं श्री पागलवन, जो अभी जीवित हैं और उनकी आयु इस समय ९५ वर्ष है। वे इस इतिहास की पुष्टि करते हैं। यही ब्रह्मचारी शुद्ध चैतन्य आगे चलकर ऋषि दयानन्द के नाम से विख्यात हुए। ऋषि दयानन्द के जीवन के अज्ञात पहलुओं पर प्रकाश डालने वाले सद्यः-प्रकाशित ग्रन्थ 'योगी का आत्मचरित्र' में इस प्रसंग का वर्णन है। इस ग्रंथ के अनुसार यह घटना सन् १८४७ में हुई जबकि शुद्धचैतन्य की आयु २३ वर्ष थी। सन्त पागलवन के कथन से ग्रंथ का प्रसंग प्रमाणित होता है। हम १२६ वर्ष बाद उसी स्थल को देख रहे थे।

मण्डली के नेता वृद्ध सन्त 'योगी' जी ने गुफा के बाहर ओ३म् की ध्वजा स्थापित की। उसके बाद सब रेस्ट हाउस में लौट आए। जब सामान बांधकर चलने की तैयारी कर रहे थे, तभी दो ग्वाले दूध लेकर आए और उन्होंने बड़े प्रेम से मण्डली को दूध पिलाया। वे कल भी खूब सारा दूध लेकर आए थे और उनका इरादा यात्रियों को खीर बनाकर खिलाने का था। पर जब शाम को ६ बजे तक भी हम नहीं पहुंचे तो वे निराश होकर लौट गए। थकान और भूख से क्लान्त लोगों को दूध पीने में कितना आनन्द आया होगा, इसकी कल्पना ही की जा सकती है।

गुफा से विदा होकर चल पड़े। बैल भी भूखे थे। वे मुश्किल से सामान ही ढो सकते थे, अतः यात्री सब पैदल चले। मैं जानबूझ कर सब से पीछे-पीछे चला ताकि कहीं कोई वृद्ध यात्री थकान के कारण पीछे न रह जाए, फिर पामाखेड़ी पहुंचे, पर इतने यात्रियों के भोजन की व्यवस्था डण्ठा में ही सम्भव थी। इसलिए मन मार कर फिर आगे चले। फिर बारिश, फिर नाले की रुकावट, फिर पानी कम होने की प्रतीक्षा। शाम को ५ बजे के आसपास डण्ठा जाकर लगे। वहां के ग्रामवासियों ने जिस प्रेम से आतिथ्य किया, वह भूलने की वस्तु नहीं। यहीं ग्रामवासियों ने चर्चा की कि आप लोगों की मण्डली भाग्यशाली थी जो जंगल के भील-डाकू सरदार को आपका सुराग नहीं मिला। नहीं तो जैसी परिस्थिति में आप लोग घिरे थे आपका सुरक्षित जीवित लौटना संदिग्ध ही था।'

—[हिन्दुस्तान रविवासरीय, २१ अक्टूबर १९७३, से साभार]

योगाचार्य की पत्रकारिता

—डॉ० धर्मेन्द्र*

योगाचार्य अर्थात् योगी+आचार्य, अर्थात् योगी भी, आचार्य भी। वस्तुतः स्वामी जी की पत्रकारिता के दो युग रहे हैं—एक तो [आदौ] जब वे गुरुकुल के आचार्य होते हुए [उसके प्रायः मुखपत्र के रूप में] 'दयानन्द-सन्देश' के सम्पादक थे; एक आज [अन्ते च]—जब योगाश्रमों का एक जाल सा देशभर में बिछा कर एक **योग क्वार्टरली** के द्वारा उन्हें एक एक सूत्र में पिरोये हैं। पत्रकारिता—उनका आद्यन्तयोजक [प्रत्याहारी] सूत्र है।

योगी (१९१२ ?—) स्वभावतः अन्तुर्मुख होता है, और पत्रकार स्वभावतः बहिर्मुख। स्वामी जी को—जो योगी पहले हैं बाकी सब कुछ बाद में—यह एकाएक क्या सूझी (परस्पर-विरोध !) कि एक पत्रकार बन बैठे!

—समाधि में यह अचानक भंग कैसा ? योगयात्रा में कोई 'अन्तराय' था यह, एक पथ-भ्रंश ? या फिर राष्ट्र-जीवन में किन्हीं अनहोनियों का एक यौगिक पूर्वाभास (१९३८) कि 'समय अब संघर्ष का है—'**विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा** का है, एकान्त में बैठकर एक अष्टाध्यायी-भवन निर्माण (१९३४—) करने का नहीं।'

'सन्देश' के शुरू के ही अंकों में एक नितान्त संक्षिप्त सा सम्पादकीय है—'अष्टाध्यायी और सत्याग्रह।' आचार्य-श्री की मनःस्थिति का नहीं, उनके पूर्ण मनोमय का, सही-सही परिचय उसमें दर्ज उनकी इस टिप्पणी से ही मिल जाता है कि 'अष्टाध्यायी' का पुनरुद्धार इन्तजार कर सकता है, राष्ट्र संकट से मुंह मोड़ लेना देशद्रोह होगा, आत्म-प्रवंचना भी।' और चारा ही अब क्या था। सिवाय इस के कि विद्यालय को ताले लगा दिये जायें ताकि दिल्ली का पहला जत्था हैदराबाद सत्याग्रह के लिए रवाना हो सके ?

आचार्य-प्रवर एक जन्म-जात योगी हैं—**आत्मने पदी हैं : योगिनो**

* अनेक विषयों के मर्मज्ञ विद्वान् जो अपना परिचय गोपनीय रखने पर कटि-बद्ध हैं।

यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः (पत्रकारिता, जबकि—परस्मैपदिता चाहती है)। प्रथम आश्रम उनके **तप** का काल था; गृहस्थ में **स्वाध्याय** का, अनुभूति-संचय का ['अर्थ'—साधन का=अधीत के 'मन्थन' का], स्वाङ्गी-करण का। जिस सब का निष्कर्ष यही निकला, अन्ततः कि अनु-संधान द्वारा, अनुदर्शन द्वारा जो थोड़ा-बहुत उपलब्ध हुआ है—**प्रवचन** द्वारा उसे अब जन-जन में उन्मुक्त (वितीर्ण) कर दिया जाय। तपः-स्वाध्याय-प्रवचने च। यह थी **दयानन्द वेद विद्यालय** (गौतम नगर) की स्थापना की मूल कहानी। और यही-कुछ कहानी थी पुनः वेदपीठ के लिए लोकसंग्रहार्थ संवाद-रूप **दयानन्द-सन्देश** की कहानी भी। वेद विद्यालय और 'सन्देश' प्रायः युग्मज हैं—१९३४, १९३८। दो विद्यार्थी और ६ आने के मूलधन पर यह भवन-निर्माण आरम्भ हुआ था। १९३९ में हैदराबाद सत्याग्रह के समय (षाण्मासिक) एक लम्बा अन्तराल... ...और आजादी के साथ विद्यालय एवं संदेश दोनों का साथ ही साथ पुनर्जन्म। अन्त में—सदा के लिए संस्था को तथा 'संदेश' को तपःस्वी साधकों-मनीषियों के हाथ सौंपते हुए पुनः योग-साधनार्थ 'बैक होम'—प्रत्यावृत्ति। किन्तु एक अलग बात इस बार यह हुई कि इस **'स्वरूपावस्थानम्'** में जन-सम्पर्क से विमुख नहीं हुए – योग-पत्रिका का नव-जन्म भी हाल की इस वापसी के साथ, पहले, हो चुका था। वस्तुतः आचार्य-श्री के चरित्र की एक हृद्य कमजोरी है, यह बोधिसत्त्व की-सी करुणा—और हम हैं कि उसी के कृतज्ञ हैं, तथा उनके आभारी हैं।

खैर—'सन्देश' मात्र गुरुकुल का एक सन्देश वाहक ही रहकर सार्थक न रह सकता था। 'हैदराबाद' की छाया में (तथा विरजानन्द द्वारा दया-नन्द को दिये गये दीक्षान्त 'आदेश' की अन्तर्धृत स्मृति में) आचार्य के 'प्रवचन-आश्रम' 'सन्देश' का उदय हुआ था—कोई शंखनाद नहीं, किन्हीं गुरुजनों का आशीर्वाद नहीं, कोई समयोपयोगी वेदमन्त्र नहीं। मुखपृष्ठ पर बस, ऋषि के शब्दों में **'एक वाक्य'** मुद्रित जिसे शीर्षक दे दिया गया : **सत्याग्रह का सच्चा स्वरूप** [सच्चा अर्थात् सदसद्विवेकी अर्थात् मानवीय अर्थात् दयानन्दी] हम इसे सत्याग्रह का (दयानन्दी) मूलमन्त्र कहना अधिक उचित समझेंगे]।

> [मनुष्य वह जो] अन्यायी बलवान् से भी न डरे। और धर्मात्मा से डरता रहे। इतना ही नहीं—[ ] अपने सर्व सामर्थ्य से धर्मात्माओं की—चाहे वे महाअनाथ, निर्बल, और गुणहीन क्यों न हों उनकी—रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण...और अधर्मी—चाहे चक्रवर्ती,

सनाथ, महाबलवान् और गुणवान् भी हो—उसका नाश, अवनति और अप्रियाचरण ..सदा किया करे। अर्थात्—**जहां तक हो सके** [ ] अन्यायकारियों के बल की हानि (और न्यायकारियों के बल की उन्नति) सर्वथा किया करे—इस काम में उसको चाहें कितना ही दारुण दुख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी चले जावें—इस (मनुष्य रूप) धर्म से पृथक् कभी न होवे।

ऋषि का यह सत्याग्रह—'दर्शन' कितना शाश्वत है; आज भी हमारे लिए उतना ही इन्सानियत की एक 'मात्र कसौटी' के रूप में विद्यमान है। इसके साथ ही, यहीं, अब जरा तुलसी और तुलसी के राम का अमर सन्देश भी सुनिये—

तर्जहि शूद्र गुण, ग्यान प्रवीणा।
पूर्जहि विप्र बुधि, शील विहीना॥

एक ओर अचल चट्टान है, दूसरी ओर बोसीदा मिट्टी! दोनों का आदिमूल इतना भिन्न।

और जैसे-जैसे सत्याग्रह जोर पकड़ता गया, लेख पर लेख अभिप्रेरित होने लगे। **अभिस्रवन्तु नः**—धर्म का सच्चा स्वरूप, अहिंसा, का तात्त्विक रूप, हिंसा और अहिंसा, गांधी बनाम दयानन्द (अहिंसा की होड़), सत्याग्रह के दो-दो रूप, और सब से बढ़ कर (स्वयम् आचार्य-श्री के मुख से—**कांग्रेस और आर्यसमाज के सत्याग्रह में अन्तर।** यह एक ही सम्पादकीय कितना सर्वंकष सिद्ध हुआ—क्या वर्तमान के प्रति दायित्व की दृष्टि से, क्या इतिहास-बोध की दृष्टि से, क्या साहित्य की एवं मानवधर्म के दयानन्दी स्थायीभाव की कसौटी पर—एक ही सांस में हृदयस्पर्शी, बुद्धिस्पर्शी, तत्त्वान्वेषी – जिसके पुनर्मुद्रण का लोभ हम संवरण नहीं कर पा रहे। इतिहास एवं वाङ्मय दोनों में स्वामी जो को अमर कर जाने के लिए यह एक ही लेख उनकी कलम से पर्याप्त है।

हम ऊपर कह आए हैं कि गुरुकुल और 'सन्देश' साथ ही पैदा हुए, साथ ही फले-फूले, साथ ही मरे (हाँ एक बार मरे भी), और साथ ही पुनर्जात, किन्तु नहीं।

हैदराबाद सत्याग्रह की समाप्ति पर (दो विद्यार्थी रह गए थे और वो भी सख्त बीमार) गुरुकुल को बन्द कर देना पड़ा ! लेकिन सन्देश का चुप रह सकना अब असम्भव था—जनता में इतना जागरण आ चुका था। और, ऊपर से, तभी 'सायण के (एक) प्रच्छन्न अनुयायी' ने परोपकारिणी के ऋग्वेद से ५००० गलतियाँ निकाल दिखायीं, सार्वदेशिक सभा के आदेश

से संस्कारविधि में काटछांट शुरू हो गई; कितने ही सिरफिरे सत्यार्थप्रकाश के प्रथम (१२ समुल्लासी, श्राद्धमांसभक्षण के निपट अनुमोदक) संस्करण को छाती से लगाए वानरी-से हमारे 'प्रमाण पुरखा' अजमेर यन्त्रालय भी इतना अकर्मण्य, इतना बुद्धू और इतना बुजदिल कि ऋषि के व्याकरण-परक वीसेक लघु-लघु ग्रन्थों में हर पेज प्रूफ रीडिंग की गलतियों से भरपूर है। इतनी व्यापक एवं भयंकर अव्यवस्था में व्यवस्था कौन लाये? 'संदेश' एक मिशन को लेकर चला था। और इधर इस सबके साथ जाग उठी जनता जो नित नये सैद्धान्तिक प्रश्न उठा रही थी। एक-एक के समाधान के लिए एक-एक विशेषांक अपेक्षित था। ऐसे में कौन निर्विकल्पक रह सकता था—दयानन्द, सन्देश, सन्देश का (योगी) सम्पादक?

सो—'सन्देश' अब आर्यसमाज का **एक सैद्धान्तिक मासिक** बन गया। नये सिरे से जाग उठी जनता के लिए **एक संजीवनी** भी। किन्तु कितनी लज्जा की बात है—मीमांसकीय तत्परता एवं टिप्पणियों के बावजूद ऋषि के एक लेख का भी मूलपाठ इन सौ सालों में हम सही नहीं कर पाये।

× × ×

शुरू-शुरू के अंक 'सन्देश' की लक्ष्य-धर्मिता एवं जनोपयोगिता को आंकने के लिए तो आवश्यक हैं ही, हर लेख, हर टिप्पणी, हर सम्पादकीय, जैसे कुछ न कुछ नया देने को उत्सुक हो; ये साधारण अंक भी (मूल्य मात्र तीन आने) सिद्धान्त-प्रियता से कभी विमुख नहीं हुए। देहलवी जी जैसे मुकुटमणियों ने पहले ही अंक के साथ नियमित रूप से एक 'शास्त्रार्थ' देने का वचन दे दिया (यह भी क्या युग था)। आत्मानन्द जी खिल उठे कि एक 'निर्भय' वीर तो निकला जो विपक्षियों का मुंह तोड़ सके और अपने घर पर आंच न आने दे। हैदराबाद के इतिहासपुरुष बंसीलाल जी को तो जैसे एक युगदिशा ही मिल गई—उनका सारा परिवार घर-घर जाकर 'सन्देश' के नये ग्राहक बनाने लगा और राजेन्द्री अष्टाध्यायी-प्रणाली के अनुसार एक गुरुकुल भी दक्षिण में, (विश्वास) नहीं आता) खोल ही दिया उसने।

सन्देश के इन **'अवशेषों'** में आपको देहलवी जी के, बिहारीलाल जी के, ठा० अमरसिंह के, दीक्षित जी के, उषर्बुध के, चन्द्रकान्त वेदवाचस्पति के, प्रो० गोपाल जी के वे लेख मिल जायेंगे जो कहीं और कभी नहीं छपे। यह व्यापक मिशनरी भावना, मुख्यतया, आचार्य जी की ही देन थी। १९३८–१९४७ के १८ अंकों में ही ८ विशेषांक। और फिर तो कार्यक्षेत्र और उसके साथ ही उत्साह इस कदर बढ़ गया जैसे हर अंक को ही एक

विशेषांक बनाने के बगैर बात आगे से बनेगी नहीं।

'कर्मवीर' अंक में ६६ गंभीर योजनाबद्ध एवम् अनुसंधित लेख (और परिशिष्ट में विश्व के अनेक कर्मवीरों की गाथाएँ) किन्तु कृष्ण के, तिलक के कर्मयोग पर एक नहीं। **'स्वराज्य'** अंक में तुलनात्मक निबन्धों के अतिरिक्त, देश-विदेश के संविधान, 'क्रान्तिकारी' उपाख्यान; कांग्रेस की मूर्खताओं से भरपूर **'दिलजला'** अंक; कुरान में भी **'मद्यनिषेध' 'ब्रह्मचर्य'** के लिए त्याज्य-अत्याज्य छोटे-छोटे संकेतों की एक साहस्री 'ब्रह्मचर्य अंक का एक नगण्य अंश है—तब एक परिशिष्ट अंक और आवश्यक हो गया। इसी बीच सत्याग्रह का 'कर्मवीर' (बंसीलाल) चल बसा। संस्मरणों, श्रद्धांजलियों के अतिरिक्त, उस हुतात्मा के कुछ अन्यत्र अनुपलभ्य मौलिक लेख; 'सत्यार्थप्रकाश' पर अनर्गल आक्षेपों, 'संशोधनों-टिप्पणियों' की खरी (प्रायः कटु-कर्कश) खबर। किन्तु 'योगमीमांसा' पर कोई विशेषांक अभी नहीं।

सब के सब भारी किन्तु गम्भीर, गवेषणापूर्ण, नूतन दिशा दिखाने वाले ! मृत धमनियों में नवरक्त संचार करने वाले !!

साधारण अंकों के कुछेक स्थायी नियमित स्तंभ थे—उपासना, श्रुतिपथ, शिशुवचनामृत, सुरभि का सौरभ, कायाकल्प (आयुर्वेद द्वारा, योग द्वारा अभी नहीं), नीर-क्षीर विवेक (देहलवी जी)। एक सीरियल (आदर्शवादी अर्थात् धर्मवीर) दर्शनानन्द जी का, एक बिहारीलाल जी का (रणवांकुरे)। मीमांसक जी तथा दीक्षित जी के तलस्पर्शी अनुसन्धानों की प्रयोगस्थली भी, जिस ने बाद में कितने ही महाग्रन्थों को जन्म दिया—यह 'सन्देश' ही थी, (वेदवाणी या परोपकारी नहीं)। पं० बुद्धदेव जी का लिखा 'आर्य संविधान तथा मैनिफेस्टो'—'कांग्रेस से, सोशलिस्ट, कम्युनिस्ट पार्टियों से हमारे मतभेद'···जो आज तक कहीं और नहीं छपा। सिद्धान्तकौमुदी की अन्त्येष्टि, गौ की पुकार जैसे पैम्फ्लेट छापने की एक नई योजना भी शुरू की गई।

उधर गुरुकुल का नाम १९३८ से ही बदल चुका था (दयानन्द विश्वविद्यालय)। सात संस्थाएँ उसकी पाठविधि एवं परीक्षाओं से सम्बद्ध थीं। प्रायः यही महारथी इधर भी सहयोगी एवं परामर्शदाता थे तथा च ईश्वरचन्द्र जी दर्शनाचार्य, वेदानन्द जी, हरिदत्त जी तब बी०ए० तीर्थत्रय और पीलीभीत कोटा के अधृष्याभिगम्य डाक्टर फतेहसिंह जी कहां-कहां से और किस उद्युक्तता के साथ कुनबा जोड़ा गया था।

और यह सब कमाल था मूल के छः आने का, दो विद्यार्थियों का,

एक योगी के अडिग संकल्प और (सांसारिक दृष्टि से) निपट अनुभव-हीनता का। एक ही विषय पर दो-तीन वर्ष कम से कम केन्द्रित कर देने की मौलिक विशेषता किन्तु योजना ऐसी जो ३१ वर्ष से कम में समा न पाए। वेद-वेदांग, विद्या-विज्ञान के अतिरिक्त गन्धर्व और धनुर्वेद भी अनुपेक्ष्य ! और सब का मूलाधार शुरू से दयानन्द में अडिग श्रद्धा और शुद्ध[1]-बोध[2]-तीर्थ[3] की परम अनुकम्पा। क्या यह अनुकम्पा ही शिष्य को पद-शः सत्[1]-चित्[2]-आनन्द[3] रूप में दूसरा जन्म (यह अन्तिम प्रसाद) नहीं दे गई।

× × ×

पत्रकारिता योगी को उसके मूल पथ से बहुत दूर खींच लाई थी, प्रायः दलदल में; तभी उसे वापस घर लौटने की याद आई। इतने वर्ष व्यर्थ कर आचार्य-श्री का संन्यास में पदार्पण, एक प्रकार से, उसे चिति से अवचिति में वापस ले आने का एक व्यपदेश था जिस से साथ ही एक प्रायश्चित्त भी हो गया : 'एक योगी की आत्मकथा' का सम्पादन करके, साथ ही उसमें एक अध्याय ऋषिकृत (?) (विश्व का प्रथम योगभाष्य) 'पातञ्जल शास्त्र' जोड़ते हुए। 'महर्षि से बढ़कर दूसरा योगी इस भूतल पर नहीं हुआ।' 'गीता को मैं एक योगशास्त्र के अतिरिक्त कुछ नहीं मानता।' 'मेरा दयानन्द समाधिमूल में पैठकर वेदार्थ उद्धृत किया करता था (अर्थात् वेद के आत्मकोष को खुद अपने अन्दर ढूंढ़िये, हिमालय की गुफाओं में नहीं। और **यही कुछ** दयानन्द का वह अविश्वसनीय ब्रह्मचर्य था, कम से कम मेरी दृष्टि में]।'

× × ×

और आज, उसी आस्था का सिरा पकड़ने के बाद **स्थिति क्या है ?** भक्तों की खातिर शायद कम, आत्मने पदे ज्यादा—योगी और पत्रकार अब एकरूप हो गए लगते हैं। नित नये केन्द्रों के जन्म के साथ पिण्ड अब **'चरिष्यद् ब्रह्मणः पथि'** पिण्ड नहीं रह गया। आज समस्या हमारी अपनी है, जिसका समाधान न सन्देश से हो सकता है, न गुरु जी की **'स्वार्थ'** साधना से, न शायद योग-पत्रिका से। हमारे यहाँ दो ही परम्पराएँ रही हैं—१. **यज्ञ**, २. **योग**। याज्ञिकों का कहना है—यज्ञ कभी पूरा नहीं हो सकता, कुछ न कुछ **'अधूरा'**=**'शेष'** रहता ही चलेगा (यज्ञस्य पन्थाः को, देवयान को, कितना ही वितत कर लो) यज्ञ **शेष** अपरिहेय है (वर्ना पृथ्वी और पार्थिव जीवन का, आधार ही क्या रह जाएगा ?)। **यो वोऽध्वरं तुविजाता अरं करत्**। अध्वर=अधूरा, अरं=समाप्त (पूर्ण)। किन्तु हमारे

स्वामी ने (इस अन्तिम मोड़ पर भी) योग-मार्ग को चुना है, यज्ञमार्ग को नहीं (यही हमारी गलती हो गई)। योग जिसे आज यदि एक उद्युक्तता के साथ (योजनाबद्धता के साथ) अपनाया जा सकता है तो कल उसी स्वाभाविकता के साथ उसे छोड़ा भी जा सकता है। (युजिर् योगे, यु मिश्रणाऽमिश्रणयोः); और फिर, आज आचार्यवर=योगिप्रवर यौवन की वयः-सन्धि पर भी नहीं। निर्विकल्पक समाधि की उनकी वह पुरानी हविश, हम सोचते हैं यदि आज नहीं कल पूरी हो जाती है, तो वह तो उन्हीं की एक 'स्वार्थ'-पूर्ति मात्र होगी; हमारा इष्ट उससे आपूर्त नहीं हो सकता—यदि आज भी, यथापूर्व जब-तब उनके योगपथ में अन्तराय न आते चले।

अन्यद् युष्माकमन्तरं बभूव।

आर्यसमाज तथा कांग्रेस के सत्याग्रह में अन्तर

[एक सम्पादकीय १।७ फरवरी १९३९ से]

कांग्रेस की प्रतिद्वन्द्वी [ब्रिटिश] सरकार थी। बड़ी बलशालिनी, धन-जन से सम्पन्न। सरकार के हाथ में थी तलवार (लोहे की); और कांग्रेस के शरीर पर था सत्य का कवच। तलवार टकराती—बड़े जोर से टकराती, और उलटी लौट जाती। ऐसी तलवार से रक्षा करना सहज था। पर, फिर भी, उसके झटकों से तंग आकर कांग्रेस ने कवच उतार दिया; और युद्ध से पराङ्मुख हो उठी—जो कुछ मिला उसी पर सन्तोष कर लिया।

वायु की गति को पहचाना। जिधर की हवा थी उधर ही को बादबान कर दिया। कहीं तो पहुंच गए। पूर्ण स्वराज्य न सही, अधूरा-चौथाई ही सही। राजपद न सही सचिव पद ही सही; पूरे देश पर न सही, कुछ प्रान्तों पर ही सही।

मिट्टी के खिलौने को लेकर भूल ही गये कि उन्हें स्वर्णलंका प्राप्त करनी थी। बालक बहल गया; माँ को क्या, उस का वचन रसातल को चला गया, रसातल को ही सही। जब अवसर आएगा, अपने उद्देश्य को प्राप्त कर लेंगे।

लोहे की तलवार के झटकों का यह कुछ कम प्रभाव नहीं था।

× × ×

किन्तु **आर्यसमाज** को मुकावला करना है एक ऐसी सरकार से जिस का कानून बना है 'मुल्क' को एक **मुसलमानी रियासत** समझ कर। एक रियासत—जिस के हाथ में चमचमाती **तलवार** है, लोहे की नहीं, **चांदी की**। लोहे की तलवार के झटके भयानक थे, इसकी चकाचौंध गजब की है, इसमें चुम्बक की शक्ति भी है—यह आकर कवच से चिपक जाती है। बड़े से वड़े योद्धाओं को वश में कर लेती है यह। लोहे की तलवार काटती थी केवल वीरों को, और यह है कि वीतरागों को भी नहीं छोड़ती। लेखकों को खेत करती, सम्पादकों को घायल करती, दर्शकों तक को अपना ले जाती है···योद्धाओं के बल को, युद्ध से पूर्व ही अपहृत कर ले जाती है।

इसी प्रलयंकारी **चन्द्रिका चण्डिका** से पाला पड़ा है आर्यसमाज का। और फिर यह अकेली भी नहीं है, फिरंगियों की वो काली-कराली लुहि-लफिया 'कालायसी' चामुण्डा भी (ब्रिटेन की) इसके साथ है। दोहरी मार है: हो सकता है इसकी चोट गेरुए वस्त्रों पर भी जा पड़े···उपदेशकों की जुवान पर जा पड़े···लेखकों-सम्पादकों की लेखनी को ही दो-टूक कर डाले।

खैर, आर्यवीरों के लिए यह सब कुछ भी नहीं, इन चण्डी-चामुण्डाओं को हमारे युवाओं ने [दूसरे समुल्लास की] एक फुंकार में सदैव उड़ा दिखाया है। एक नहीं, दो नहीं, शतशः सहस्रशः, मिलकर भी ये पिशा-चिनियां हमारे बांकुरों पर आक्रमण कर दें, उनका उत्साह, ओज, सहोऽसि (उलटे) और बढ़ेगा ही—क्षण-भर के लिए भी घटने पर नहीं आएगा। सोना तप कर और खरा हो जाता है, आग में से हमेशा कुन्दन बन कर ही बाहर निकला है। ऐसा प्रकृति का नियम है। समय हमारे साथ है यही हमारा सौभाग्य है।

× × ×

यतेमहि

भगवान् दयानन्द के समय में भी आर्यों, आर्येतरों में संघर्ष कम घोर नहीं था। उस संघर्ष-यज्ञ में उनकी ज्ञान-ज्योति जग आती थी, निखरती थी जिसकी छत्रछाया में ही वे अपने कर्तव्य-पथ को देख पाते थे, और गन्तव्य का निश्चय कर लेते थे।

कुछ काल बीत जाने पर विरोधियों पर आर्य सिद्धान्तों की छाप पड़नी शुरू हो जाती, किन्तु संघर्ष में 'निरन्तर' शिथिलता आने के साथ

अपने खेमे में अकर्मण्यता अवतरित होती गई।

यही हमारा दुर्भाग्य सिद्ध हुआ—दुर्भाग्य बन गया। पटियाला में, सिन्ध, काश्मीर में कहीं छठे समुल्लास पर तो कहीं चौदहवें समुल्लास पर आपत्ति आई, भोपाल में संकट उठा। इतने मोर्चों के बावजूद एक तरह का मोह-सा अर्जुन पर छाता जा रहा था…ऐसा कि हैदराबादी निजाम के अनुग्रह से वह पुरानी निश्चिन्तता-सी अब जाती रही है, अपने गृहकलहों से विरक्त हो उसने एक बार फिर से गाण्डीव उठा लिया है।

स्वराज्य

वे अपहृत, प्रायः विस्मृत अधिकार अपने उसे आज मिलें, कल मिलें : विजय हमारी निश्चित है।

दयानन्द सन्देश १।३।१९३८ को दिया गया
(अण्डेमान से वापसी पर) एक सन्देश

माता

हिन्दू महासभा की और कांग्रेस की

आर्यसमाज हिन्दू सभा और कांग्रेस, दोनों की माता है। यदि आर्यसमाज के संस्थापक ऋषि दयानन्द अपने सत्यार्थ-प्रकाश में स्वराज्य शब्द न लिखते तो आज स्वराज्य की आवाज ही सुनाई न देती। ऋषि दयानन्द ने ही स्वराज्य का सच्चा आदर्श उपस्थित किया है [कि] जिस स्वराज्य में सच्चा हिन्दूपन है वही सच्चा स्वराज्य है। आजकल भूल से कुछ आर्यसमाजी कांग्रेस में जाकर हिन्दूपन की रक्षा करना भूल गए हैं। आर्यसमाज ने शुद्धि और अछूत-उद्धार में बहुत-सी आहुतियाँ देकर हिन्दुत्व की लाज बचा ली है। अन्यथा हिन्दू कहाँ होते और हिन्दुत्व कहां होता।

—वीर सावरकर

एक तुलनात्मक टिप्पणी आज के परिप्रेक्ष्य में

चार समर्पित राष्ट्रीय पत्रकार

सर्वप्रथम आते हैं—मातृसंस्कृति (i) के अनन्य पुजारी स्वनामधन्य मालवीय जी ['हिन्दोस्थान', आधुनिक हिन्दी के प्रथम मासिक के संस्थापक, आद्य सम्पादक, १८८३]। उसके पश्चात् मातृभाषा [ii] (खरीबोली के अद्वितीय साधक, 'सरस्वती' के आद्य सम्पादक) महावीर प्रसाद द्विवेदी तृतीय मातृभूमि [iii] के मूक, मौन आराधक माखनलाल चतुर्वेदी [कर्मयोगी कवि]। (१-३)

गोमाता के अभिपूजक तीन-तीन अभिरूप, भव्य जीवन-फूल।

× × ×

और चौथा स्वर इस त्रिवेणी में आ मिलता है तब योगाचार द्वारा **'स्थैर्ये च हिमवानिव'** [द्यावा] ऊपर को उठ चला; **'समुद्रमिव गाम्भीर्ये'** [पृथिवी] बादल बन कर, अन्त में, धरती पर बरस पड़ा।

[ऋक्० ५।४०।६ के बल पर **'तुरीय यंत्र'** के आविष्कर्ता, दयानन्द सन्देश १।२]

आचार्य राजेन्द्रनाथ का **'उग्रं शर्म महि श्रवः'** [स्तनयित्नु स्वर] ऋषि दयानन्द के मन-वचन-कर्म रूप अधूरे रह गए यज्ञ की **मातृ-वेदी** [iv] **इयं वेदी परो अन्तः पृथिव्याः**] में एक आहुति-मन्त्र बन कर !

द्यावा/पृथिवी—**ते उभे मातराविव**, गिरि-जे। पर्वतपयोदौ वा। ४-५। इति उत्क्रान्तानि गिरिनामानि पंचजना इव—पंच।

—पाञ्चजन्य

आजादी की वधशाला — ले० रामावतार शर्मा 'विकल'

द्वार खोलकर ऊंचे स्वर से बोला कातिल मतवाला।
वो ही आये देश-धर्म की जिसे जलाती हो ज्वाला।
सुरा-सुराही शीशा-सागि़र सुरबाला का नाम नहीं।
बिना पिये ही अविकल जग को 'विकल' बनाती वधशाला ॥

—'दयानन्द सन्देश', स्वराज्य अङ्क
अगस्त, १९४९, पृ० ७०२।

पत्रकारिता में राष्ट्र-प्रेरणा के संयोगी

—स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती*

आचार्य राजेन्द्रनाथ शास्त्री ने युवावस्था में अपनी प्रखर प्रतिभा से अनेक ऐसे कार्य किये जिनको सुनकर उनकी तेजस्विता का आभास होता है। श्रीमद्दयानन्द वेद विद्यालय, गौतमनगर, दिल्ली की स्थापना से पूर्व ही वे पत्रकारिता में निपुणता प्राप्त कर चुके थे। स्वराज्य प्राप्ति से पूर्व समाज को जिस कर्त्तव्यपालन के लिए सजग करने की आवश्यकता थी उसका पूर्ण परिचय उनके द्वारा सम्पादित 'दयानन्द सन्देश' नामक मासिक पत्रिका से मिलता है। इस पत्रिका ने अपने विशेषांकों के द्वारा जैसे उत्तम प्राचीन अन्वेषणात्मक साहित्य को प्रस्तुत किया। उसकी उपयोगिता वर्तमान में भी उसी प्रकार से विद्यमान है।

पत्रिका के द्वितीय वर्ष का विशेषांक **'कर्मवीर अंक'** नाम से निकाला गया जिसमें संसार भर के कर्मवीरों की जीवनियों का अपूर्व सचित्र संग्रह किया गया। इसी क्रम में तृतीय वर्ष का विशेषांक **'असिधारा अंक'** पूरी साज-सज्जा के साथ प्रकाशित किया गया। इस अंक में विषैली गैसों, बारूद आदि के अभूतपूर्व प्रयोगों एवम् अलौकिक प्राचीन दिव्य अस्त्र-शस्त्र, यन्त्रों एवं हिंसा-अहिंसा का मार्मिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

उनके द्वारा लिखा गया प्रथम लेख **'असिधारा और वेद'**, लेखक के वैदिक साहित्य तथा वेदों की विषयवस्तु की विशेष जानकारी का द्योतक है। इस लेख में चारों वेदों में निर्दिष्ट युद्ध एवम् आयुधों की सूक्ष्म कलाओं का विशद वर्णन हुआ है। 'असिधारा' शीर्षक से लिखे गये द्वितीय निबन्ध में आचार्य जी की आन्तरिक प्रचण्ड ज्वाला का अनायास हीं दर्शन हो जाता है। असिधारा अंक का तात्त्विक प्रयोजन स्पष्ट हो जाता है। साथ ही राष्ट्रवासियों को उद्बुद्ध करने की अद्भुत योजना एवं शक्तिमय प्रेरणा अंक की विशेषता है। वे लिखते हैं—

"प्रभु की संहारक शक्ति ही जीवों में वीरता तथा ओज के रूप में प्रकाशित होती है। वीरता का प्रदीप सृष्टि के रजोगुण के सम्पर्क से

---

* अध्यक्ष, योगधाम, आर्यनगर, उ०प्र०-२४९४०७

प्रदीप्त हो उठता है, और सत्त्वगुण के आवरण से ओजरूप में जाज्वल्यमान हो जाता है।

"तमोगुणावृत नपुंसक अशास्त्रीय अहिंसा की अज्ञानान्धकारमयी काली घटाओं में वीरता प्रदीप का जगाना जितना आवश्यक है उतना ही कठिन भी। पर समय की अनुकूलता इसके लिए प्रोत्साहित कर रही है। संसार की शृंगारमयी मोह निद्रा भङ्ग हुई है, और वह आज अपनी-अपनी भावना से शौर्य, पराक्रम और रुद्र रूप की उपासना कर रहा है, पर अभागा भारत याचना की चारपाई पर पड़ा अहिंसा की चादर ओढ़े अङ्गड़ाई ले रहा है।...

"दासता की शृंखलाओं को तोड़ने के लिए अहिंसा एक नवाविष्कृत यन्त्र है। जिस पर अपने स्वप्निल संसार में भारत गर्व कर रहा है। इतिहास साक्षी नहीं, कभी आज तक 'अहिंसा' रणाङ्गन में चण्डी का रूप धारण कर आयी हो। तब वह अहिंसा ही न रहेगी। अहिंसा को शस्त्र कहना अहिंसा तथा शस्त्र दोनों की अवहेलना है। अहिंसा पालन के लिए तो संसार में कोई शत्रु ही नहीं है। उसकी वैर भावना का तो सर्वथा परित्याग हो गया, उसकी दृष्टि में कोई अमित्र नहीं, चाहे वह अंग्रेज हो और चाहे भारतीय, अहिंसक की वैर भावना की बात तो दूर रही, उसके सान्निध्य में शाश्वतिक विरोध रखने वाले हिंसक जीव भी विरोध छोड़ देते हैं।

"अहिंसा चित्त की वृत्तियों को रोकने तथा सतत शान्ति स्थापित करने के लिए है, न कि शत्रु के शस्त्रों को रोकने के लिए ढाल।

"वैर को छोड़ना कुछ और है, और स्वार्थ का परित्याग कुछ और। इतिहास साक्षी है, जमदग्नि परम तपस्वी अहिंसा वृत्ति वाले ऋषि थे; जिनके प्रभाव से आश्रम में पाप प्रवृत्ति अपना रूप नहीं दिखा सकती थी। उनके तप से वन, तपोवन बन गया था। सहस्रार्जुन ने उनकी सर्वस्व कामधेनु के अपहरण करने का निश्चय किया। सेना ले आश्रम पर चढ़ाई कर दी। ऋषि ने अनुनय विनय की, पर सहस्रार्जुन ने एक न मानी। विरोध करने पर या कहिए सत्याग्रह करने पर, उनका वध कर दिया और कामधेनु को छीन लिया गया।

"अहिंसा देखती रह गई। संसार ने भी समझा—बलात्कार ही सफल होता है। अहिंसा कदाचार-प्रचार की भागिनी बनी।

"सर्व साधारण की अहिंसा का प्रभाव शत्रु पर केवल इतना पड़

सकता है कि वह लोकमत से भयभीत हो और उस भयभीत अवस्था में ही उसके हृदय से दया का संचार हो, और वह दया से द्रवित हो अहिंसक की बात मान ले।

"पर लोकमत से द्रवित होना अनुभव तथा युक्ति के विरुद्ध है। फ्रांस में लोकमत विरुद्ध हुआ पर राजसत्ता में दया का संचार नहीं हुआ, यही रूस की क्रान्ति और भारत के रक्त रंजित पृष्ठों में भरा पड़ा है। लोकमत में उत्पन्न क्रान्ति और तज्जन्य रक्त की होली ही हृदय में दया का नहीं, अपितु भय का संचार करती है।

"दूसरी ओर अहिंसा को ही सर्वकाल में सब परिस्थितियों के लिए अमोघ शस्त्र मान बैठने से हृदय में भय का संचार हो जाता है। अहिंसक मृत्यु से घबराते हैं। अपने हित-अहित की अपेक्षा शत्रु के हित-अहित का चिन्तन करते हैं। पर असिधार का उपासक इससे विपरीत परिस्थिति में होता है। असिधार को हिंसा का प्रतिनिधि समझना भयङ्कर भूल है। असिधार शौर्य, वीर्य और पराक्रम का प्रतिनिधि है। उसके उपासक के हृदय में भीरुता और भय स्थान नहीं पाते। असि को हाथ में लेते ही छाती गर्व से फूल जाती है, आंखों में तेज और आकृति में ओज आ जाता है।

"असिधार ने आज तक सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर सदा सत्य-न्याय की रक्षा की है। चाहे यह कहा जा सकता है कि बड़े-बड़े महात्माओं और धर्मगुरुओं को इसने मृत्यु के घाट पहुंचाया है, पर वस्तुस्थिति ऐसी नहीं। चाहे महात्माओं और साधुओं के नश्वर शरीर को असि ने आत्मा से विरहित कर दिया, और जड़ जगत् की दृष्टि में इनका पांचभौतिक शरीर नष्ट हो गया, पर वस्तुतः असि ने उन महात्माओं के शरीर के साथ ही अत्याचारी के यशः-शरीर को भी समाप्त भी कर दिया, और अपने चमकते शरीर के समान उन महात्माओं की कीर्ति तथा उपदेश को अमर बना दिया।

" '**अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः**।' के अनुसार शरीर और भोगों ने तो नष्ट होना ही था, पर यदि उनकी मृत्यु अपनी मौत होती तो उनके उपदेश और पवित्र दृढ़ आत्मा को कौन जानता ?

"वर्तमान परिस्थिति में भारत! अभागा भारत! शस्त्रास्त्र की बात करने योग्य नहीं रहा है। सर्वप्रथम तो सरकार ने ही मूल पर कुठाराघात किया है। भारत के प्रायः सभी प्रान्तों से शस्त्रास्त्र छीन लिए गए हैं। किसी-किसी प्रान्त में शस्त्रों, तलवार-बल्लम की आज्ञा है, पर अब युद्ध-

काल में वह भी रद्द कर दी गई है। अब तो बड़े-बड़े नगरों में हिन्दू-मुस्लिम दंगों के नाम पर लाठी भी छीन ली गई है।

जब तक सरकार इस प्रकार की कृपा दर्शावे तब तक भारतीयों को अपने हृदय में वीर भावनाओं तथा शस्त्र प्रयोग को स्थान देना चाहिए।"

असिधारा विशेषांक के अगले लेख में श्री महात्मा नारायण स्वामी जी लिखते हैं कि "शान्ति के साथ रहना तो नियम और मजबूरी के साथ तलवार उठाना उस नियम का अपवाद है। इस अपवाद को काम में लाने के लिए बाधित होना पड़े तो फिर उसे काम में न लाना पातक और अधर्म है।"

स्वामी केवलानन्द जी महाराज ने असिधाराव्रत के विषय में निष्कर्ष दिया है कि "असिधाराव्रत अर्थात् लोकोत्तर कार्यों के लिए कतिपय स्वाभाविक आन्तरिक गुणों की आवश्यकता है जो महापुरुषों के बिना अन्यत्र उपलब्ध नहीं हो सकते। यहां पर यह बात याद रखनी चाहिए कि जब तक इच्छा कर्त्तव्य के रूप में, विश्वास व्यवहार के रूप में और आचार-विचार के रूप में परिणत होकर एक दूसरे के लिए चरितार्थ नहीं होते, तब तक न तो धर्मतत्त्व का कोई ऐकान्तिक आदर्श ही स्थिर हो सकता है और नहीं उससे किसी प्रकार के श्रेष्ठ फल की प्राप्ति हो सकती है। वास्तव में विश्वास और व्यवहार की एकता ही जीवन-भूमि में अमरता का बीज बोती है अर्थात् अन्तर्मुखी तथा बहिर्मुखी वृत्तियों का एक कर लेना ही मानवीय जीवन को उन्नति के उच्च शिखर की ओर ले जाता है। इसी का नाम आत्म-जागृति अथवा जीवन साफल्य है। जिस किसी भाग्याकाश में इस दिव्य ज्योति के पुण्य दर्शन हो जाते हैं वही महापुरुष, महात्मा, योगी, जीवनमुक्त ऋषि-महर्षि, अवतार या औलिया आदि कहलाता है।

पर्यवसितार्थ यह है कि जैसे भी हो, महापुरुष कर्त्तव्य पालन के पुनीत प्रेम-पीयूष का पान करके संसार के सम्मुख विश्वास और व्यवहार की एकता के द्वारा मानवता का अनुकरणीय आदर्श कायम कर जाते हैं। भले ही सर्वस्व निछावर करना पड़े। परन्तु···

न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।"

इसी प्रकार पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु जी ने वेदों में वर्णित शस्त्रास्त्र के प्रयोगों का सविस्तर वर्णन किया है। इसके साथ ही विद्याभूषण, प्रो० भीमसेन शास्त्री एम०ए० अमृतसर, डा० विश्वमित्र एच० एम० पी० सिद्धान्त विशारद, मैसूर, 'कुरान और शस्त्र प्रयोग' के लेखक—खलीफा

हरिसिंह जी, **'बाइबिल और शस्त्र प्रयोग'** लेखक—पं० विश्वप्रिय शर्मा गैलगिलि। दूसरा लेख—**'महाभारत कालीन अद्भुत शस्त्रों की झांकी'** जिसमें प्राचीन शस्त्रास्त्रों के चित्र भी दिये हैं। बाणों के विविध प्रकार प्रदर्शित किये हैं। रामायण कालीन शस्त्रास्त्रों का वर्णन—रमाकान्त त्रिपाठी ने किया है। काव्यतीर्थ पं० बिहारी लाल शास्त्री विद्याभास्कर ने **'प्राचीनकाल में शस्त्रास्त्र विद्या'** का विवेचन किया है।

असिधारा विशेषांक के द्वारा तात्कालिक समाज के लिए दी गई प्रेरणा आज भी भारतीय नागरिकों के लिए उसी प्रकार उपयोगी है। इस अंक की सामग्री की प्रशंसा उस समय अनेक प्रमुख विद्वानों तथा समाचार पत्रों में हुई। असिधारा का मूल उद्देश्य एक पद्य के द्वारा स्पष्ट होता है—

'भारत जननी बनी बन्दिनी पिशाचन की,
किस व्रतधारी के हिये में शूल मारा है।
पथ असिधारा से पहुंच बलि वेदी पर,
माता को बचावे कौन ? मानी मतवारा है।।'

'पाखण्ड करन खण्ड-खण्ड जो घमण्ड करै,
वीर दयानन्द का दुधारा तेज आरा है।
व्रत असिधारा के प्रचार को पधारा आज,
वीर-रस स्रोत पर 'अंक असिधारा' है।।'

स्वराज्य प्राप्ति से पूर्व **जनवरी १९४१ ई०** में प्रकाशित यह अंक आज भी प्रेरणा का स्रोत है। इसके अतिरिक्त कर्मवीर अंक, ब्रह्मचर्य अंक, स्वराज्य अंक आदि कई विशेषांक समय के अनुसार अत्यधिक उपयोगी सामग्री प्रस्तुत करते रहे। इस पत्रिका से प्रतीत होता है कि आचार्य राजेन्द्रनाथ शास्त्री (स्वा० सच्चिदानन्द जी सरस्वती) कितने लोकप्रिय थे। सभी विद्वान्, कवि तथा समाज सेवियों से सम्पर्क रखकर लेख आदि की सुन्दर व्यवस्था करते थे। 'दयानन्द सन्देश' के माध्यम से अपने विचार जनता तक पहुंचाने की कितनी व्यग्रता तथा लगन थी। अभी कुछ दिन पूर्व मैंने पूछा तो स्वामी जी ने बताया कि हमें लिखने की प्रबल इच्छा रहती थी, परन्तु प्रकाशित कराने को पैसे नहीं होते थे। तब प्रत्येक अंक की दो-तीन प्रतियां हाथ से लिखकर पाठकों की सेवा में भेजा करता था।

इन भावनाओं की पूर्ण जानकारी 'दयानन्द सन्देश' के 'दिलजला' अंक से स्पष्ट हो जाती है। सन् १९४२ के अप्रैल मास में प्रकाशित इस अंक में समाजसेवी, सुधारक, उपदेशक, संन्यासी, पुरोहित और क्रान्ति-

कारियों की अनेकविध व्यथाओं का विवरण है। कवि महानुभावों ने भी इसी सामाजिक दुर्दशा का वर्णन कविताओं में किया है। कविवर 'हरिऔध' **'जले तन'** में लिखते हैं—

बावले वन जाते थे हम, देख पाते जब नहीं सदन।
याद हैं वे दिन भी हम को, बांटते थे जब हम तन मन ॥१॥

कलेजे छिले पड़े छाले, हो रही है बेतरह जलन।
आग है सुलग रही जी में, कहायें क्यों न अब जले तन ॥२॥

'दिल जला' विशेषांक के प्रथम लेखक महात्मा नारायण स्वामी जी **'दिलजला मार्ग'** शीर्षक के द्वारा लिखते हैं कि 'ऋषि के नाम के लिए न कि काम के लिए संस्था युग का प्रारम्भ दुर्भाग्य की पहली उल्का है।'

'अन्य मतावलम्बियों की अप्रसन्नता के भय से सुधार की बातों एवं शास्त्रार्थों का बन्द करना दूसरी उल्का है।'

हृदय की आग को उद्बुद्ध करते हुए स्वामी केवलानन्द जी ने दर्शाया है कि 'क्या यह अधिकार-लोलुप पद के मोह पंक में फंसे हुए बाबू लोग कभी आर्यसमाज को ऋषि ऋण से उऋण कर सकेंगे?

क्या ये कण्ठोपजीवी वावदूक धर्म-प्रचारक ऐक्टर गुरु बन सकते हैं।

आज सत्संग में श्रोताओं का कनरसियापन विकट व्याधि है, जो जाति अपनी अधोगति की बातों को राग-रागिनी तथा सिनेमाओं की तर्जों पर सुनना चाहती है, उसका उद्धार कभी नहीं हो सकता।'

'क्या झण्डाभिवादन प्रतीकोपासना नहीं?'

पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के तात्कालिक प्रधान पं० बुद्धदेव जी विद्यालंकार दिलजली दो बातें बताते हैं—

१. आर्यसमाज में नेता वे लोग बनते हैं जिन्हें आर्यसमाज की कार्य-नीति पर विचार करना तो दूर रहा, नित्यकर्म तथा स्वाध्याय के लिए भी समय नहीं है। ऐसे **कबड्डी लीडर** अभागे आर्यसमाज के अतिरिक्त किसी भी आन्दोलन के पाले नहीं पड़े।

२. वर्णाश्रम धर्म के प्रचार के लिए हमने गुरुकुल बनाये थे, परन्तु वहां ऋषि दयानन्द की पाठविधि के स्थान पर जो **अण्ड-बण्ड पाठविधि** चल रही है उसमें इतने विषय भरे हैं कि इस कार्य के लिए कोई समय ही नहीं मिल सकता। फिर वर्ण-मर्यादा की स्थापना का तो स्वप्न भी लेना दुराशा मात्र है।'

अति सु

कविरत्न लक्ष्मीप्रसाद 'रमा' हटा, दमोह म०प्र० ने साहित्य सेवियों की करुण दशा का बड़ा ही मार्मिक चित्र खींचा है—

अभी फलक को पड़ा दिलजलों से काम नहीं।
गर न लगा दूं आग तो दाग नाम नहीं॥

आचार्य भद्रसेन अजमेर से पुरोहितों की दुर्दशा से अपने दिलजले फफोले दिखाते हैं—"हा ! हन्त !! आर्यसमाज के पुरोहित भी धनी अधिकारियों के ऊपर पंखा झलते हैं, बिस्तर उठाते हैं, यहाँ तक कि जूते तक उठाते हैं। इतने पर भी समाजों में भोजन तक को नहीं पूछा जाता और उनके प्रस्तावों को वाहियात तक कह दिया जाता है।"

इस प्रकार दिलजला विशेषांक तात्कालिक भ्रष्ट मनोवृत्ति के कारण विक्षुब्ध-व्याकुल-दिलजले समाज की अन्तर्ज्वाला का प्रलयंकर स्वरूप प्रस्तुत करता है। विशेषांक के अन्तिम पृष्ठ पर 'दिलजले साधन' मानव-जाति को उन्नत करने के लिए प्रस्तुत किये हैं —

त्याग दो—

ब्राह्मणो ! दासवृत्ति को
कर्णधार ! पथभ्रष्ट संस्थाओं को
अधिकारियो ! पद लोलुपता को
सभ्यो ! जातपांत के पुछल्लों को
देवियो ! निर्लज्ज श्रृंगार को।

धार लो —

निर्भीक सिद्धान्तों का प्रचार
आर्यसभासद् के लिए आचार
संस्थाओं में ऋषि पाठविधि को
गुणकर्म स्वभाव से वर्णव्यवस्था को।

सम्मान करो—

जाति के दिलजलों का
ब्राह्मण उपदेशकों का
सच्चरित्रता की प्रामाणिकता का
सर्वस्व त्यागी साहित्य सेवियों का।

मत भूलो—

ऋषि के समक्ष अपनी अयोग्यता को
गानों की मोहकता में प्रचार को
गुण-कर्म-स्वभावानुकूल शर्मा वर्मा को
तर्क के अंधेरे में श्रद्धा को।

कलंकित मत करो—

पुरुष-प्रवेश से कन्या गुरुकुलों को
स्त्री प्रवेश से बाल गुरुकुलों को
वेश्या-श्रृंगार से कन्यात्व को
देश धर्म के घातक साहित्य से लेखनी को।

अनर्थ मत करो—

आर्यो ! राष्ट्रीय क्षेत्र से दूर रहकर
कांग्रेसियो ! धर्म को तिलांजलि देकर
दीवानो ! मजहब के नाम पर गुण्डेपन से
शासको ! मानवता का खून चूसकर।

पृथक् कर दो—
अयोग्य (अनार्यों) को पदों से।
लोभ छोड़, सिद्धान्तद्रोहियों को—
सभासदों से।

बचाओ—
पार्टीबाजी से समाचार पत्रों को
पार्टीबाजी से आर्यसमाज को
सिद्धान्त विरुद्ध विज्ञापनों से
आर्य-पत्रों को
अनार्ष ग्रन्थों से गुरुकुलों को।

मत उड़ाओ—
धनियो! मौज, गरीबों के खून पर।
हंसी किसी दिलजले की।

●

स्वराज्य कब होगा ?

जब दी जाएगी फांसी—
बेईमान राज्याधिकारियों को,
दुराचारी पदाधिकारियों को,
स्वार्थी वेदविमुख विद्वानों को,
धर्मयुद्ध से विरत क्षत्रियों को,
भारतीय संस्कृति-द्रोहियों को।

जब सर्वस्व हरण होगा—
चोरबाजारी करने वाले नराधमों का,
घूसखोर राज्य - कर्मचारियों का,
धर्मादे को निजी व्यापार में लगाने वालों का।

जब बन्द कर दिये जायेंगे—
गोहत्या और बूचड़खाना,
गोगर्भ के जूते बनाना,
गोचरों के खेत बनाना,
मांस अण्डों से पेट भरना,
लोहे की भैंस से घी बनाना।

जब अक्षम्य अपराध होगा—
मादक द्रव्यों का दुरुपयोग,
तम्बाकू, शराब, गांजा पीना,
वासनापूर्ति के लिए पूंजी बटोरना,
रक्तपिपासु सूदखोर जीवन··· इत्यादि।

[अगस्त, १९४९ में प्रकाशित 'स्वराज्य अंक' के अन्तिम आवरण-पृष्ठ से]

हमारी राम कहानी

—श्री आचार्य राजेन्द्रनाथ शास्त्री*

१. प्रभु की रात

हमारी रात तो केवल १२ घण्टे की होती है। और दिन भी प्रायः १२ घण्टे का होता है। प्रभु की रात बहुत लम्बी, बहुत ही लम्बी होती है। एक हजार चतुर्युगियों की होती है। और एक चतुर्युगी के तैंतालीस लाख बीस हजार वर्ष होते हैं। इतनी लम्बी होती है ब्राह्म रात्रि। इतना ही लम्बा ब्रह्म दिन होता है।

इस ब्राह्म रात्रि में केवल तीन बचते हैं—परमात्मा, आत्मा और प्रकृति, और सब समाप्त हो जाता है। उस अवस्था का किसी को पता नहीं चलता। वह अज्ञेय अवस्था है। अनिर्वचनीय हालत है।

कहना ही चाहें तो यूं कह सकते हैं, परमात्मा तब भी सब जानता है। वह सदा ही आनन्दी है, मौजी है, प्रसन्न है। इस प्रलय-रात्रि से पहले की असंख्य प्रलय रात्रियों में और ब्राह्म दिनों में भी वह ऐसा ही आनन्द-मस्त रहता है। उस का ज्ञान भी सदा एक सा रहता है। उसका बल भी सदा एक सा रहता है। चाहे रात हो चाहे दिन, वह सदा काम में एक-रस लगा रहता है। न थकता है, न सुस्ताता है।

मुक्ति में गये हुए जीव भी उसी प्रकार मौज में रहते हैं। बाकी सब ही असंख्य आत्मा अपने स्वरूप में रहते हैं, न सुखी न दुखी। उन्हें कुछ भी पता नहीं होता।

---

*जब भारी हानि उठाने के कारण 'दयानन्द सन्देश' बन्द करना पड़ा और छापाखाना भी बेच देना पड़ा, तब लगभग ४५-५० वर्ष पहले आचार्य राजेन्द्रनाथ शास्त्री ने स्कूलों के बच्चों के लिए कुछ छोटी-छोटी पुस्तकें लिखी थीं। इन पुस्तकों में उन्होंने वैदिक मान्यताओं को बड़े सरल और सहज ढंग से प्रतिपादित किया था। उस युग में ये पुस्तकें बड़ी लोकप्रिय हुई थीं। उसी समय का उनके हस्तलेख में ही लिखा यह लेख अपूर्ण अवस्था में हमें उनके सुपुत्र से प्राप्त हुआ। —सम्पा०

संन्यास के तीन मास बाद स्वामी सच्चिदानन्द योगी आर्यसमाज सीताराम बाजार में, जून १९६८.
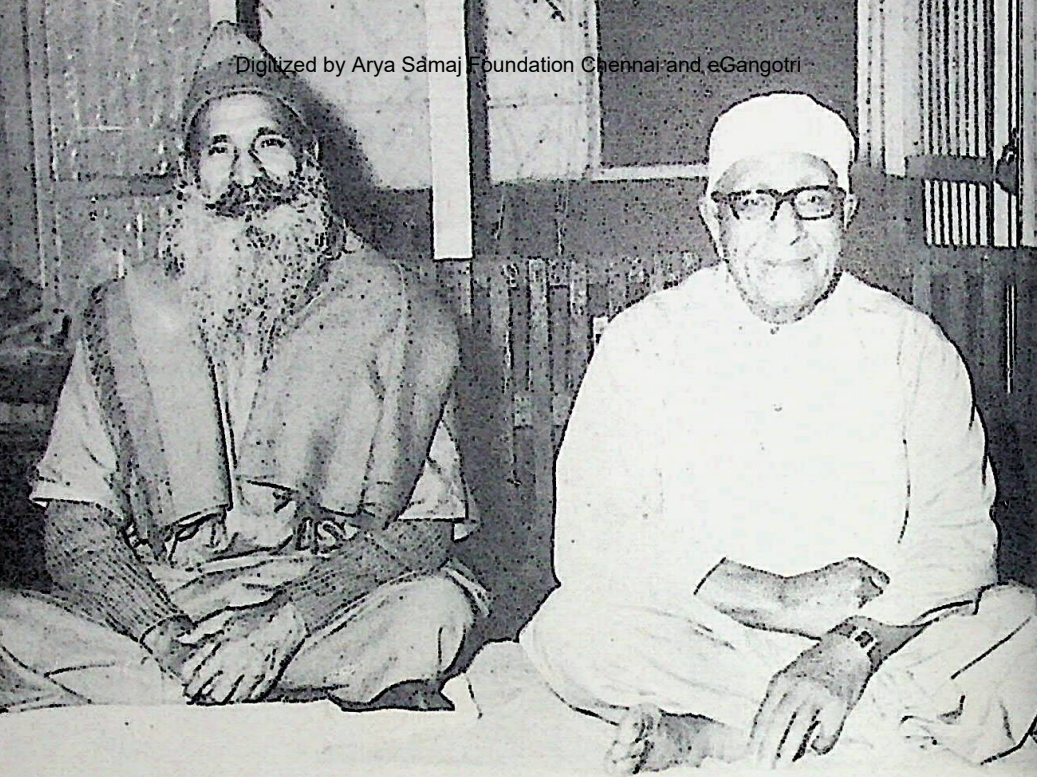
महात्मा आनन्द स्वामी के साथ योगीजी गौहाटी में, सन् १९७०.

गौहाटी में शिलांग पीक पर

योगीजी, जनवरी १९७० में

पं० दीनबन्धु वेदशास्त्री के साथ योगीजी कलकत्ता में, सन् १९७१.
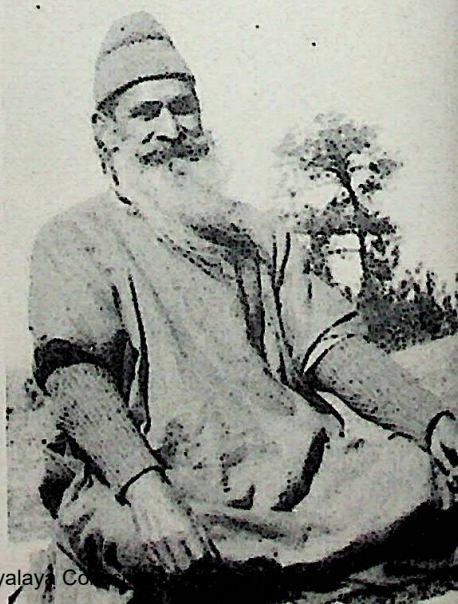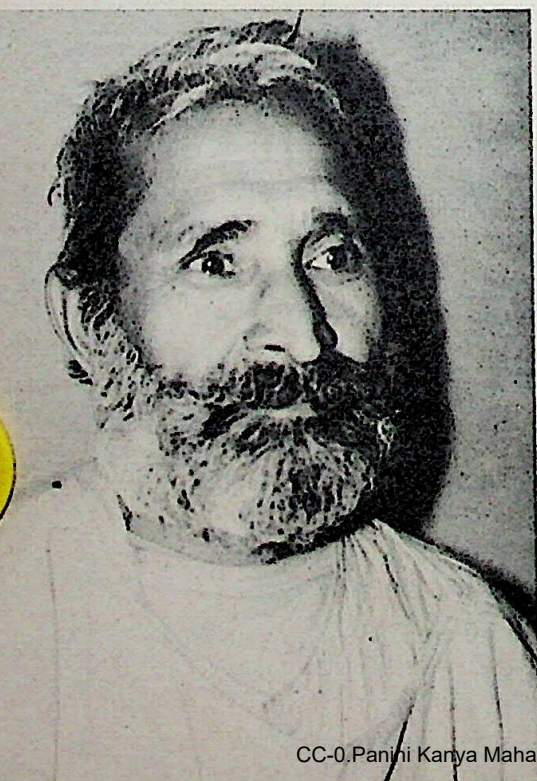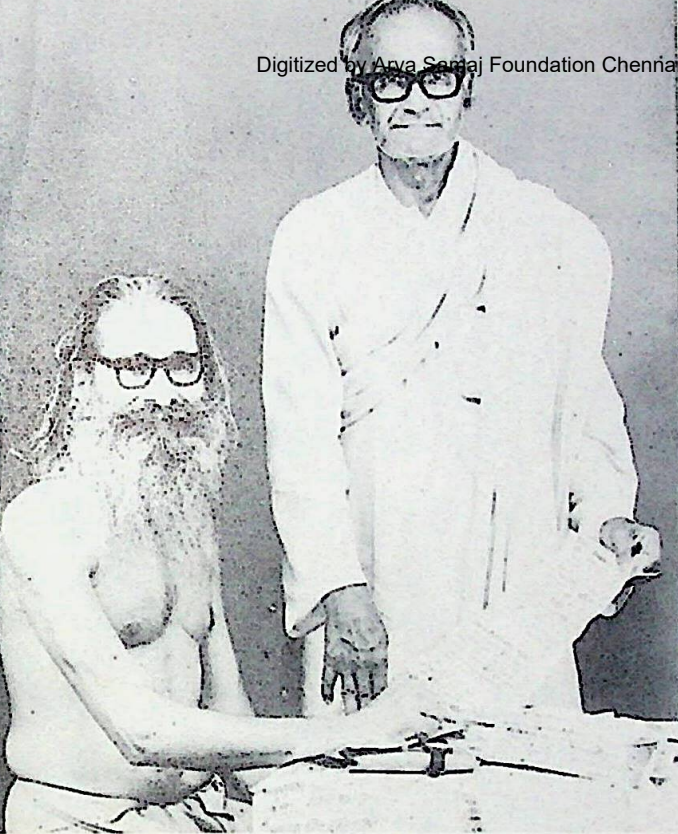
पं० मदन मोहन विद्यासागर के साथ हैद्राबाद में, सन् १९७९-८०.
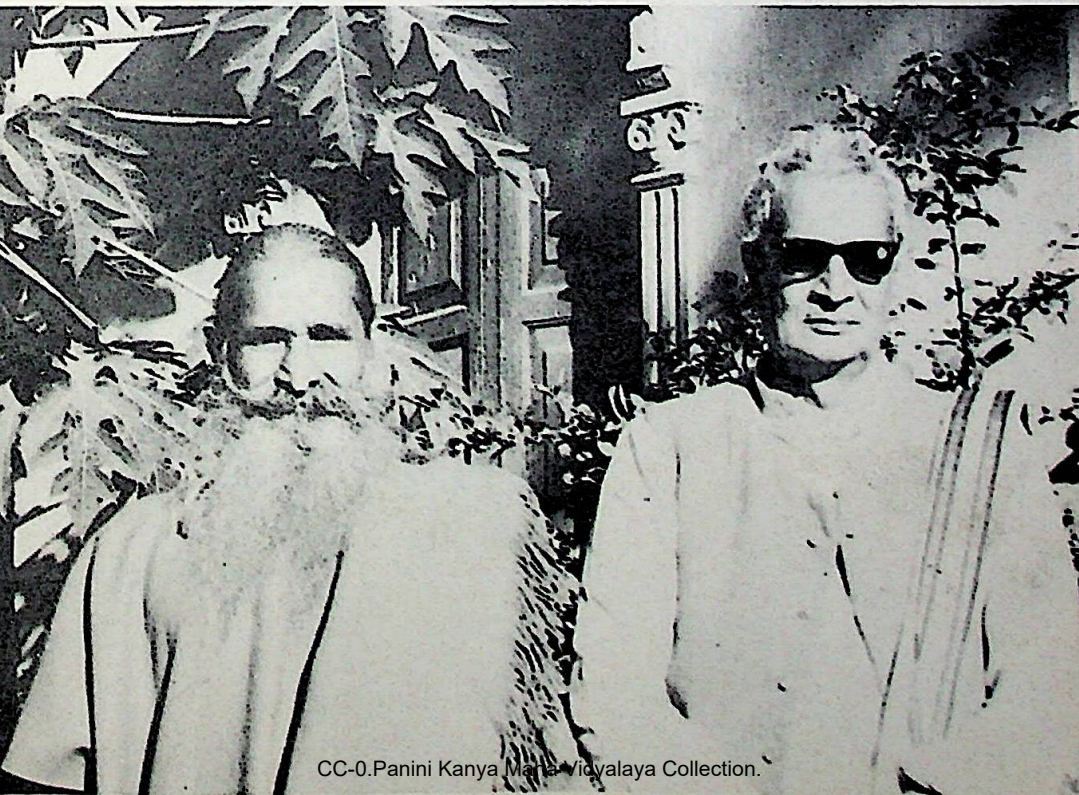
आचार्य हरिदेव द्वारा गुरुकुल गौतमनगर में सम्मान, सन् १९८३.

योगी जी से संन्यास दीक्षा लेते हुए श्री भूपसिंह मान (पहलादपुर, दिल्ली)

'योगी का आत्म-चरित्र' का विमोचन, जनवरी १९७२, श्रद्धानन्द भवन, ज़ोरबाग़, नई दिल्ली में महात्मा आनन्दस्वामी, पं० क्षितीश वेदालंकार, योगीजी, तथा पं० रामचन्द्र देहलवी।

कालभैरव-यात्रा, २३.९.७३ को श्रीराममन्दिर, हरसूद पर शोभायात्रा, योगीजी मध्य में

कालभैरव-यात्रा के पथ में पुरानी पामाखेड़ी के पास
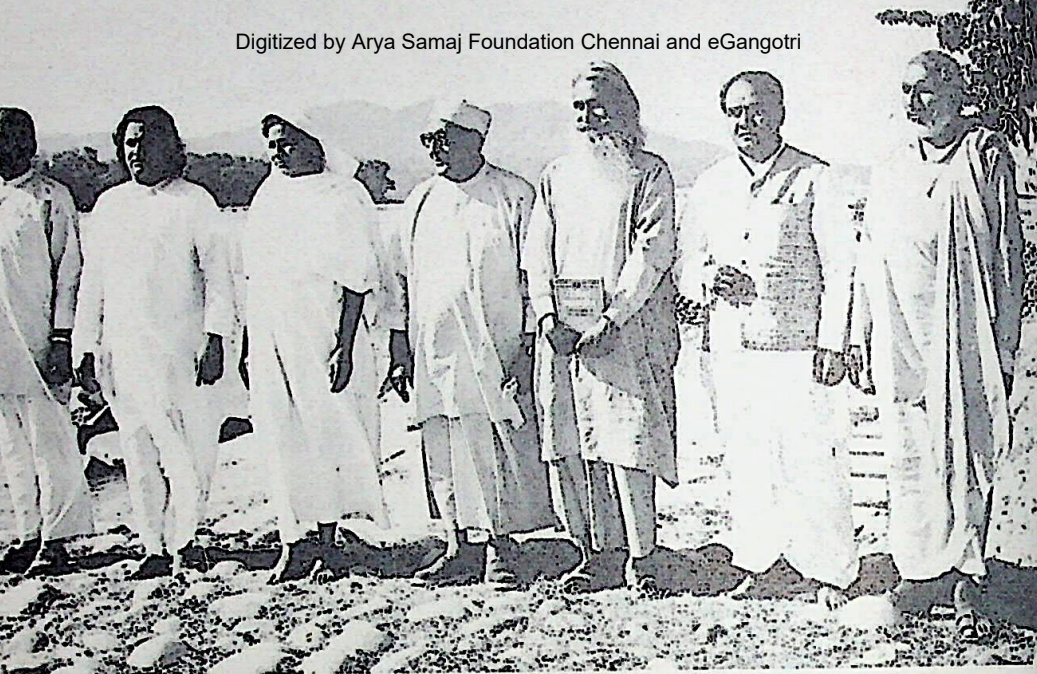
सप्त-सरोवर, हरिद्वार में योग शिविर १९७२-७३ में योगाचार्य भगवान् देव, माता मीरा यति, महात्मा आनन्द स्वामी, योगी जी, श्री ओमप्रकाश त्यागी आदि

दक्षिण भारत में योगी जी का एक साधना-शिविर

ROTARY CLUB LATUR
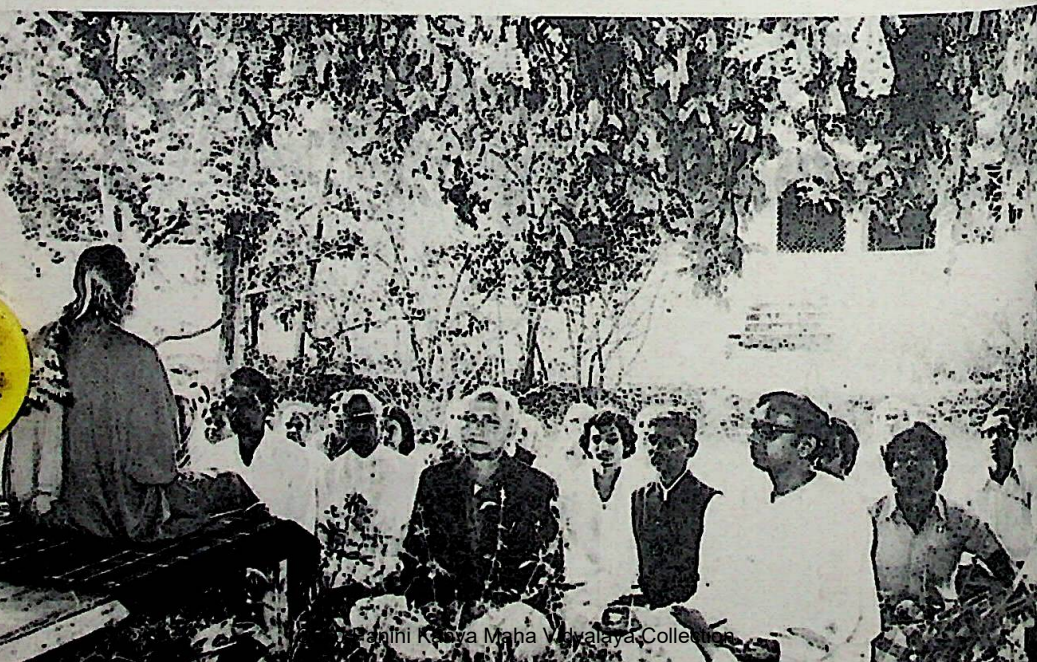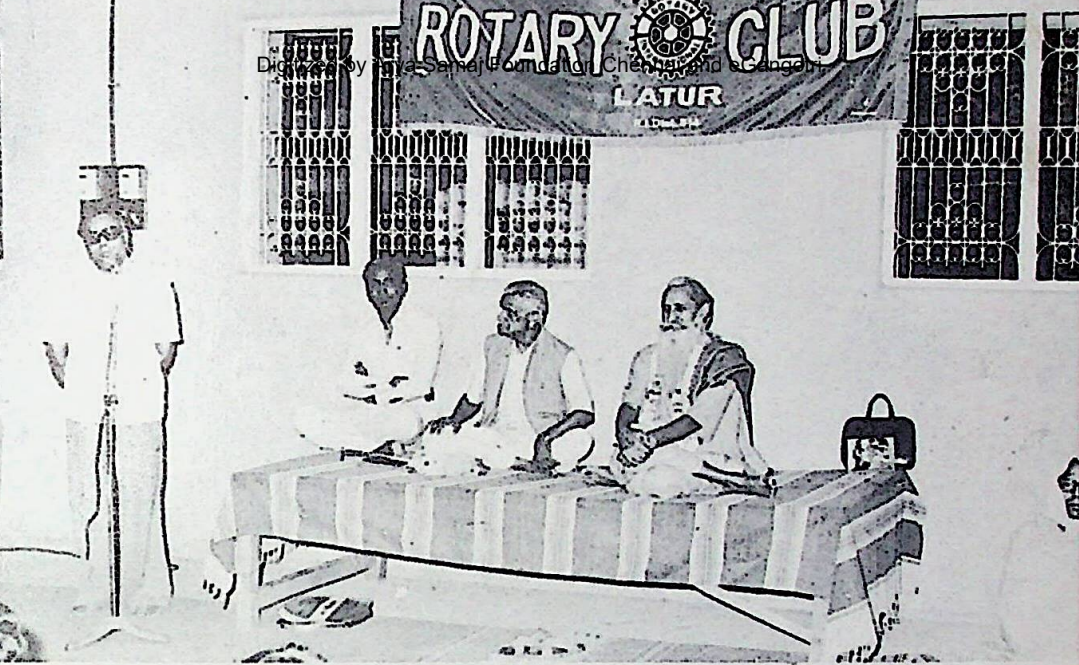
रोटरी क्लब, लातूर के योगशिविर में योगीजी

काचीगुड़ा हैद्राबाद में योगी जी, श्री बाबूराव चौहान का परिवार एवं श्री गंगाराम वानप्रस्थी
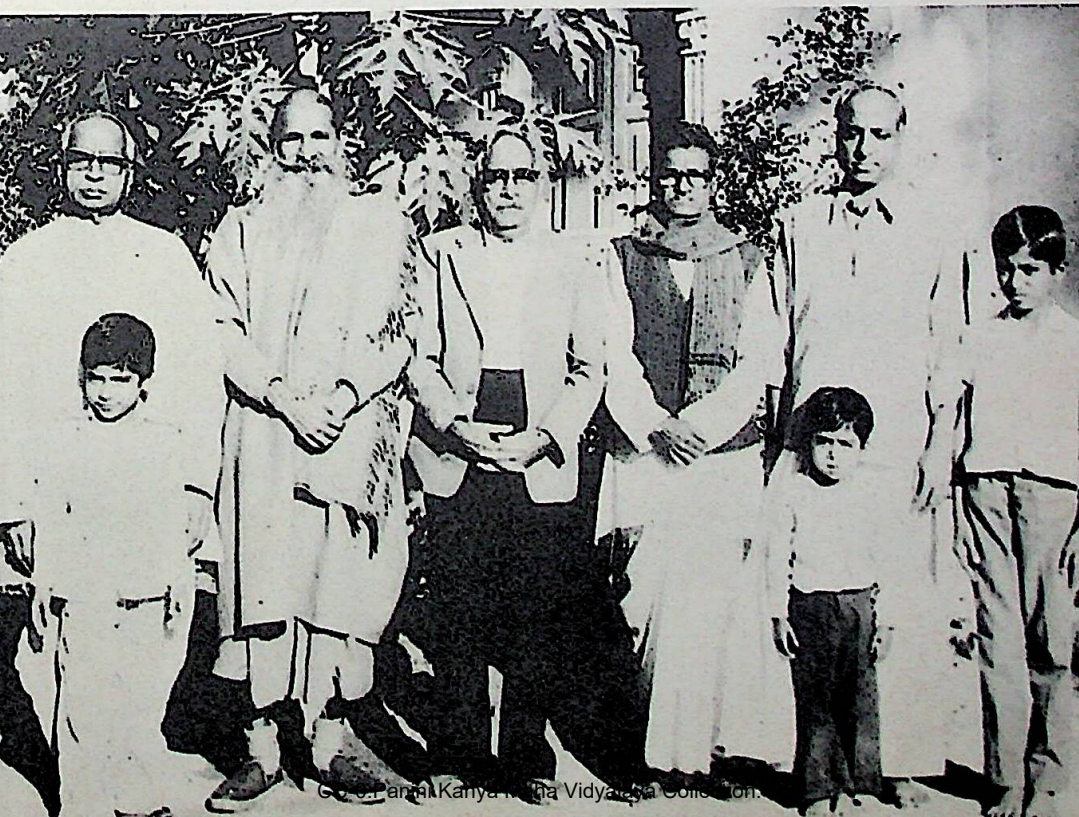
हैद्राबाद में योगी जी, उन की प्रमुख योग शिष्या ब्र० निर्मला योगभारती (दायें से तीसरी) तथा अन्य साधिकाएं

गांधी ज्ञान मन्दिर (हैद्राबाद) के साधना शिविर में पं० वेदभूषण (दायें से तीसरे) एवम् अन्य

हैद्राबाद के एक साधना-शिविर, १९७५, में ध्यानस्थ साधक-साधिकाएं

'योगधाम' ज्वालापुर के एक शिविर में साधना कराते हुए योगी जी,
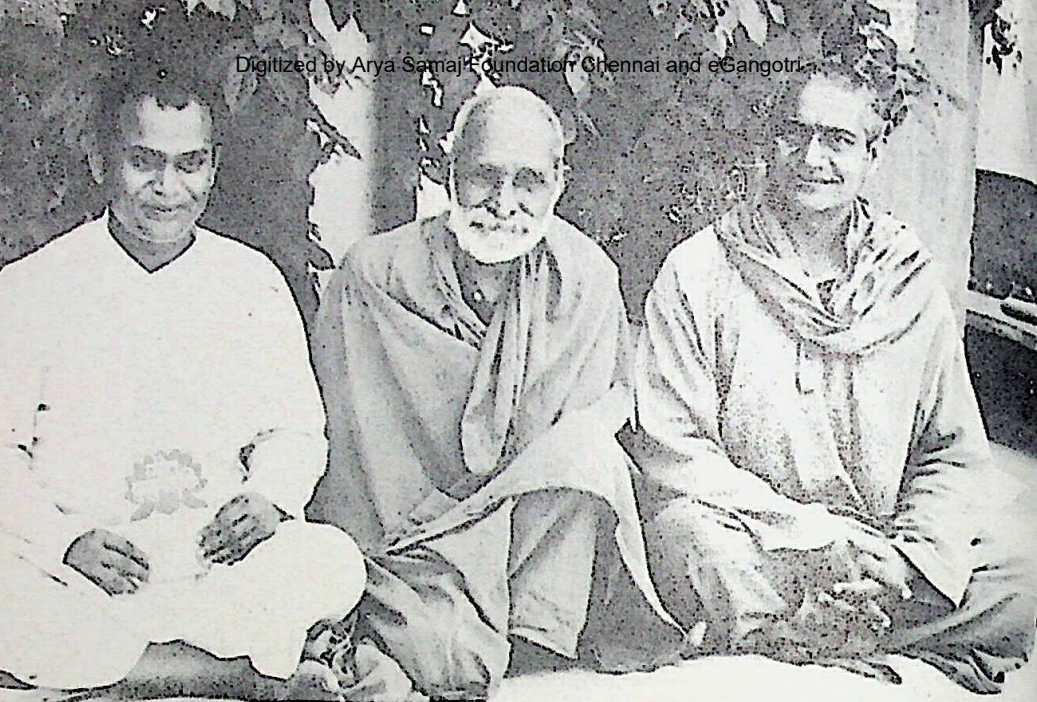
'योगधाम में ब्र॰नन्द किशोर तथा स्वा॰ दिव्यानन्द सरस्वती के साथ योगी जी, सन् १९८९.

'योगधाम' में सतत अभ्यासरत साधक क्रमशः स्वा॰ सोमानन्द, स्वा॰ ब्रह्मानन्द, स्वा॰ सच्चिदानन्द योगी, स्वा॰ दिव्यानन्द सरस्वती, स्वा॰ योगानन्द, तथा पीछे बैठे-श्रीरणजित् मुनि 'तन्मय', वैद्य जी, ब्र॰ वीर-बहादुर
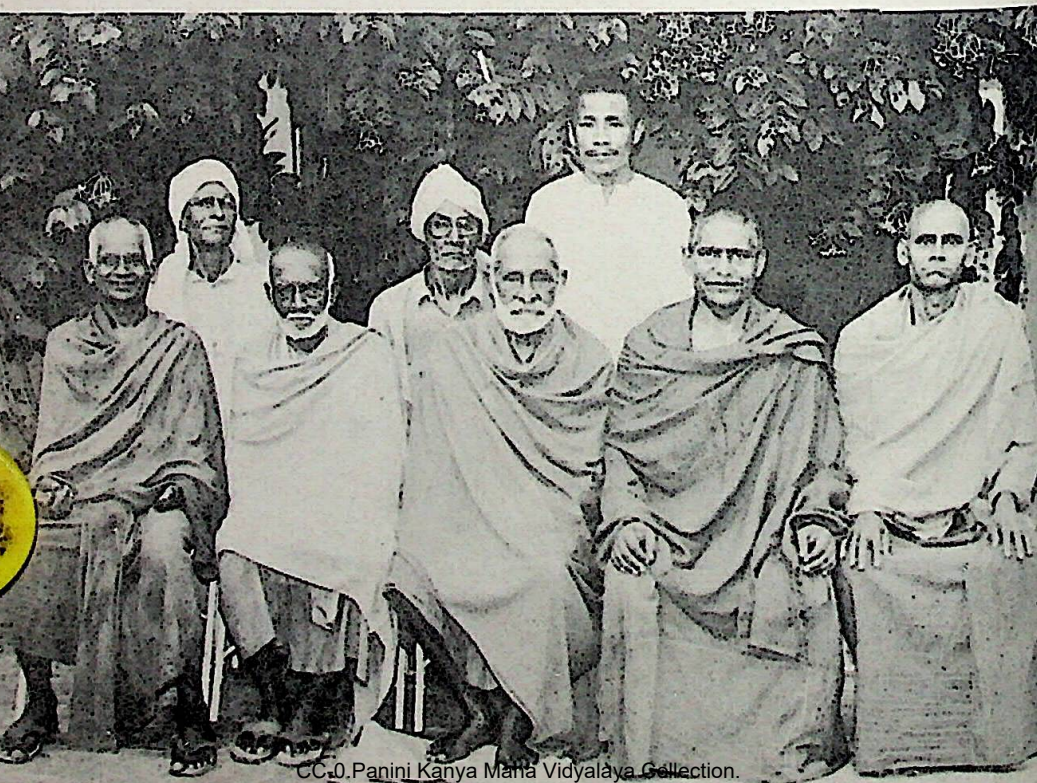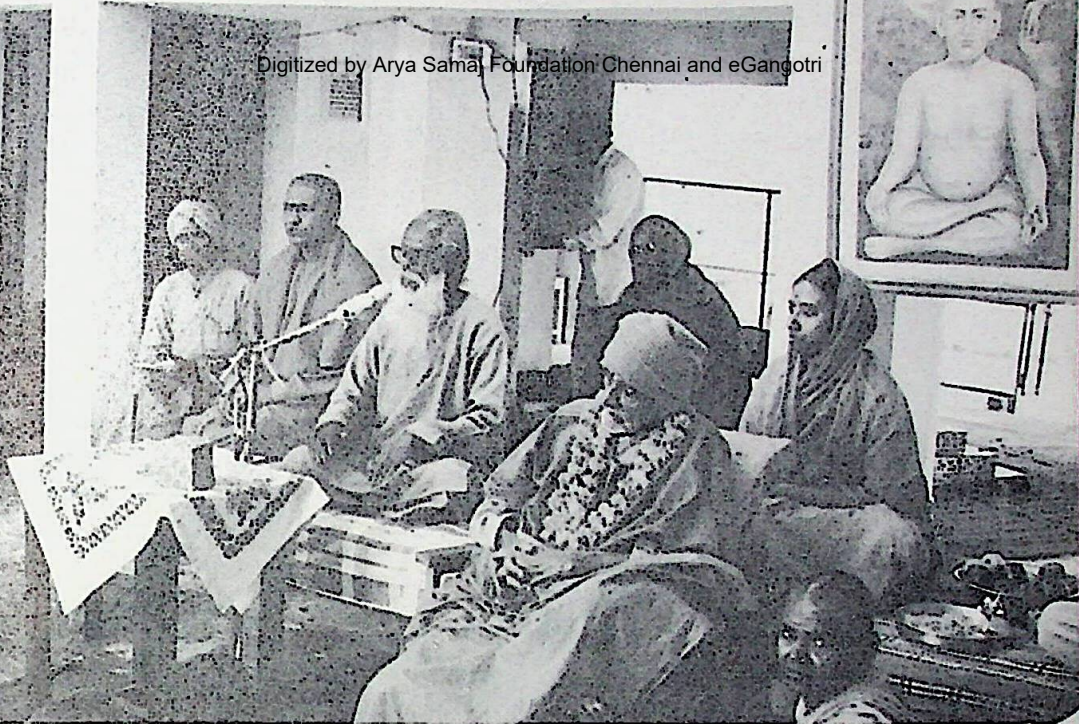
२८.१०.१९८९ को 'योगशिविर के समापन पर 'योगधाम' में योगी जी का अभिनन्दन; क्रमशः — स्वा० योगानन्द, स्वा० दिव्यानन्द, माता मीरा यति, ब्र० निर्मला योगभारती, एवं स्वा० भजनानन्द

विश्वयोग सम्मेलन, दिसम्बर १९८७, में व्यासपीठ पर क्रमशः स्वामी श्याम, स्वामी सच्चिदानन्द योगी, स्वामी दीक्षानन्द सरस्वती, तथा जगदगुरु शंकराचार्य
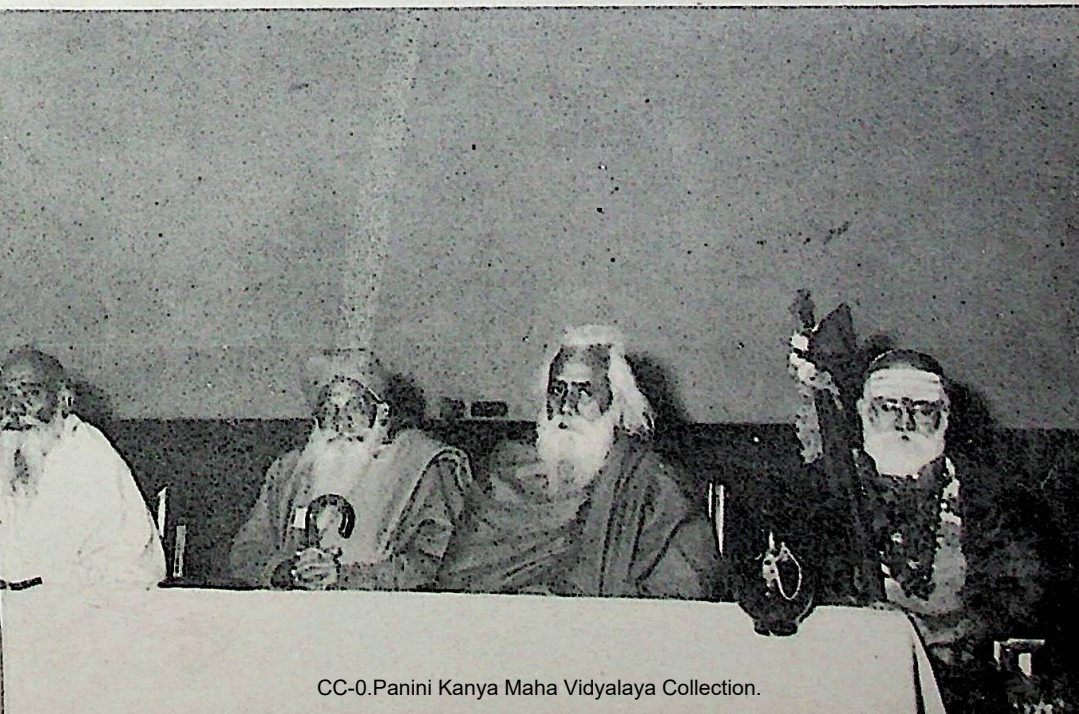
विश्वयोग सम्मेलन, १९८७, में भाषण देते हुए योगीजी

सम्मेलन के संयोजक आचार्य भगवान् देव के साथ

श्रोताओं में डॉ॰ वेदव्रत 'आलोक' व अन्य के साथ बैठे योगीजी
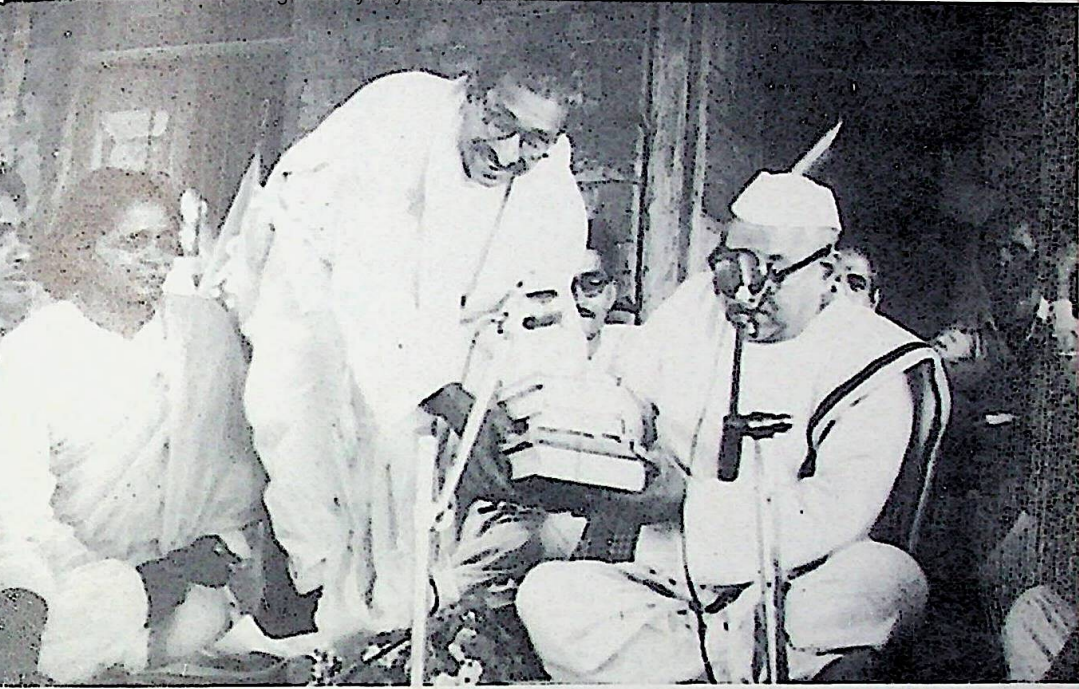
सन् १९५९ में लोकसभाध्यक्ष श्री अनन्तशयनम् अय्यंगार को आचार्य श्री वैदिक साहित्य भेंट कर रहे हैं।

मंत्रपाठ करते हुए ब्रह्मचारीगण, आचार्यश्री, श्री अय्यंगार, आचार्य विश्वश्रवाः व्यास, एवम् अन्य।
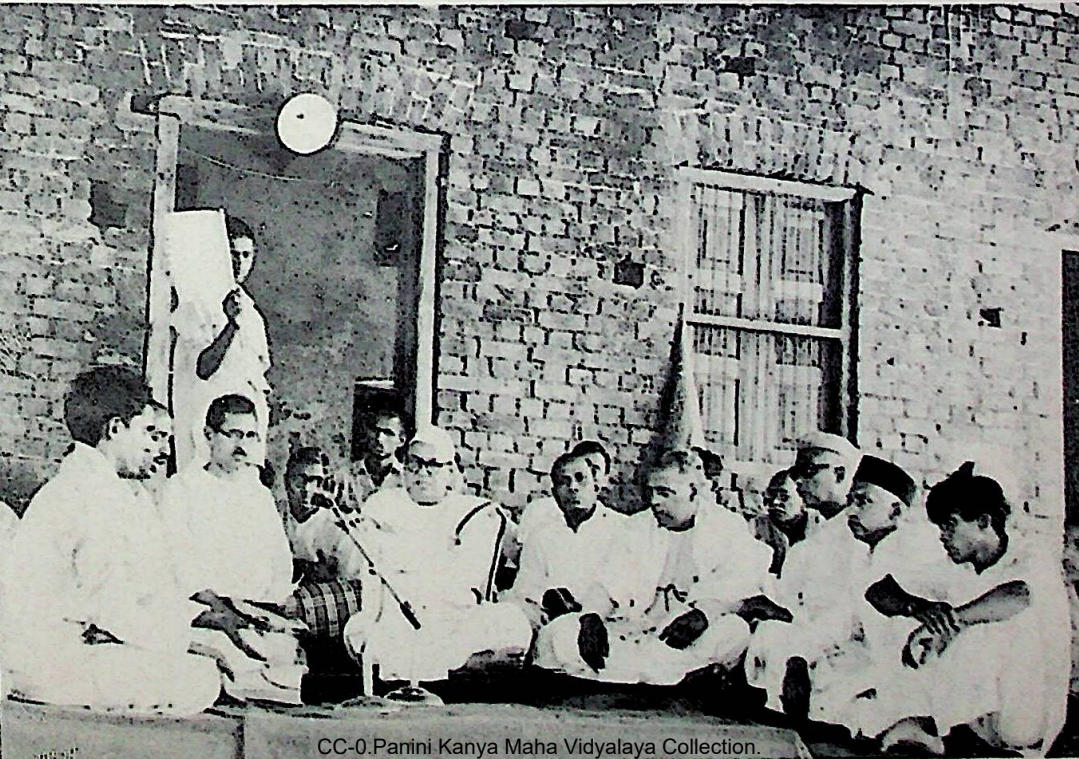
गुरुकुल श्रीमद्दयानन्द वेद विद्यालय के ब्रह्मचारीगण, अध्यापक वृन्द तथा विशिष्ट अध्यापकों के मध्य माला पहने हुए आचार्य श्री राजेन्द्रनाथ शास्त्री, सन् १९५२-५३.

गुरुकुल के वार्षिक समारोह १९५८ में आचार्य श्री द्वारा अभिनन्दित श्री रघुवीर सिंह शास्त्री, प्रो॰ शेरसिंह, आचार्य भगवान् देव, श्री जगदेवसिंह सिद्धान्ती। पीछे खड़े हुए— (डॉ॰) कृपाराम पूनिया (गोदी में पुत्री आभारानी), (पुत्र) वेदव्रत 'आलोक', पं॰ बुद्धदेव शास्त्री, श्री हरिशरण 'बाइबिल-आचार्य', एवं अन्य।
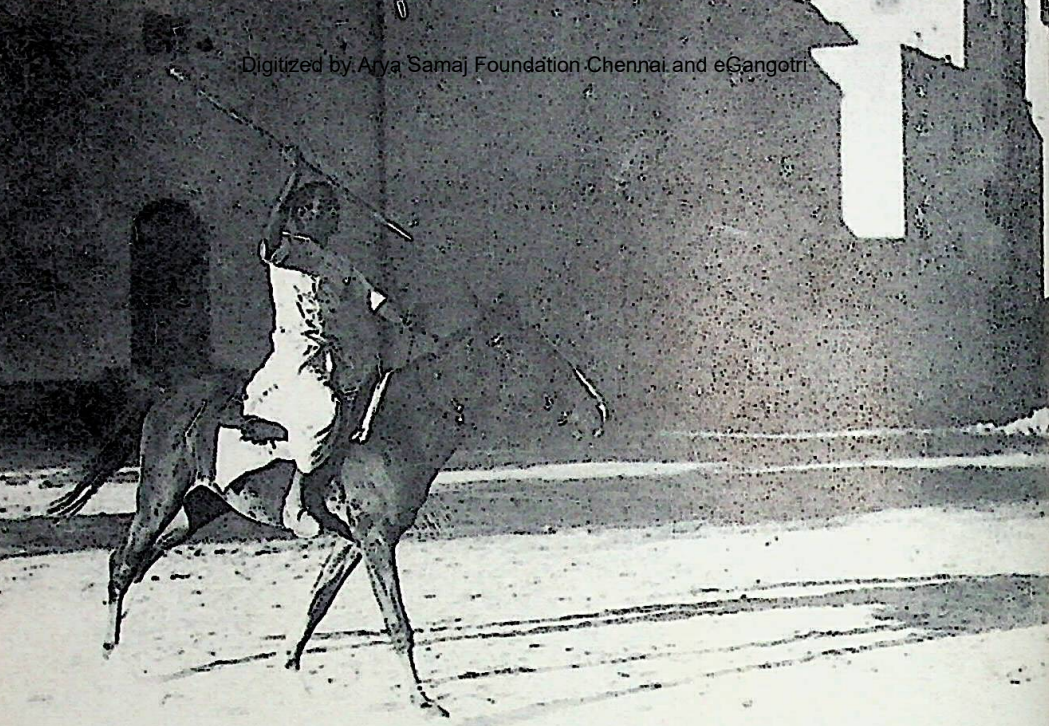
घुड़सवारी का अभ्यास करते हुए ब्रह्मचारी, प्रायः सन् १९४०

घनुर्विद्या में 'पृष्ठ-लक्ष्य भेद' का अभ्यास करते ब्रह्मचारी,
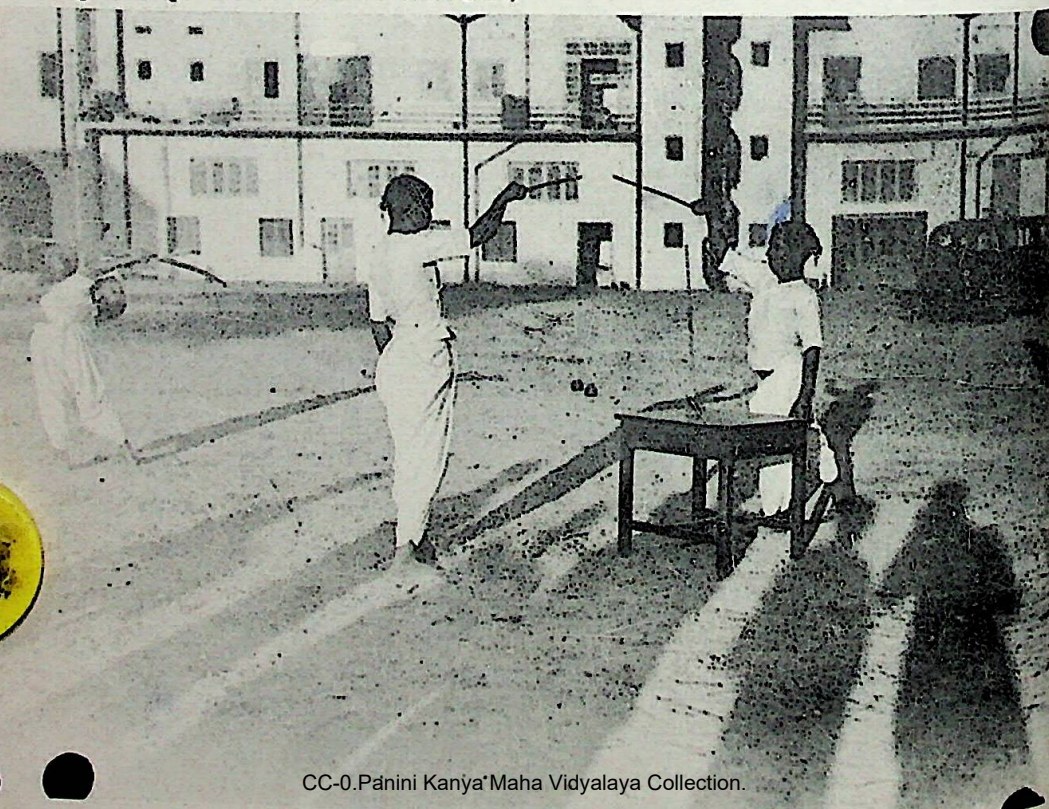
प्रकृति भी शान्त होती है। प्रकृति के तीनों गुण सम अवस्था में होते हैं। न सत्त्व प्रकाश करता है। न रज चलता है। न तम रोकता है। सब सम अवस्था होती है। अनोखी अनिर्वचनीय अवस्था होती है।

ऐसी अवस्था एक हजार चतुर्युगियों* तक रहती है।

२. सोने का अण्डा

यह प्रलय की अवधि पूरी हुई।

महा रात्रि समाप्त हुई। भगवान् की स्वाभाविक क्रिया में ही मानव-दृष्टि से रचना आरम्भ हुई। अन्धेरा, घोर अन्धेरा समाप्त हुआ। अप्रकट को प्रकट करते ही भगवान् स्वयम्भू भासने लगे। सर्वत्र क्रिया प्रवृत्त हुई। सब कुछ हिलने लगा। भगवान् ने उन सब में सामर्थ्य डाला। तीनों गुणों का एक वबूला (वायु गोला) सा उठा। वह बड़ा विशाल महान् अण्डाकार पिण्ड सा लगता था। सोने के समान चमकीला था। सूर्य के समान उस की उग्र प्रभा थी।

सब लोकों के पिता ब्रह्मा जी स्वयम् उस में भास रहे थे। यह अण्डा परिवत्सर तक परिपाक को प्राप्त होता रहा।

तब भगवान् ने अपने परिपूर्ण ज्ञान से उस अण्डे को विभक्त कर दिया। जिस से अगणित नक्षत्र, ग्रह, उपग्रह: पृथिवी आदि लोक और सर्वत्र मध्य में आकाश और दिशाएँ बनने लगीं।

प्रलय में सुषुप्त, अबोध अवस्था में पड़ी आत्माओं का भी उद्धार होने लगा और सर्वत्र सब अपनी-अपनी सत्ता में आने लगे। अहं तत्त्व उत्पन्न हुआ। आकाश, वायु, अग्नि, पानी और धरती की मात्राएँ अपने-अपने शुद्ध रूप में वनने लगीं। साथ ही साथ कान, स्पर्श, आंख, रसना, और नाक, यह पांचों ज्ञानेन्द्रियां, जानने के साधन, और पांच कर्मेन्द्रियाँ— हाथ, पैर, जिह्वा, शौच और मूत्र की इन्द्रियाँ और मन बने। इन तन्मात्राओं से ही पांचों स्थूल भूत बने। परमाणु विवर्त से काल की भी गणना होने लगी।

स्थूल भूतों के बनते ही लोक-लोकान्तरों में सम-विषम भूमि, पहाड़, टीले, सागर, और नदियाँ बनने लगीं, नक्षत्र और ग्रह बनकर तैयार हो

---

* एक चतुर्युगी में तैंतालीस लाख बीस हजार वर्ष होते हैं। ऐसी-ऐसी एक हजार चतुर्युगियों की यह महाप्रलय रात्रि प्रभु की रात है। अर्थात् ४३२०००० × १००० = ४३२००००००० इतने वर्ष की रात।

गये।

३. अमैथुनी सृष्टि

मधु और माधव वसन्त का प्रारम्भ हुआ। समस्त सृष्टि हरी भरी हो उठी। वनस्पति, वृक्ष, लता, गुल्म, औषधियाँ, पुष्प, फल सब ही प्रकार के पादप अंकुरित हो उठे। जीव, जन्तु की सृष्टि प्रारम्भ हुई। यह सब सृष्टि अमैथुनी थी। प्रथम सृष्टि से पूर्व था ही कुछ नहीं। भगवान् ने ही सब रचा।

इस अमैथुनी सृष्टि-काल में ही मानव भी धरती से ही जवान अवस्था में उत्पन्न हुआ। अन्य सब चतुष्पाद मृग आदि की भी अमैथुनी सृष्टि हुई। इसी प्रकार पक्षी, सर्प, रेंगने वाले जानवर, मत्स्य, कच्छप आदि जलजन्तु तथा अन्य सब सृष्टि उत्पन्न हुई।

भगवान् ने अपने सामर्थ्य से इस अमैथुनी सृष्टि में उत्पन्न हुए पदार्थों में ऐसा सामर्थ्य भी उत्पन्न कर दिया।

४. पुरखों की जन्म-भूमि

सब से पहले मनुष्य त्रिविष्टप में उत्पन्न हुए। यह स्थान तिब्बत के समीप है। यही एशिया महाद्वीप का मध्य भाग जान पड़ता है। संसार में सब से ऊँचा स्थान भी यही है। जल-प्लावन के समय भी यही स्थान डूबने से बचा रहता है।

यहाँ की प्राकृतिक शोभा अनुपम और मनोरम है। प्रत्येक पदार्थ में प्रभु की झाँकी मिलती है। मानो प्रत्येक पदार्थ मुक्त कण्ठ से प्रभु के स्वरूप का गुणगान कर रहा है। ऐसे मनोरम देश में प्यारे प्रभु ने अपने पुत्रों को उत्पन्न किया। यहाँ हिमाच्छन्न गगनचुम्बी पर्वत शिखर सिर ऊँचा कर प्रभु का सन्देश सुनाते हैं तो समीप ही मानसरोवर परम दयालु परम पिता की करुणा-प्रवाह का दृश्य उपस्थित कर रहा है। यहाँ पथरीली भूमि भी है और उपजाऊ मिट्टी वाली भी। एक ओर स्वादु फलों से लदे वृक्ष हैं तो साथ ही उनकी प्रहरी कांटे वाली झाड़ियों की भी न्यूनता नहीं। हिंसक, क्रूर, भोले, स्नेहालु सब ही प्रकार के जन्तु भी। अनोखे-अनोखे पक्षी भी हैं। कीट पतंग भी हैं। सब से बढ़कर है अनुपम निस्तब्धता का शान्तिमय साम्राज्य। स्वच्छ निर्मल, बर्फ के प्रतिबिम्ब से देदीप्यमान स्वच्छ चाँदनी। जहाँ सर्वप्रथम भगवान् से निस्सृत अविच्छिन्न अद्भुत आनन्द प्रवाह में, आत्म विस्मृत अवस्था में परात् पर भगवान् से

अनन्त ज्ञान प्रवाहित हुआ। जीव मात्र के कल्याण का स्रोत खुल गया।

उस के उपरान्त वही पदार्थं अपने आप प्रकृति के नियमानुसार उत्पन्न होने लगा। और जो-जो गुण प्रभु ने उसमें रखा था, वह-वह उत्पन्न होने वाले में भी आने लगा। गेहूं से गेहूं, आम से आम, सिंह से सिंह और बिल्ली से बिल्ली आदि उत्पन्न होने लगे और वे ही सब गुण पूर्व उत्पन्न के गुण पश्चात् उत्पन्न होने वालों में भी आने लगे।

४. पहला गुरु

पशु-पक्षी, कीट-पतंग तो अपने स्वाभाविक ज्ञान के अनुसार, व्यवहार में प्रवृत्त हुए। मानव का विवेक बिना ज्ञान-प्रकाश के बेकार रहा। जिस प्रकार बिना प्रकाश के आंख बेकार हो जाती है। इसलिए परम दयालु भगवान् पहले गुरु बने और सब से पहले शुद्ध पवित्र आत्मा अग्नि में ऋग्वेद का, पवित्र आत्मा वायु के अन्तःकरण में यजुर्वेद का, पवित्रात्मा आदित्य ऋषि के अन्तःकरण में सामवेद का और अंगिरा के मन में अथर्ववेद का प्रकाश किया। जिस प्रकार आत्मा मन को प्रेरणा देता है, उसी प्रकार सर्वज्ञ, सर्वव्यापक परब्रह्म ने ऋषियों पर वेदों का प्रकाश किया। उस परम गुरु से वेदों का ज्ञान पाकर चारों ऋषि निहाल हो गये और इस संसार को भी इस कल्प के लिए निहाल कर दिया। इन ऋषियों ने वेदों का उपदेश अन्य साक्षात् न करने वालों को किया। उन्होंने अपने से आगे वाली पीढ़ी को सुनाया। इस प्रकार इनका नाम सुने जाने के कारण श्रुति पड़ गया।

६. नामकरण

समस्त पदार्थों की रचना हो गयी। सर्वज्ञ भगवान् की व्यवस्था से उन के कर्म भी नियत हो गए। उन पदार्थों की क्रियाओं को देखकर, उसी क्रिया और अर्थ वाले शब्दों को वेद से छांटा गया। उन्हीं शब्दों से उन पदार्थों का व्यवहार होने लगा। वेदों में उन शब्दों के अनेक अर्थ थे, पदार्थों का नाम रखने पर अर्थ संकुचित हो गए। जो लोग ऋषियों के सम्पर्क में आते गए, उन्होंने शुद्ध वैदिक शब्दों का लोक में व्यवहार किया। यह नाम पदार्थों के गुण और कर्म के आधार पर रखे गए थे, अतः इस भाषा का नाम संस्कृत पड़ा और उस काल के जिन मानवों ने उन लोगों की भाषा सुन कर स्वभावमात्र से अनुकरण कर अपनी टूटी फूटी अधूरी भाषा बनायी। वह भाषा प्राकृत कहलाई पर थी वह भी संस्कृत ही।

७. मनुष्य की दो शाखाएँ

सृष्टि से पहले प्रलय के समय आत्माओं के साथ जो मन जिस जिस संस्कार वाला था, सृष्टि के आरम्भ होते ही उसी प्रकार का मन प्रत्येक जीव को मिला। जो मानव सात्त्विक प्रवृत्ति वाले थे, वे ऋषियों के साथ व्यवहार में आये, आर्य कहलाए। उन्होंने उनकी ज्ञान-गरिमा का अनुभव किया। वे उनके शिष्य बने। उनसे वेदों को पढ़ा और अपने जीवन को पवित्र मार्ग पर अग्रसर करने लगे। जो राजसी या तामसी वृत्ति के लोग थे उन्होंने ज्ञान से मुंह मोड़ा। धर्म से घृणा की। आचार की परवाह नहीं की। वह दस्यु कहलाए।

धर्म अधर्म या आर्य दस्युओं का तीव्र झगड़ा खड़ा हो गया। आर्य लोग अपनी ज्ञान-शक्ति और विज्ञान-कला से दस्युओं पर विजय पाते रहे। आचार की पवित्रता पर कितने ही दस्यु आर्यों में शामिल किये गये। कितने ही आर्य धर्म को न निभा सकने पर दस्युओं में मिले।

आर्य धार्मिक, सज्जन, परोपकारी, सरल, ईश्वरभक्त, पाप से डरने वाले, कर्मकाण्डी धर्म-रुचि के लोग थे।

दस्यु धर्म से पराङ्मुख, इन्द्रियलोलुप, विषयी, भोग-प्रवृत्ति के लोग थे। शरीर का पोषण ही इनका मुख्य ध्येय रहता, लड़ते-झगड़ते और सदा अशान्त रहते थे।

८. आर्यों की जानकारी

आर्यों का ज्ञान बहुत बढ़ा चढ़ा था। वह अपने दैनिक कार्यों में पांचों भूतों का प्रयोग बहुत ऊँची अवस्था का करते थे। अग्नि पर उनका पूर्ण अधिकार था। उस से भोजन बनाते। उस में नाना प्रकार के व्यंजन होते थे, उनके भोजन में छहों रसों के खाद्य पदार्थ होते थे। अनेक प्रकार के रसायन वनाते। कपड़े भी भली-भाँति बनाते थे। प्रकृति से संघर्ष करने के लिए शरीर को दृढ़ रखते थे। इसी से वस्त्रों की विद्या जानते हुए भी उन का कम प्रयोग करते थे। सवारियों का निर्माण भी जानते थे, पर काम में कम लाते थे। सवारी के अधीन न हो जायें, इस भय के कारण पैरों से अधिक काम लेते थे। योगाभ्यास से दूर की बात जान लेते थे। इसी कारण भी इधर-उधर जाने-आने का कम काम पड़ता था। प्रकृति पर पूरा शासन था। प्रकृति के मोह में न फंसे थे। प्रकृति के भोग को दुःखमय जानते थे, इसलिए आत्मा और परमात्मा की खोज में अधिक रहते

थे। सूक्ष्म से सूक्ष्म मानस तत्त्वों को जानते थे। उनके मन की शक्तियों का विकास भी बहुत बढ़ा चढ़ा था। औषध आदि की आवश्यकता बहुत कम पड़ती थो, पर वह जानते सब रोगों का उपचार थे। कितने ही रोगों को तो यज्ञों से ठीक कर लिया करते थे। घर भी बनाते थे, पर बहुत थोड़े क्योंकि उस समय के अधिकांश व्यक्ति खुली हवा में, खुले आकाश के नीचे प्रकृति के सम्पर्क में रहना अच्छा समझते।

९. आर्यों का अवतरण

वेदों में खुले मैदानों, लम्बी चौड़ी नदियों, नाना प्रकार की धातुओं, उन से निर्मित शस्त्र-अस्त्रों, समतल भूमि में बने दस दस मंजिलों वाले मकानों, घोड़ों, ऊंटों, गायों, बैलों, सैकड़ों प्रकार के अन्नों, कृषि, छहों ऋतुओं, नाना प्रकार की वनस्पतियों, औषधियों, रत्नों, स्थल और जल-जन्तुओं, बड़े योगों, विश्वविजय आदि ऐसी बातों का उल्लेख था जो वहां त्रिविष्टप में नहीं पायी जाती थीं। अतः आर्यों ने इन सबकी खोज आरम्भ की। ऊपर को चढ़ना कष्टकर, और उद्देश्यपूर्ति में सहायक न पा आर्यों ने नीचे उतरना प्रारम्भ किया। वे इस भारत के लम्बे-चौड़े, हरे-भरे मैदानों में आए। यह भूमि त्रिविष्टप से बहुत दूर न थी। उन्होंने भ्रमण कर सब देखा-भाला, ब्रह्मा जी की तीसरी पीढ़ी मनु जी के समय में ही इस सारे देश को सीमाएँ निर्धारित कर लीं।

१०. आर्यावर्त्त

महाराज मनु का राज्यकाल प्रारम्भ हुआ। महाराज मनु ने आर्यावर्त्त की सीमा निर्धारित की। पूर्व और पश्चिम में समुद्र। पश्चिम में सरस्वती-सिन्धु नदो जो मानसरोवर से निकल कर दक्षिण के समुद्र में जा मिली है और पूर्व में ब्रह्मपुत्र (दृषद्वती) जो कैलास पर्वत शृंखला से निकलकर आसाम और ब्रह्म देश के पश्चिम में बहती है। उत्तर में हिमालय था ही।

[अपूर्ण—इस लेख का आगे का अंश नहीं मिल सका।]

शास्त्रार्थों का एक युग और आचार्य राजेन्द्रनाथ शास्त्री

–स्वामी आनन्दबोध सरस्वती*

[सार्वदेशिक सभा के प्रधान श्री स्वामी आनन्दबोध सरस्वती और श्री स्वामी सच्चिदानन्द योगी—दोनों लगभग समवयस्क हैं। दोनों का मुख्य कार्यक्षेत्र दिल्ली ही रहा है। और दोनों में परस्पर मैत्री के साथ आर्यसमाज और ऋषि दयानन्द के प्रति अगाध निष्ठा है। उस युग के जितने संस्मरण स्वामी आनन्दबोध जी को हस्तामलक हैं, उतने कदाचित् अन्य किसी को नहीं होंगे। परन्तु अत्यन्त व्यस्त होने के कारण दो दिन तक उनसे वार्तालाप करके श्रुतलेख में ये संस्मरण तैयार किए गए हैं।]

पुरानी दिल्ली में यमुना के तट पर ब्रिटिश शासनकाल में भी अनेक संस्कृत विद्यालय बड़ी धूमधाम से चलते थे। देश के दिग्गज विद्वान् उनमें अध्यापन का कार्य करते थे। ये सभी विद्यालय पुराने ढर्रे के पौराणिक विचारधारा के रंग में रंगे हुए थे। ऐसा प्रतीत होता था कि यमुना का तट एक छोटी सी काशी है। प्राय: इन विद्यालयों में ब्राह्मणकुलोत्पन्न विद्यार्थियों को ही प्रवेश मिल सकता था। 'वेद-वेदांग विद्यालय' जिसमें पंडित मुखराम शास्त्री व्याकरणाचार्य प्रमुख आचार्य थे, साथ ही पं० ताराचन्द शास्त्री का संस्कृत विद्यालय भी बड़ी सजधज के साथ चलता था। लालकिले से लेकर यमुना तट तक जो कच्ची सड़क जाती है, उसके हर भवन में कोई न कोई छोटा बड़ा संस्कृत विद्यालय चलता था। नील के कटरे के खत्री लोग म० म० पं० हरनारायण शास्त्री के अनन्य भक्त थे। श्री शास्त्री जी का भी इन सभी विद्यालयों के साथ गहन सम्बन्ध था। इसके अतिरिक्त विद्यावाचस्पति पं० प्रभुदत्त शास्त्री भी अपनी विद्यार्थी सेना के साथ मारवाड़ी समाज में पूजे जाते थे। दिल्ली के मारवाड़ी व्यापारियों के लाखों रुपये इन संस्कृत विद्यालयों पर व्यय होते थे। सभी पण्डितों में अपनी-अपनी शिष्यमण्डलियों पर प्रभाव जमाने की होड़ सी लगी रहती थी।

---

* प्रधान, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा

स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के बलिदान, सन् १९२६ के पश्चात् आर्यसमाज में उन दिनों प्रातः स्मरणीय पं० रामचन्द्र जी देहलवी का बड़ा वर्चस्व था। प्रतिदिन कहीं न कहीं छोटे बड़े शास्त्रार्थ हुआ करते थे। उन्हीं दिनों 'बनारसी कृष्णा थियेटर' जो इस समय आर्यसमाज दीवानहाल के बगल में मोती टाकीज के नाम से प्रसिद्ध है, में एक कौतूहलजनक शास्त्रार्थ हुआ। ईसाई मिशन ने जिसका प्रधान कार्यालय पटौदी हाऊस दरियागंज के पास था, पादरी अब्दुल मसीह जो उसके संचालक थे, सनातन धर्मियों को शास्त्रार्थ के लिए चैलेंज दिया। दिल्ली में यह बड़ी चर्चा का विषय बना। दिल्ली के मारवाड़ियों ने जयपुर से पं० गिरधर शर्मा चतुर्वेदी को बुलाया। इस शास्त्रार्थ में पादरी अहमद मसीह (प्रज्ञाचक्षु) ने पं० गिरिधर शर्मा से प्रश्न किया कि महीधर ने 'गणानां त्वा गणपतिं हवामहे' मन्त्र के बड़े अश्लील अर्थ किये हैं। महीधर के वेदार्थ भाष्य पर पादरी महोदय ने अनेक आक्षेप किये। इस पर पण्डित गिरिधर शर्मा ने पं० गंगाप्रसाद शास्त्री से पूछा—क्या यहां कोई आर्यसमाजी है। मंच पर आर्यसमाज चावड़ी बाजार के पुरोहित पं० रामचन्द्र जी भी विराजमान थे। उनसे स्वामी दयानन्द का वेदभाष्य मंगाया गया। थोड़ी देर में वेदभाष्य आ गया। पादरी ने फिर आवाज दी कि "पण्डित जी ! क्या आपको सांप सूंघ गया है। मेरी आपत्तियों का उत्तर दीजिए।" पण्डित जी ने ऋषि दयानन्द का वेदभाष्य पढ़कर सुनाया और कहा कि पादरी जी द्वारा किया गया वेदभाष्य अशुद्ध है। पादरी के कहने पर पण्डित जी ने वेदभाष्य दुबारा पढ़कर सुनाया। सुनते-सुनते अन्धा पादरी कानों पर हाथ रखकर खड़ा हो गया और बोला कि "आप किसका वेदभाष्य सुना रहे हैं—"महीधर का या स्वामी दयानन्द का ? मेरी आपत्ति तो महीधर के वेदभाष्य पर थी।" पं० गिरिधर शर्मा बोले कि "मैं यदि स्वामी दयानन्द का वेदभाष्य सुनाता हूं तो क्या हुआ, वे भी तो हमारे थे।" पादरी बोले—"तुम लोग दिन-रात अपने संस्कृत विद्यालयों में और सड़कों पर स्वामी दयानन्द को गालियां निकालते हो। आज तुम पर मुसीबत पड़ी है तो स्वामी जी याद आ गये।"

इस शास्त्रार्थ का जनता पर गहरा प्रभाव पड़ा, और जनता पर आर्यसमाज की गहरी छाप बैठ गई।

ब्रह्मा जी कौन थे ? : शास्त्रार्थ-संस्मरण

सब्जी मण्डी का क्षेत्र पुरानी दिल्ली का एक महत्त्वपूर्ण भाग है।

सन् ४० की घटना है। वहां पंजाब के कुछ लोगों ने अपने नये मकान बनाने प्रारम्भ किये। उन्हीं मकानों के पास आर्यसमाज दीवानहाल के पं० रामचन्द्र जी जिज्ञासु भी रहते थे। उन्होंने हमें बताया कि सब्जी मण्डी में पं० माधवाचार्य वेद विषय पर व्याख्यान दे रहे हैं, और वेद के नाम पर वे खुल्लमखुल्ला आर्यसमाज और दयानन्द का विरोध कर रहे हैं। आर्य-समाज दीवानहाल में श्री रामदुलारे लाल, पं० बटेश्वर दयाल आदि उप-स्थित थे। जिज्ञासु जी ने बताया कि आज शाम उनका अन्तिम भाषण है। हम सबने निश्चय किया कि आज शाम अपने सभी सहयोगियों के साथ इस भाषण में सम्मिलित होंगे। ला० ओमप्रकाश जी ने अपना तांगा मंगवा लिया और वीरेन्द्र शास्त्री, पं० बटेश्वर दयाल आदि को साथ लेकर हम सब्जी मण्डी पहुंचे।

पं० माधवाचार्य ने अपना भाषण प्रारम्भ करते हुए आपत्ति उठाई कि जिस प्रकार मुसलमान कुरान का उतरना मानते हैं, उसी प्रकार आर्य-समाजी भी वेद का आविर्भाव बताते हैं। इस पर पं० वीरेन्द्र जी ने उठकर आपत्ति की, किन्तु पं० माधवाचार्य ने अपने वाग्जाल से पं० वीरेन्द्र जी को शान्त कर दिया। मैंने सोचा, ऐसे काम नहीं बनेगा। मैं बीच में खड़ा हो गया और बोला, "पण्डित जी आप जैसे महाविद्वान् के भाषण में कोई टोका-टोकी करे यह हमें कतई पसन्द नहीं। मेरा प्रस्ताव है कि आप अपना भाषण अबाध गति से दें। यदि उस पर किसी को शंका हो तो उसका समाधान भाषण के अन्त में कर दिया जायेगा।" मैंने स्वयं को उनके प्रति श्रद्धावान् तथा सनातनी विचारों का पोषक होने का आभास दिया। पण्डित जी ने प्रसन्नता से स्वीकार किया कि मैं अन्त में शंका समाधान का अवसर दूंगा।

माधवाचार्य ने अपने डेढ़ घण्टे के भाषण में एक ही बात को बार बार दोहराया कि स्वामी दयानन्द चारों वेदों का आविर्भाव 'अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा' पर मानते हैं। आर्यसमाज मानता है कि परमात्मा निराकार है। चारों ऋषि साकार थे। मेरा यह मूल प्रश्न है कि यदि उन चारों ऋषियों में किसी को वेद पर कोई शंका रही हो तो निराकार परमात्मा ने उसका निवारण कैसे किया। निराकार न तो दिखता है, न शरीरधारी है। पं० माधवाचार्य बोले कि इसका उत्तर सनातन धर्म के पास है कि--ब्रह्म स्वयं ब्रह्मा बने, शरीर धारण किया और चारों शरीरधारी ऋषियों को ज्ञान दिया। यदि किसी को कोई शंका हो तो वो शरीरधारी गुरुशिष्य की तरह परस्पर शंका-निवारण कर सकते हैं। इसलिए मेरा

कहना है, इसका उत्तर स्वामी दयानन्द भी आकर नहीं दे सकता।" पं० माधवाचार्य ने बार-बार यही प्रश्न दोहराते हुए अपना भाषण समाप्त किया।

पं० वीरेन्द्र और श्री रामदुलारे ने खड़े होकर शंका-समाधान का समय मांगा। उस समय हस्तक्षेप करके मैं बोला कि पंडित जी 'शंका-समाधान के आपके वचनानुसार यदि आप अनुमति दें तो मैं कुछ प्रश्न करूं। यह कहकर मैंने उन दोनों को बिठा दिया। पण्डित जी बोले, आप तो हमारे हैं, आप क्या शंका करेंगे। मैंने कहा—"पण्डित जी जब घर में श्राद्ध होता है तो ब्राह्मण के अतिरिक्त घर के बच्चे भी खीर खा लिया करते हैं।" प्रसन्न होकर पण्डित जी बोले—'अच्छा पूछिये।'

मैंने कहा—"ब्रह्म स्वयं ब्रह्मा बने ! मैं आपसे जानना चाहता हूं कि पुराणों के अनुसार एक ब्रह्मा वे थे जिन्होंने अपनी अंगुली को जोर से दबाया और छाला हो गया, जिसमें से शतरूपा नामक एक सुन्दर कन्या जन्मी। वह बड़े हाव भाव के साथ अपने अंगों का प्रदर्शन करती हुई चली तो ब्रह्मा जी पीछे-पीछे चल पड़े। ब्रह्मा जी इतने मोहित हुए कि उनका वीर्य स्खलित हो गया। शतरूपा उनके शरीर के भाग से उत्पन्न हुई थी, अत: उनकी पुत्री हुई। क्या ये ही वे ब्रह्मा थे जिनकी चर्चा आप ने की है?"

"दूसरे यह बतायें कि ब्रह्मा, विष्णु और शिव ये तीनों सती अनुसूया के पास गये, वहां जाकर कुचेष्टा की। सती का सतीत्व भंग करने का प्रयास किया। सती ने शाप दिया और तीनों बालक बन गये क्या ये भी वे ही ब्रह्मा थे।

"तीसरी बात ! सती और भगवान् शंकर का विवाह हुआ और ब्रह्मा जो पुरोहित बने। ब्रह्मा जी को सती के पैर दिख गये। सती ने मुंह पर तो घूंघट किया हुआ था। तब ब्रह्मा जी ने यज्ञकुण्ड की अरणियों पर जलक्षेप किया, जिससे अग्नि बुझी और धूंआ हो गया। इस धूंएं में सती ने घूंघट उठाया और आंखें मलने लगी। ब्रह्मा जी ने सती का मुख देखा और उन का वीर्य भी स्खलित हो गया। आदरणीय पण्डित जी ! यही वेदोपदेशक ब्रह्म थे जिसकी चर्चा आप कर रहे हैं।"

मैंने आगे चुटकी लेते हुए कहा—"पण्डित जी ! दिल्ली के चावड़ी बाजार में कभी वेश्याएं बैठती थीं, और रामलीला की सवारी निकला करती थीं। तब वे कोठों पर सजधज से खड़ी होकर अपने सौन्दर्य का प्रदर्शन करती थीं। दिल्ली के बदमाश भी रामलीला के बहाने वहां जमा हो जाते थे। किन्तु इस अवसर पर किसी का भी वीर्य तो स्खलित होता

नहीं देखा गया। किन्तु आपके ब्रह्मा जी की स्थिति तो अत्यन्त दयनीय थी।"

माधवाचार्य ने हस्तक्षेप करते हुए कहा—कि "मेरे प्रश्न का उत्तर दीजिए कि चारों शरीरधारी ऋषियों की शंका का निवारण निराकरण परमात्मा ने कैसे किया?" मैंने कहा, "पण्डित जी! परमात्मा निराकार है, सर्वशक्तिमान् है और सर्वव्यापक है। जो ऋषि प्रारम्भिक सृष्टि में उत्पन्न हुए थे, वे साक्षात् मुक्ति से लौटकर आये थे। वेद का पवित्र ज्ञान, और मुक्ति से लौटी हुई पवित्र आत्माएं, शंका का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता?"

किन्तु दुर्जनतोषन्याय से यदि मान लें कि किसी को शंका हुई हो तो जिस सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता और सर्वव्यापकता से परमात्मा ने सूक्ष्मता के साथ ऋषियों की हृदय गुहा में ज्ञान दिया था, यदि शंका हुई हो तो उसी सर्वशक्तिमत्ता से हृदय में विराजमान होने से वह उन्हें दूर भी कर सकते हैं।

पं० माधवाचार्य ने कहा कि इस विषय पर एक खुला शास्त्रार्थ होना चाहिए कि वेदों का ज्ञान चारों ऋषियों पर हुआ अथवा श्री ब्रह्मा जी पर। मैंने कहा—पण्डित जी! यह शास्त्रार्थ अभी होना चाहिए। माधवाचार्य जी बोले, "इस समय हमारे पास प्रस्थानत्रयी नहीं है।"

मैंने कहा—यदि प्रमाण कण्ठस्थ हों तो अभी बात कीजिए। यदि नहीं हैं तो दिल्ली में क्यों आये थे। यह दिल्ली तो पं० रामचन्द्र जी देहलवी की क्रीडास्थली है। यहां का जन-जन और कण-कण प्रमाण और युक्ति से परिपूर्ण है।"

उन्होंने पूछा कि क्या आपको प्रमाण कण्ठस्थ हैं।—मैंने उत्तर दिया -- हां, प्रमाण सुनिये—

"अग्नि-वायु-रविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिध्यर्थम् ऋग्यजुःसामलक्षणम्॥"

इस पर सारी सभा पर बड़ा आश्चर्यजनक प्रभाव हुआ, और वैदिक धर्म के जयकारे लगे। सभा विसर्जित हुई। यह शंका-समाधान दिल्ली में चर्चा का विषय बन गया।

रात रात में पं० रामचन्द्र जी देहलवी तक इसकी चर्चा पहुंच गई। और प्रातः ९ बजे वे चांदनी चौक में मेरे पास आये। बोले—"रात जो कुछ शंका-समाधान हुआ, वह सब आद्योपान्त मुझे सुनाओ।" मैंने सारी

कथा सुनाई तो पण्डित जी ने अत्यन्त प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिया और कहा, "तुमने उसको निग्रह स्थान में खड़ा कर दिया"। पण्डित जी बोले— "आर्यसमाज के कुछ पण्डित व्यक्तिगत आक्षेप करके काम बिगाड़ देते हैं। तुमने उनकी प्रशंसा करके उनके अवैदिक सिद्धान्त को निर्मूल किया यह बहुत अच्छा हुआ। इस का सारे नगर पर बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा है।"

पौराणिक पण्डित परास्त

उन दिनों पण्डित राजेन्द्रनाथ जी शास्त्री भरी जवानी में थे। उन्होंने यमुना के किनारे ला० ज्योति प्रसाद जी की सहायता से छोटा सा भूखण्ड लेकर पर्णकुटी में दयानन्द वेद विद्यालय की स्थापना की। उन दिनों स्वामी ओमानन्द जी, ब्रह्मचारी भगवान देव के नाम से उसी विद्यालय में अध्ययन करते थे। घास-फूस की झोंपड़ियों में लगभग पचासेक ब्रह्मचारी आचार्य राजेन्द्रनाथ जी के निर्देशन, संरक्षण में आर्ष पाठविधि के अनुसार संस्कृत शिक्षण पाते थे। उस समय आचार्य जी एक अद्भुत तेजोमय रूप लेकर दिल्ली के पौराणिक विद्वानों में प्रसिद्धि पा रहे थे। वेद विद्यालय के विद्यार्थी, पौराणिक विद्यालयों के विद्यार्थियों के साथ अष्टाध्यायी और लघुसिद्धान्त कौमुदी पर शास्त्रीय चर्चाएं किया करते थे। यह दैनिक वाद-विवाद इतना उग्र रूप धारण कर गया कि पौराणिक विद्वानों की एक बहुत बड़ी सभा हुई, जिसमें उन्होंने अष्टाध्यायी व लघुसिद्धान्त कौमुदी पर चर्चा करके दयानन्द वेद विद्यालय के आचार्य जी को शास्त्रार्थ का चैलेन्ज दिया। यमुना किनारे पर यह शास्त्रार्थ हुआ, जिसमें आसपास के बड़े-बड़े विद्वान् सम्मिलित हुए। इस शास्त्र-समर में सनातन धर्म के दिग्गज विद्वान् म०म० हरनारायण शास्त्री, विद्यावाचस्पति पं० प्रभुदत्त शास्त्री, व्याकरणाचार्य पं० मुखराम शास्त्री और पं० ताराचन्द जी शास्त्री प्रमुख रूप से उपस्थित हुए। आर्यसमाज की ओर से अकेले पं० राजेन्द्रनाथ जी शास्त्री थे। यह शास्त्रार्थ यद्यपि जटिल और साधारण जनता की समझ से परे था, किन्तु विद्वज्जन पर आचार्य जी की युक्तियों का बड़ा प्रभाव पड़ा। इसके पश्चात् आचार्य जी ने सिद्धान्त कौमुदी की अन्त्येष्टि नामक पुस्तक लिखी। जिसका उत्तर कोई भी पौराणिक पण्डित नहीं दे सका।

उन्हीं दिनों की घटना है कि स्वामी श्रद्धानन्द जी का बलिदान दिवस उपस्थित हुआ। श्रद्धानन्द बलिदान भवन से बड़ा भव्य जलूस निकाला गया। शोभायात्रा में सब से प्रबल और संगठित मण्डली दयानन्द वेद विद्यालय की थी। उस समय दिल्ली व शाहदरा में कुल चार आर्यसमाजें थीं। नई दिल्ली अभी बस ही रही थी। जलूस जब लाल कुंआ

पहुंचा तब कोतवाली के बराबर की मस्जिद से जलूस पर पत्थर फेंके गये। दयानन्द वेद विद्यालय के लट्ठबन्द ब्रह्मचारी उस मस्जिद में घुस गये। जलूस बिखर गया, और लाल कूंआ की सभी मस्जिदों में हड़कम्प मच गया। जलूस चांदनी चौक होता हुआ आर्यसमाज दीवान हाल में पहुंचा। उन दिनों दीवान हाल अभी बना ही था। जलूस में संम्मिलित आर्य नेताओं ने आचार्य जी को ब्रह्मचारियों की वीरता पर बहुत साधुवाद दिया। यदि ये ब्रह्मचारी न होते तो आर्यसमाज का जलूस बीच में ही भंग करना पड़ता।

पं० रामचन्द्र देहलवी, पं० देवेन्द्रनाथ सांख्याचार्य और पं० व्यासदेव शास्त्री, ला० नारायणदत्त जी, पं० मनीराम जी, ला० ज्योतिप्रसाद जी आदि का आचार्य श्री पर वरद हस्त था। ये सभी अत्यन्त उदारतापूर्वक विद्यालय की सहायता करते थे। मैं भी दिल्ली के व्यापारियों से चावल-दाल और खाद्य सामग्री की बोरियां एकत्रित करके विद्यालय पहुंचवाता था। उस समय विद्यालय अपने पूरे ओज पर था। व्यवस्था अत्युत्तम थी, विद्यार्थी हृष्ट-पुष्ट और ओजस्वी होते थे। उस समय ऐसा सोचा जाता था कि सभी पौराणिक विद्यालयों को श्रीमद् दयानन्द वेद विद्यालय ने पछाड़ दिया है।

गुरुकुल नये स्थान पर

एक दिन मैं विद्यालय गया। आचार्य जी बोले कि यूसुफसराय वर्तमान गौतमनगर में हमें एक जमीन मिल रही है। वहां जाकर देखा एक खुला मैदान था। चारों ओर जंगल फैला हुआ था। केवल एक अमेरिकन (सफदरजंग) अस्पताल ही मील भर की दूरी पर था। मैंने पूछा आपकी पहली आवश्यकता क्या है। आचार्य जी ने कहा कि 'कूंआ पहले बन जाए तो छोटा-मोटा भवन भी बन जायेगा। लागत का अनुमान किया गया जो तब ५०० रु० की थी। मैं ला० जीवनराम (मा० फर्म अमीचन्द जीवनराम) जी से मिला और उनसे ५०० रु० की यह राशि प्राप्त की। जहां कूंए की खुदाई हुई वह जमीन बड़ी रेतीली थी। कूंआ खोदने के पश्चात् चारों ओर का किनारा टूट गया, और कूंआ फिर मिट्टी से भर गया। आचार्य जी फिर मिले और बताया कि इन्जिनीयरों के अनुसार ढाई हजार में पक्का कूंआ बन जाएगा। मैंने पुनः लाला जी से निवेदन किया और उन्होंने अत्यन्त उदारता के साथ यह राशि दे दी। तब कूंआ पक्का बनाया गया जो आज भी यहां सुरक्षित है। आज तक यहां के विद्यार्थी और आसपास के निवासी भी अत्यन्त तृप्ति प्राप्त करते हुए इस का स्वादिष्ठ और गुण-

कारी जल पी रहे हैं।

उन्हीं दिनों आचार्य जी के पिता श्री ला० प्यारेलाल जी वानप्रस्थ लेकर चौबीस घण्टे विद्यालय में ही रहते थे। विद्यालय के चारों ओर कोई वस्ती नहीं थी। जब भारत में सन् ४७ के पश्चात् पहली राष्ट्रीय सरकार वनी, और मौलाना अब्दुल कलाम आजाद शिक्षामन्त्री बने तो एक बार मौलाना जी वेद विद्यालय के पास पहुंचे। आर्यसमाज के एक विद्यालय की उपस्थिति से अवगत होने पर भी मौलाना ने एक सिनेमाहाल 'मोहिनी थियेटर' के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। आर्यसमाज के क्षेत्रों में भी विरोध हुआ, और आचार्य जी ने भी भाग दौड़ की। किन्तु मौलाना के प्रस्ताव से सिनेमा बन ही गया। इससे स्वाभाविक था कि विद्यालय के विद्यार्थियों को बाधा पहुंचती।

विनोदी स्वभाव

आचार्य श्री राजेन्द्रनाथ शास्त्री के साथ मेरे मधुर सम्वन्ध थे। उनके नाम के साथ उनका हंसमुख मुखमण्डल जब याद आता है तो सारी पुरानी स्मृतियां मुखर हो उठती हैं। उनके हास्य को देखकर मैं कहा करता कि कभी केवल हंसने का ही कार्यक्रम रखें तो अच्छा रहे। वे बोले—"मेरी हंसी तो धर्म प्रचार के साथ चलती है।" उन्होंने बताया कि वेद विद्यालय के जलसे पर हरियाणा के एक भजनोपदेशक चौधरी को बुलाएंगे। तुम उनके भजन सुनना, उनके एक-एक पद से हंसी की फुहारें छूटती हैं।

उन दिनों स्वा० आत्मानन्द जी महाराज दिल्ली आए हुए थे, और दयानन्द वेद विद्यालय के उत्सव पर उन्हें प्रधान पद पर आसीन करने का प्रस्ताव था। आचार्य जी ने उस दिन एक और नया तमाशा किया। दिल्ली के आर्यसमाजी पहलवान छज्जू खलीफा को बुला लिया। वे कहते थे कि मैं जब समाधि लगाता हूं तो भगवान् के दर्शन करता हूं। आचार्य जी ने सबके सामने पूछा—'कहिए भगवान् कैसा है।' छज्जू बोला, "उसके हाथ में बंसी है और वह मोरमुकुट धारण किये है।" आचार्य जी ने मजाक में कहा—"अरे छज्जू तू तो योगी हो गया।"

जब स्वामी आत्मानन्द जी व्यास पीठ पर विराजे तो छज्जू खलीफा भी उनके एकदम साथ बैठ गया। मैंने पूछा इसे यहां क्यों बिठाया है। आचार्य जी बोले—भई अब यह योगी हो गया है न, इसलिए ठीक ही बैठा है।—इस प्रकार उनके साथ मेरा समय हंसी खुशी और परस्पर स्नेह-पूर्वक व्यतीत होता था।

आचार्य राजेन्द्रनाथ जी शास्त्री ही बाद में आचार्य विश्वश्रवा को दयानन्द वेद विद्यालय में ले आए। इस सम्बन्ध में कुछ न कहा जाये तो ही अच्छा है। ये दोनों 'घनिष्ठ मित्र' हुआ करते थे। आचार्य श्री पर भी विश्वश्रवा जी का कुछ ऐसा प्रभाव हुआ कि उन्होंने वेद विद्यालय उनके ऊपर छोड़ दिया और तब से यह विद्यालय ह्रासोन्मुख होता गया। इस अवस्था में जो कष्ट और चिन्ता हम सब को थी, उससे भी अधिक आचार्य जी को थी। आचार्य जी दिल्ली से चले गये। अनेक उत्थान पतन के बाद अब यह गुरुकुल आचार्य हरिदेव के सबल हाथों में आ गया और इसने तब से लगातार उन्नति की है। दिल्ली की आर्य जनता का पूरा सहयोग इसके साथ है। जैसा तप-त्याग आचार्य श्री में था वैसा ही आचार्य हरिदेव में भी है। जब कोई निस्वार्थभाव से किसी कार्य को लेकर आगे बढ़ता है तो जनता अवश्य साथ हो जाती है, और पूरे मन से सहायता करती है।

पं० राजेन्द्रनाथ शास्त्री से हमारा मित्रों जैसा व्यवहार था। उनके पाण्डित्य, विद्या और योग्यता के सम्मुख हम सदैव नतमस्तक रहे। किन्तु जब वे मिलते थे, तब हंसी मजाक में उनसे कई बार कुछ ऐसी बातें भी हो जाती थीं जिनमें बड़े-छोटे का कोई भेद नहीं रहता था। वे भी सब बातें करते हुए उन्हें विनोद में ही लेते थे। उनका विनोदी स्वभाव बड़ा प्रेरक था। मेरा उनके प्रति वही सम्बन्ध था जो कृष्ण के साथ अर्जुन का था। अन्त में जैसे अर्जुन ने श्री कृष्ण के विराट् स्वरूप को देख कर कह दिया था—"मैंने आपको जीवन में. कितनी ही बार हे कृष्ण! हे यादव! हे सखा! कहकर पुकारा है। किन्तु आज मैं जान पाया कि आप कितने महान् हैं।" मेरी भी आज यही अवस्था थी।

राजेन्द्र जी स्वामी दयानन्द के अनन्य भक्त हैं। वे महर्षि का चित्र धार्मिक और योगी-जगत् के अतिरिक्त राजनीतिक क्षितिज पर भी चमकता देखना चाहते थे। इसी श्रद्धा के वशीभूत उन्होंने "योगी का आत्मचरित्र' का सम्पादन करके अनूठा कार्य किया है। अब संन्यास लेकर वे स्वामी सच्चिदानन्द योगी के रूप में ख्यात हुए हैं। फिर भी मेरा विश्वास है कि यदि मैं आज उनसे मिलूं तो वे पुरानी यादों के आधार पर उसी प्रकार हंसते-मुस्कराते विनोद करेंगे और उस विनोद में क्या कहेंगे, मैं नहीं जानता।

मुझे याद है, पुरी के शंकराचार्य श्री निरंजनदेव तीर्थ, जिन का पूर्व नाम चन्द्रशेखर शास्त्री था, संन्यास लेकर शंकराचार्य बने। उन दिनों

अमृतसर के दुर्ग्याना सरोवर पर वे कथा कर रहे थे। मैं जब अमृतसर गया तो शंकराचार्य जी ने अपने शिष्यों को भेजकर मुझे बुलवाया। कम्पनी बाग के पास एक कोठी में वे विराज रहे थे। ला० बालकराम जी अपनी कार में मुझे ले गये। मैं जब कोठी पर पहुंचा तो मुझे बताया गया कि शंकराचार्य भीतर हैं। अन्दर गया तो स्वामी जी केवल कौपीन धारण किये बैठे थे। मैंने सहसा पुराने लहजे में कहा—"अरे शास्त्री जी! यह क्या?" तब उन्होंने अपनी चादर ओढ़कर, हाथ में दण्ड लेकर कहा, "अब बन गया न शंकराचार्य।" दूसरे दिन उन्होंने दुर्ग्याना सरोवर पर मेरा स्वागत भी किया और भाषण भी कराया। आचार्य श्री राजेन्द्र जी से मेरा सम्बन्ध भी ऐसा ही है।

उनकी तरह संन्यास तो मैंने भी लिया है किन्तु मैं योगी नहीं बन सका।

परमात्मा उन्हें चिरायु करे—'भूयश्च शरदः शतात्'!

□

परोक्षे कार्यहन्तारं प्रत्यक्षे प्रियवादिनम्।
वर्जयेत्तादृशं मित्रं विषकुम्भं पयोमुखम्॥

परोक्ष में कार्य की हानि करने वाले पर प्रत्यक्ष में प्रिय वचन बोलने वाले, अन्दर विष और बाहर दूध से भरे, मित्रों से सदा बचना चाहिए।

देवापि के गुणों से युक्त महर्षि दधीचि का आशीर्वाद

—आचार्य हरिदेव व्याकरणाचार्य*

१७ अप्रैल १९७९, जिस समय मैंने वेद विद्यालय की भूमि पर प्रथम कदम रक्खा, उसी समय साधना रूपी तप से देदीप्यमान ओजस्विता से भरपूर मुखमण्डल वाले तेजस्वी संन्यासी के दर्शन हुए। जैसे-जैसे कदम बढ़ाता हुआ मैं आगे की ओर बढ़ा तो सहसा ही मैंने पहचान लिया कि ये तो मेरे देवापि गुणों से युक्त महर्षि दधीचि के सदृश तपःपूत आर्य संन्यासी श्री स्वामी सच्चिदानन्द जी सरस्वती हैं। मैंने श्रद्धानत होते हुए गुरुदेव की चरणधूलि अपने मस्तक पर लगाई। उसी समय सहसा गुरुदेव के मुख से गद्गद स्वर में यह वाक्य निकला—**आचार्यः पूर्वरूपः ब्रह्मचारी उत्तररूपः, विद्या सन्धिः प्रवचनं सन्धानम्।** इस आर्ष वाक्य को बोलते हुए श्रद्धेय गुरुदेव ने लाला मेलाराम जी व श्री लाला हरिराम जी आहूजा आदि प्रतिष्ठित साधकों के सामने मेरा थोड़ा परिचय देते हुए कहा कि यह ब्रह्मचारी हरिदेव मेरा पौत्र-शिष्य है और बहादुर प्रकृति का है। यद्यपि इन शब्दों को सुनकर मेरे मन में उत्साह उमड़ रहा था तथापि कुछ संकोच भी हो रहा था, क्योंकि मैं अपनी प्रशंसा से सदा दूर ही रहने का यत्न करता हूँ। —**"प्रतिष्ठा शूकरी विष्ठा"**। इसी वार्ताक्रम में श्रद्धेय गुरुदेव ने उपस्थित जनों से स्पष्ट कहा कि इस विद्यालय को ब्रह्मचारी हरिदेव मेरे आशीर्वाद से पुनः चलायेगा। मैंने भी सिर झुकाते हुए हाथ जोड़कर 'तथास्तु' कहा। किसी भी बात को वचनमात्र से स्वीकार करना अति सरल है, व्यावहारिक रूप से कार्य रूप में परिणत करना कठिन। किसी भी श्रेष्ठ कार्य को निरन्तर दीर्घकाल तक एकव्रती बनकर करते रहना तलवार की धार पर चलने के समान है। जैसे ही गुरुदेव के आदेश से वेदविद्यालय के सञ्चालन का गुरुतर भार मेरे कमजोर कन्धों पर पड़ा वैसे ही मेरे सामने वेद की ये दो ऋचाएं उपस्थित हो गयीं—

इन्द्रो दधीच अस्थभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुतः। जघान नवतीर्नव।

---

* श्रीमद् दयानन्द वेद विद्यालय गुरुकुल गौतम नगर, नई दिल्ली

**यद् देवापिः शन्तनवे पुरोहितो होत्राय वृतः कृपयन्नदीधेत् ।
देवश्रुतं वृष्टिवनिं रराणो बृहस्पतिर्वाचमस्मा अयच्छत् ।।**

ऋग्वेद १।८४।१३।।

इन दोनों ही वेदमन्त्रों पर भाष्यकारों ने विचित्र कहानियां लिखी हैं। प्रथम मन्त्र का सीधा-सा अर्थ है कि—अद्वितीय इन्द्र ने दध्यङ् की हड्डियों द्वारा ९९ वृत्रों को मार डाला। इसी मन्त्र के आधार पर भागवत, महाभारत आदि उत्तरवर्ती साहित्य में दधीचि की हड्डियों से वृत्र को मारने की आख्यायिकाएं बन गयीं। सायण ने इस मन्त्र पर शाट्यायनी का यह इतिहास उद्धृत किया है—एक बड़े प्रतापी ऋषि दध्यङ् थे। जब तक वे जीवित रहे, असुरों को उपद्रव करने की हिम्मत नहीं पड़ी, किन्तु उनके स्वर्ग चले जाने पर पृथ्वी असुरों से भर गई। इन्द्र से भी वे असुर पराजित नहीं हो सके। इन्द्र ने सोचा दध्यङ् ऋषि के पास चलें पूछताछ करने पर पता चला कि दध्यङ् ऋषि तो स्वर्ग सिधार गये। फिर इन्द्र ने सोचा—यदि दध्यङ् का कोई अङ्ग भी मिल जाय तो काम चल सकता है। खोजने पर उनकी खोपड़ी हाथ लग गयी। उसी खोपड़ी की हड्डियों से इन्द्र ने असुरों को मार दिया।

महाभारत और भागवत की आख्यायिकाओं का भाव इस प्रकार है—वृत्र नामक एक दैत्यराज ने सारी त्रिलोकी में उपद्रव मचा रखा था। देवता भी उसके उपद्रव से तंग आ गये थे। बहुत उपाय किए, वह नहीं मरा। उसे मारने का और कोई उपाय न देख इन्द्र सहित सभी देवता ब्रह्मा जी की शरण में गये। उन्होंने उपाय बताया कि दधीचि नामक एक तपस्वी ऋषि हैं। वे यदि अपने शरीर की हड्डियां दे दें तो वृत्र मर सकता है। तब देवों की प्रार्थना पर दधीचि ऋषि ने अपना शरीर दे दिया। कुछ विद्वान् कहते हैं कि दधीचि ने अपने दाएं हाथ की हड्डी दान में दी थी। **"कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।"** देवगणों ने उनकी हड्डियां लेकर वज्र तैयार कराया और उसी वज्र से इन्द्र ने वृत्र को मारा तथा विजय प्राप्त की।

दोनों कथाओं में पर्याप्त अन्तर है एक में तो मन्त्र के अनुसार दध्यङ् का दध्यङ् ही रहा। दूसरी में दध्यङ् का स्थान दधीचि या दधीच ने ले लिया। पहली के अनुसार तो आयु पूरी होने पर दध्यङ् ऋषि का स्वयं प्राणान्त हो गया और शरीर के कंकाल की हड्डियों से इन्द्र ने वृत्र को मारा था। किन्तु दूसरी में यह है कि दधीचि जीवित थे, देवताओं ने उनसे आकर प्रार्थना की कि आपकी हड्डियों की आवश्यकता है। देवों का कार्य सिद्ध

करने के लिए दधीचि ने मरना स्वीकार किया।

दोनों कथाओं में यह अन्तर क्यों ? बात यह है कि यह कोई ऐतिहासिक घटना तो है नहीं। वेद मन्त्र के आधार पर कल्पित कथाएँ हैं। वेद में तो इतना ही संकेत है कि दध्यङ् की हड्डियों से वृत्र मरा है। उसके आगे इसे पूरे कथानक का रूप देते हुए कथाकारों ने स्वतन्त्रता बरती है। आज भी यदि किसी घटना पर दो कहानीकार कहानी लिखें तो दोनों अपनी प्रतिभा के अनुसार कुछ नये पात्रों को कल्पित करेंगे और घटना में हेर-फेर करेंगे। यही बात यहां भी हुई है।

इसी प्रकार देवापि और शन्तनु की कथा भी वैदिक साहित्य में बहुत प्रसिद्ध है। यह कहानी ऋग्वेद के (१०।९८।७) में वृष्टियज्ञ-प्रकरण में आती है। निरुक्तकार ने इस कहानी को बड़े विस्तार से दिया है। कहानी इस प्रकार है—

देवापि और शन्तनु दो कुरुवंशी भाई थे। शन्तनु उनमें छोटा था। नियमानुसार राज्य बड़े भाई अर्थात् देवापि को मिलना चाहिए था, किन्तु शन्तनु स्वयं राजा बन बैठा। देवापि तप करने के लिए वन में चला गया। शन्तनु ने बड़े भाई का अधिकार छीनकर अधर्म किया था। इसलिए उसके राज्य में १२ वर्षों तक वृष्टि नहीं हुई। प्रजा भूखों मरने लगी। तब वह चिन्तित हुआ। ब्राह्मणों ने कहा—तूने अधर्म किया है, इसीलिए तेरे राज्य में वर्षा नहीं होती। तब वह बड़े भाई को मनाने वन में पहुंचा। देवापि ने कहा—अब राजा तो मैं नहीं बनूंगा। तुम वृष्टि यज्ञ करवाओ। मैं तुम्हारा पुरोहित बन जाऊंगा। ऐसा ही किया गया। तब राज्य में वर्षा हुई।

तो क्या वेद में हम मानवों की तरह अनित्य इतिहास है? इस आशय को स्पष्ट करते हुए महर्षि यास्क ने **"तत्रेतिहासमाचक्षते"** ऐसा कहा है। वहां उनका अभिप्राय नित्य वैदिक अलङ्कारात्मक इतिहास से ही है। क्योंकि—**"इत्यैतिहासिकाः"** कहकर उन्होंने वेदों में अनित्य इतिहास मानने वालों से अपना मतभेद प्रदर्शित किया है। जैसे—**तत्को वृत्रः? मेघः इति नैरुक्ताः त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः।** इस प्रकार किसी भी बात को समझाने के लिए निरुक्तकार ऐतिहासिक सम्प्रदाय वाले मत का सङ्ग्रह भी कर लेते हैं। इससे स्पष्ट है कि इस समय देश के अन्दर दो विचार धारा वाले लोग पनप चुके थे। एक वे जो वेदों के अन्दर सार्वकालिक नित्य इतिहास मानते थे। दूसरे वे जो वेदों में अनित्य इतिहास मानते थे।

इस प्रकार निरुक्तादि वेदांगों के पढ़ने से यही ज्ञात होता है कि वेदों के अन्दर नित्य सनातन वैदिक इतिहास तो है परन्तु अनित्य परिमित कालावगम्य तथा हम मानवों की कृतियों के सदृश इतिहास नहीं है। उक्त दोनों मन्त्रों का भाव यह है कि हम किसी भी कार्य में प्रवृत्त हों तो देवापि और दध्यङ् या दधीचि गुण वाले व्यक्ति को अग्रणी मानना चाहिए। आखिर व्यक्ति सामाजिक प्राणी है। उसे समाज से कुछ सीखना होता है। अतः सब से पहले ऐसे व्यक्ति का अनुकरण करना चाहिए जो देवापि अर्थात् दिव्य गुणों से युक्त देवश्रुत हो। आस्तिक भावों से ओतप्रोत होकर जिसने जीवन भर दध्यङ् ऋषि की तरह तप किया हो, उसकी हड्डियां मुलायम गद्दों पर सोने की अभ्यस्त न हों। समाज को ऐसा दृढ़ संकल्पी सेनापति चाहिए जिसे सदा धुन लगी रहे कि शत्रु को कैसे पराजित किया जाए, जो सदा राष्ट्र हित-चिन्तन में लगा रहे। इस प्रकार का वही व्यक्ति हो सकता है जिसने "दधत् अञ्चतीति" निर्वचन को अपना अङ्ग बनाया है।

जिस समय मैंने वेद विद्यालय सम्भाला तो मेरे मन में विचार आया, कि यह एक यज्ञ है और यज्ञ विधिवत् ही होना चाहिए। यदि यज्ञ को विधिवत् न किया जाय तो वह तामसिक हो जाता है। इसलिए महर्षि यास्क ने अपने निरुक्त शास्त्र में यज्ञ कर्म की चर्चा करते हुए कहा है।

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः॥

इस वेद विद्यालय के विद्यारूपी यज्ञ का ब्रह्मा जहां परम पिता परमेश्वर है, वहां इसमें यजमान और होता का कार्य आर्यजनता तथा वेदविद्यालय की प्रबन्धसमिति के सदस्य कर रहे हैं। पवित्रान्तःकरणयुक्त छल कपटरहित ब्रह्मचारी मन्त्रपाठ कर रहे हैं। इस विद्यारूपी यज्ञ को सम्पन्न बनाने में अहर्निश सभी रत हैं। यद्यपि हर प्रकार के यज्ञ का कोई न कोई पुरोहित होता ही है और पुरोहित वही व्यक्ति हो सकता है जो दिव्य गुणों से युक्त देवश्रुत हो। मुझे जब इस प्रकार के व्यक्ति की आवश्यकता पड़ी तो मेरी दृष्टि आर्यजगत् के लब्धकीर्ति विद्वान्, योगसाधना के धनी, नैष्ठिक ब्रह्मचारियों के प्रेरणा-स्रोत, देवापि गुणों से युक्त, महर्षि दधीचि की भांति तपस्या में लीन, आर्य संन्यासी श्री स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती पर पड़ी। आज जो कुछ वेद विद्यालय में आप देख रहे हैं यह सब इन्हीं महापुरुषों की तपस्या का फल है। कोई भी श्रेष्ठ कार्य देवापि गुण वाले व्यक्ति के आशीर्वाद के बिना सिद्ध नहीं हो सकता।

मैं अपने युवक साथियों से यह प्रार्थना अवश्य करूंगा कि आज समस्त संसार पश्चिमी सभ्यता के कुप्रभाव में आकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया है। ऐसी विषम परिस्थिति में हम सब का यह प्रमुख कर्तव्य है कि "वेद-विरोधी तत्त्वों से सावधान होकर **'वयं राष्ट्रे जागृयाम'**—हम राष्ट्र चेतना के अपने कार्य में सदा जागरूक रहें। अवैदिक मतवादी लोगों के भ्रामक प्रचार को रोकने के लिए देवापि गुण वाले दधीचि रूप व्यक्ति की शरण में रहने से ही अविद्यारूपी वृत्र का वध हो सकता है। □

स्वराज्य का इतिहास

[स्वराज्य शब्द और उसकी भावना के जन्मदाता एवं प्रसारक महर्षि दयानन्द]

सन् १८६२

अखण्ड चक्रवर्ती राज्य के लिए शौर्य, धैर्य, नीति, विनय, पराक्रम और बलादि उत्तम गुण युक्त कृपा से हम लोगों को यथावत् पुष्ट कर। अन्य देशवासी राजा हमारे देश में कभी न हों तथा हम लोग पराधीन कभी न हों। (आर्याभिविनय पृष्ठ २१४)···परम वीर्य पराक्रम से निष्क-ण्टक राज्य भोगें। हम में सब नीतिमान् सज्जन पुरुष हों। (पृष्ठ १३१) ···हम वीरों के चक्रवर्ती राज्य को प्राप्त हों। (पृष्ठ १०१) ··हमारा स्व-राज्य अत्यन्त बढ़े, साम्राज्याधिकारी सद्यः कीजिए। (पृष्ठ २३०)

अगस्त, १८७४

जब अभाग्योदय से और आर्यों के आलस्य, प्रमाद, परस्पर के विरोध से अन्य देशों के राज्य करने की तो कथा ही क्या कहनी, किन्तु आर्यावर्त में भी आर्यों का अखण्ड, स्वतन्त्र, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है। जो कुछ है सो भी विदेशियों के पादाक्रान्त हो रहा है। दुर्दिन जब आता है तब देशवासियों को अनेक प्रकार के दुःख भोगने पड़ते हैं। कोई कितना ही करे, परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है, वह सर्वो-परि उत्तम होता है।

अथवा मतमतान्तर के आग्रह से रहित अपने और पराये के पक्षपात से शून्य, प्रजा पर पिता-माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य पूर्ण सुखदायक नहीं है। **(सत्यार्थप्रकाश अष्टम समुल्लास)**

['दयानन्द सन्देश' से स्वराज्य अंक से]

स्वामी सच्चिदानन्द योगी का हैदराबाद प्रवास

—निर्मला योगभारती*

संस्कारों को ही देन हैं सब प्राणी। जिनके जैसे संस्कार होते हैं उन्हें उसी दृष्टि से हम देखने हैं। उसी के आधार पर हम उन्हें सज्जन, दुष्ट, सरल, साधारण, अमायिक इत्यादि विशेषणों से नामांकित करते हैं।

बच्चों के व्यक्तित्व निर्माण में निश्चय ही माता-पिता का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व होता है। माता-पिता जिन संस्कारों का बच्चों के हृदय में बीजारोपण करते हैं, वही आगे जाकर पुष्पित और फलित होते हैं। इसके साथ भाई, बन्धु, मित्र और परिस्थितियों का भी प्रभाव पड़ता है। किन्तु इन सबसे बढ़कर आचार्य व गुरु का प्रभाव सब पर बहुत अधिक होता है। क्योंकि आयु का प्रथम भाग शिक्षण में ही जाता है और वह गुरु के सान्निध्य में ही बीतता है। इसलिए भारतीय संस्कृति में गुरु का बहुत ऊचा स्थान है। माता-पिता केवल शरीर के जन्मदाता हैं परन्तु आत्मोन्नति का साधन, ज्ञान, विद्या इत्यादि गुरु के द्वारा ही प्राप्त होता है। वास्तव में मनुष्य समाज में गुरु के द्वारा दी हुई विद्या से ही जाना जाता है। वह अपने व्यक्तित्व और समूचे अस्तित्व का प्रकाशन एवं निरूपण उसी के द्वारा करता है। जिनके माता-पिता, आचार्य तीनों ही श्रेष्ठ हैं, वे वास्तव में इस संसार में सब से अधिक भाग्यवान् हैं।

कन्याओं के लिए गुरुकुलीय पद्धति का एक तरह से लोप होने के कारण हमारे पिताजी हमें पूर्ण आध्यात्मिक संस्कार स्वयं नहीं दे सके। इसलिए वे हमें पं० गणपतराव जी के पास आध्यात्मिक शिक्षण के लिए भेजते थे। भगवद्गीता, उपनिषद् इत्यादि ग्रन्थों का पाठन पिता जी करवाते थे, तथा सत्यार्थप्रकाश और स्वामी दयानन्द सरस्वती के अन्य ग्रन्थों का अध्यापन पं० गणपतराव जी कराते थे। आध्यात्मिक विषयों पर शंका-समाधान और चर्चा लम्बे समय तक करना नित्य और नैमित्तिक जीवन का एक अंग बन गया था, परन्तु मन में एक तरह की असंतुष्टि बनी रहती थी।

---

* पातंजल योग साधक आश्रम, बोन्तापल्ली, हैदराबाद

उसका समाधान नहीं हो पाता था, मुख्यतः मुक्ति के विषय में। हर शास्त्र मुक्तकण्ठ से घोषित करते हैं कि मनुष्य का मुख्य उद्देश्य मुक्ति है, परन्तु कैसे प्राप्त हो ? केवल पढ़ने और सुनने से क्या लाभ होगा ? पिताजी और पं० जी इसका एकमात्र साधन योग ही है, ऐसा बताते थे। दोनों ने हमें गायत्री का जाप ही बताया, परन्तु योग का वास्तविक रूप हमारे लिए ओझल ही रहा।

सन् १९७४ जून में हमारे पिता जी का देहान्त हो गया। इस दुर्घटना ने हमारे हृदयों पर बहुत बड़ा आघात पहुंचाया क्योंकि बचपन की सब यादों में पिता जी की हो गहरी छाप है। बचपन सारा उन्हीं के साथ बीता। मन में एक तरह को दुविधा छाई हुई थी। ऐसी स्थिति में भगवान् की बड़ी कृपा हुई कि पं० वेदभूषण जी ने सन् १९६५ जनवरी १ से १३ अप्रैल तक 'चतुर्वेद पारायण महायज्ञ और श्रौत महायज्ञ का संकल्प लिया और उसमें स्वामी सच्चिदानन्द जी योगी को बुलाया। सत्संग प्रेमी होने के नाते हम भो प्रतिदिन प्रातः सायं जो भो कार्यक्रम रहता था, उसमें उपस्थित रहते थे। पहले से ही योग की जिज्ञासा थी, इसलिए स्वामी जी का प्रवचन सबसे अच्छा लगता था। लगातार तीन महीने स्वामी जी के प्रवचन सुनने जाते रहे। प्रवचन योग और मोक्ष के बारे में ही रहते थे। लगता था जैसे प्यासे को जल मिल रहा हो, यही कारण था, जिससे हम स्वामी जी से इतना प्रभावित हुए। अन्त में उन्हीं के प्रभाव से यह जीवन ही योग की सेवा के लिए अर्पण कर दिया। उन्हें अपना गुरु बनाया, ताकि इस जीवन का ठीक पथदर्शन प्राप्त हो और योग के रास्ते पर चल सकें। भगवान् को यही अभीष्ट था और वैसा ही हुआ। कार्यक्रम के दिनों में स्वामी जी से हम ने एक दिन प्रार्थना की, कि योग सिखायें। स्वामो जी ने हमारी बात मान ली, और वहां योग का क्रियात्मक शिक्षण प्रारम्भ किया। हमारे साथ और भी कई योग जिज्ञासु लोग आते थे। जिनमें स्व० श्री बाबूराव जी चौहान, उनकी धर्मपत्नी, माता सरस्वती देवी और उनका परिवार, श्री सर्वोत्तम जो, हम चारों बहिनें और छोटा भाई। इस प्रकार कई परिवार वाले आते थे। स्वामी जी ने वहां पर सदस्यों की पर्याप्त संख्या देखकर 'पातञ्जल योग साधक समाज' की स्थापना की। श्री बाबूराव जी को प्रधान बनाया, और उन्हीं की इच्छा पर उनके घर पर साधना-कक्ष और कार्यालय बनाया।

योग शिविरों का आयोजन—

स्वामी जी की साधना की प्रक्रिया से बहुत से लोग प्रभावित हुए

थे। इसलिए बाद में स्वामी जी का कार्यक्रम **"गान्धी ज्ञान मन्दिर"** में रखा गया। वहां के डायरेक्टर श्री प्रवीण कापड़िया जी ने योग के इस क्रियात्मक पक्ष में बहुत रुचि ली। उन्होंने कई बार कार्यक्रम कराया।

उन्हीं दिनों पं० वेदभूषण जी स्वामी जी को महाराष्ट्र ले गये। वहां लातूर के लोग स्वामी जी की योग-पद्धति से बहुत ही प्रभावित हुए। "लातूर रोटरी क्लब" वालों ने यह निश्चय कर लिया, कि हर वर्ष वहां पर स्वामी जी को बुलायेंगे और योग-शिविरों का आयोजन करेंगे। इस प्रकार लगातार छः वर्ष तक उन्होंने स्वामी जी को बुलाया, और योग-शिविर सम्पन्न कराये। सन् १९७५ में इधर के सब कार्यक्रम पूरे करके स्वामी जी जब लौट रहे थे, तब हमें लगा जैसे हमारी योग-शिक्षा अधूरी छोड़कर ही स्वामी जी जा रहे हैं, उसके बिना जीवन ही अधूरा दिख रहा था। वैसे मैं भावुक अवश्य हूं, परन्तु लक्ष्य निर्णय करने में पूरे विवेक से काम लेती हूं, ऐसा मेरा विश्वास है। उसी समय मैंने स्वामी जी से अपनी इच्छा प्रकट की थी, कि मैं उनकी शिष्या बनकर उनके साथ रहकर योग की पूरी शिक्षा ग्रहण करूंगी और अन्य आर्ष शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करूंगी। स्वामी जी केवल योग के ही नहीं संस्कृत व्याकरण-महाभाष्य के भी उच्चकोटि के विद्वान् हैं, इसलिए मेरे दोनों ही उद्देश्य स्वामी जी के सान्निध्य में सफल होंगे, इस दृष्टि से मैंने निवेदन किया था। उस समय स्वामी जी ने मना कर दिया, मैं कारण नहीं समझ सकी। उसके पश्चात् कई बार पत्र भी लिखा। फिर एक दो बार स्वामी जी हैदराबाद पधारे और योग शिविर लगाये, परन्तु मुझे साथ रहने की अनुमति नहीं मिली।

सन् १९७८ में स्वामी जी को "पातञ्जल योग साधक समाज" एवं "गान्धी ज्ञान मन्दिर" वालों ने बुलाया। कार वाना के जैन मन्दिर में १० दिन का योग शिविर लगा। उसमें मौन, उपवास, तप और अन्य योगांगों का शिक्षण मिला। हम १० दिन वहीं शिविर में रहे। उससे कई लोगों को लाभ हुआ। उसी समय स्वामी जी ने "योगी का आत्मचरित्र" का अंग्रेजी अनुवाद श्री किशनराव जी और मुझे करने को दिया। अनुवाद कुछ भाग का ही हो पाया था, पूरा नहीं हुआ।

इस कार्यक्रम के पश्चात् ज्वालापुर में योग सम्मेलन था। स्वामी जी ने मुझे योग सम्मेलन के लिए कहा तो मैं तैय्यार हो गई, और स्वामी जी के साथ ही चली गयी। वहां सम्मेलन के पश्चात् एक महीना योगधाम में ही रहे। वहां अनुवाद का कार्य भी करते रहे। उसके बाद 'लातूर रोटरी

क्लब' 'उद्गीर रोटरी क्लब' और नलंगा में कार्यक्रम था तो फिर मैं स्वामी जी के साथ ही उन सब स्थानों पर गई। वृद्धावस्था के कारण स्वामी जी स्वयं सब कार्य नहीं कर सकते थे। बसों व रेलगाड़ी से यात्रा में दिक्कत होती थी। मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि स्वामी जी की सेवा के लिए कोई न कोई व्यक्ति रहना चाहिए। जितना मुझ से होता था मैं करती थी। स्वामी जी के उस समय के मार्मिक वचन आज भी मेरे हृदय पर अंकित हैं। स्वामी जी कहते थे—देखो बेटी, तू मेरी शिष्या ही नहीं, मेरी बेटी भी है, बेटा भी है, मां भी है, और इस बुढ़ापे की लकड़ी है। मैंने उसी समय निर्णय किया कि कुछ भी हो, मैं सदा स्वामी जी का साथ दूंगी। उसके लिए मैंने पूरा प्रयत्न भी किया। शिविरों के पश्चात् फिर मैं स्वामी जी के साथ योगधाम ज्वालापुर चली गई। वहां लेखन का कार्य जो शेष था उसे पूरा किया। "योगी का आत्मचरित्र" का अनुवाद करके "श्रीपातञ्जल-योग सूत्र-भाष्यम्" का अनुवाद आरम्भ किया।

दाक्षिणात्य होने के कारण वहां का भोजन मुझे अनुकूल नहीं लगता था। इसलिए मैंने भोजन बन्द करके केवल फल और दूध ही लेना प्रारम्भ किया। ज्यादा से ज्यादा समय लेखन कार्य में ही लगाती थी। स्वामी जी का अध्ययन, उनके प्रवचन की शैली तथा भाषा पर अधिकार देखकर आश्चर्य होता था। अनुवाद नहीं, डिक्टेशन जैसा दिखता था। दिन भर यही कार्यक्रम रहने से अन्य बातों पर मैंने विचार ही नहीं किया। लक्ष्य की पूर्ति के लिए मैंने घर छोड़ा था, परन्तु स्वामी जी मुझे कहां रखेंगे, यहां का क्या विधान है, किसके साथ मुझे रहना पड़ेगा। इन सब बातों पर कभी नहीं सोचा था। जब तक लोगों ने यह नहीं कहा कि एक स्त्री पुरुषों के आश्रम में कैसे रहती है, तब तक मुझे विचार भी नहीं आया था, कि मैं इस आश्रम में अकेली स्त्री हूं और शेष सब पुरुष हैं। वास्तव में विचार अपनी-अपनी बुद्धि के स्तर पर ही होते हैं। शायद स्वामी जी ने भी इस प्रकार नहीं सोचा था, परन्तु मुझे लगा कि स्वामी जी को अपने मिशन की धुन में लोक व्यवहार का उतना ध्यान नहीं है।

जो व्यक्ति किसी विषय में पूरी तरह लग जाता है, और अहर्निश उसी के चिन्तन में रहता है तो उसका स्वभाव भी वैसा ही हो जाता है। चाहे वह वैज्ञानिक हो, चाहे योगी हो, चाहे उच्चकोटि का विद्वान् हो। जो भी हो, लोगों का प्रश्न लोक-व्यवहार की दृष्टि से ठीक ही था। इसके पश्चात् स्वामी जी मुझे हैदराबाद में छोड़कर दिल्ली चले गए। परन्तु अपना लक्ष्य अपूर्ण देखकर फिर मैं अपनी बूआ जी को साथ लेकर स्वामी जी के पास दिल्ली

आ गई। उस समय वे दिल्ली दयानन्द वेद विद्यालय में रह रहे थे। स्वामी जी वहां अष्टाध्यायी पढ़ाते थे। फिर वहां भी ज्वालापुर की तरह विघ्न आने लगे। मैं और बूआ जी दोनों हैदराबाद चले आये। यहां आने के पश्चात् यहां के "पातञ्जल योग-साधक समाज" के सामने मैंने अपनी समस्या रखी। वहां के प्रधान श्री बाबूराव जी चौहान ने अपने ही घर में स्वामी जी के ठहरने के लिए व्यवस्था कर दी। फिर हम ने स्वामी जी को हैदराबाद बुलाया और वहीं ठहरने के लिए निवेदन किया। स्वामी जी का मुख्योद्देश्य योग का प्रचार करने का था। यहाँ उसके सफल होने की संभावना देखकर उन्होंने मान लिया।

संन्यास की दीक्षा

सन् १९७९ में मैंने स्वामी जी से दीक्षा लेने का निर्णय किया। हमारे साधक समाज वालों ने और परिवार के लोगों ने आडम्बर और अनावश्यक 'पब्लिसिटी' से बचने के लिए दीक्षा की सारी व्यवस्था घर पर ही कर दी। दीक्षा सम्पन्न हुई—१९ नवम्बर के दिन।

सन् १९८० में स्वामी जी की इच्छा पर "पातञ्जल योग पारिजात" नामक योग पत्रिका प्रारम्भ हुई। पत्रिका तीन वर्ष तक ठीक चली। कई लोगों ने योग की इस पत्रिका की बहुत प्रशंसा की। तब तक साधना के लिए कोई स्थायी स्थान भी नहीं था। गृहस्थों के स्थान में अधिक समय तक रहना भी ठीक नहीं था। इसलिए १९८० में ही यह निर्णय किया गया कि हमारे पिता जी की जो जमीन बोन्तापल्ली ग्राम में है, वहां आश्रम बनाया जाए। पातञ्जल योग साधना समाज के मुख्य सदस्य श्री सत्यनारायण अग्रवाल और श्री बाबूराव चौहान और अन्य मान्य सदस्यों ने आश्रम बनाने का निर्णय किया। परन्तु उसको क्रियात्मक रूप देने के समय बहुत कष्ट हुआ। क्योंकि हमारे पास साधनों का नितान्त अभाव था। जो कुछ हमारे पास २-३ हजार रुपये थे, उससे कुटिया बनाकर रहने के लिए हम बोन्तापल्ली गांव गये। वहां जाने के पश्चात् हमारे हितैषी लोगों ने भी आश्रम के निर्माण कार्य में सहयोग देना प्रारम्भ किया। स्वामी जी ने भी तन, मन, धन से साथ दिया। आश्रम बनाते समय स्वामी जी को काफी शारीरिक कष्ट हुआ, जाड़ों के दिन थे। उन्हीं दिनों आश्रम बनाया गया। स्वामी जी का इस आयु में भी इतना तप और कार्य की लगन देखकर मुझे बहुत प्रेरणा मिलती थी। सन् १९८१ के २५ नवंबर को आश्रम का उद्घाटन हुआ। १० दिन का योग-शिविर भी लगाया गया।

आज योग के नाम से बहुत से धन्धे चल रहे हैं, पर वास्तविक योग सिखाने वाले बहुत कम हैं। स्वामी जी महर्षि पतञ्जलि के योगदर्शन व्यास भाष्य और वेदों में जो योग सम्बन्धी मन्त्र हैं उनको छोड़कर अन्य किसी का आश्रय नहीं लेते। इससे लोगों में आस्था पैदा हुई और योग के नाम पर धोखा न खाने का विश्वास हो गया। आश्रम शहर से ४० मी० दूर होने पर भी कई लोग नियमित रूप से वहां आते थे। मुझे स्वामी जी के साथ रहकर योगदर्शन, उपनिषद् और अन्य ग्रन्थों का भली प्रकार अध्ययन करने का मौका मिला। पत्रिका के सञ्चालन के साथ उपनिषद् का भी सम्पादन किया और उसे छपवाया।

साधारण जनों की आस्था

जो साधारण लोग हैं उनको साधु सन्तों पर श्रद्धा और प्रकार की रहती है। गांवों में वैसे ही लोग प्रायः पाये जाते हैं। एक दिन आश्रम बनाने वाले मिस्त्री शिवरामलु को बहू को पेट में बहुत दर्द हो रहा था। वह स्वामी जी के पास एक पात्र में जल लेकर आया, और स्वामी जी से प्रार्थना की कि आप अपने हाथ से यह जल बहू को दे दीजिए। स्वामी जी ने कुछ ध्यान-सा करके वह जल पिलाया। उससे बहू को पेट का दर्द कम हुआ। लोगों में यह बात फैल गई। सब लोग अपने पशुओं तक को कुछ हुआ तो स्वामी जो से आकर जल लेते थे और कहते थे कि उससे रोग ठीक होता है। यह बात आस पास के गांवों में भी फैली तो एक-दो बुद्धि-विकार वाले लोग भी उपचार के लिए आश्रम में आए। उन लोगों को आश्रम में ही रखकर उपचार किया गया। लोग तो अन्धविश्वासी होते हैं। इससे आश्रम में शान्ति कम हो गई। स्वामी जी का स्वास्थ्य भी गिरने लगा। स्वामी जी को इस प्रकार का वातावरण अच्छा नहीं लगता था। उन्होंने जल देना तथा अन्य कोई उपचार करना बंद कर दिया क्योंकि इससे योग के सम्बन्ध में गलत धारणा बनती थी और अन्धविश्वास भी फैलता था।

स्वामी जी की इच्छा थी कि आश्रम में कुछ वानप्रस्थी आकर ठहरें और योग साधना करें। सन् १९८५ फरवरी में वानप्रस्थाश्रम का विधिवत् उद्घाटन किया गया। तीन पर्णकुटीर बनाये गये। फरवरी मास में ही पं० गंगाराम स्वामी जी से वानप्रस्थ की दीक्षा लेकर आश्रम में एक वर्ष तक रहे, परन्तु अन्य वानप्रस्थियों ने रुचि नहीं ली। वानप्रस्थाश्रम नहीं चल सका। स्वामी जी जितने दिन भी हैदराबाद में रहे, उतने दिन कुछ न कुछ करते ही रहे, और करने की प्रेरणा देते रहे। वैदिक धर्म के प्रचार के

लिए जो उत्साह उनका युवावस्था में था, वही आज भी है। तब व्याकरण और महाभाष्य पढ़ाकर विद्या के क्षेत्र में कार्य किया तो अब योग करना और योग के सही स्वरूप का प्रचार करना ही उनका मिशन है।

सन् १९८६ नवम्बर में स्वामी जी के सुपुत्र वेदव्रत जी आकर स्वामी जी को दिल्ली ले गये, क्योंकि वार्धक्य के कारण स्वामी जी का स्वास्थ्य यहां ठीक नहीं रहता था। जितने दिन उनके साथ रहकर ज्ञान लाभ और आत्मिक शान्ति लाभ पाया, उसको मैं कभी भूल नहीं सकती। भगवान् की असीम कृपा है जो ऐसे ज्ञानी, विद्वान् और योगी के सान्निध्य में शिष्या के रूप में रहने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। उन्हीं के उपदेश और आशीर्वाद से अन्तरात्मा में निहित संस्कारों को पुष्टि मिली और योग के साधना मार्ग पर चलने का धैर्य प्राप्त हुआ। एक तरह से मेरे इस आध्यात्मिक जीवन के जनक स्वामी जी ही हैं।

भगवान् से यही प्रार्थना है उनका स्वास्थ्य ठीक रहे और दीर्घ आयु प्राप्त कर योग की सेवा करते हुए हम सब का चिरकाल तक पथ प्रदर्शन करते रहें।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

—श्रीमद्भगवद् गीता ६।३४

अर्जुन श्रीकृष्ण से कहते हैं—"हे श्रीकृष्ण! मन बड़ा चंचल, मथ डालने वाला, बलवान् और हठी है। उस का नियन्त्रण तो ऐसा ही कठिन लगता है जैसे वायु का नियन्त्रण करना।"

श्रीकृष्ण का उत्तर है—

असंशयं महाबाहो! मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय, वैराग्येण च गृह्यते॥

—६।३५

"हे विशाल भुजाओं वाले वीर! चंचल मन का निग्रह करना निस्सन्देह बहुत कठिन कार्य है। तथापि हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! इसे वश में करने का साधन है 'अभ्यास' और 'वैराग्य'।"

एक आदर्श योगी

—स्वामी अग्निदेव भीष्म*

महर्षि दयानन्द की आर्ष शिक्षा प्रणाली को बढ़ावा देने वाले पूज्यपाद स्वामी सच्चिदानन्द जी ने श्रीमद्दयानन्द वेद विद्यालय, गौतम नगर, नई दिल्ली-४९ की स्थापना की। उनकी त्याग-तपस्या रंग लाई। फलत: इस संस्था ने श्री स्वामी शिवानन्द, श्री स्वामी ओमानन्द, श्री श्रुतिकान्त एवं पं० हरिशरण जैसे योग्य व्यक्ति आर्य जगत् को भेंट किए।

कुछ दिनों बाद, फिर एक और गुरुकुल खोलने की धुन समाई। स्वामी जी ने खेड़ा खुर्द में चौधरी भर्तृहरि से प्राप्त २३ एकड़ भूमि पर गुरुकुल स्थापित किया।

बात उन दिनों की है जब मैं किशोरावस्था में पग रख रहा था। खेड़ा खुर्द गुरुकुल को देखने की अभिलाषा हुई। उस समय स्वामी शिवानन्द जी कुश्ती करते थे तथा अच्छे पहलवान भी थे। मुझे भी बचपन से ही कुश्ती का शौक था।

स्वामी शिवानन्द जी का शरीर दुबला पतला था। मैंने सोचा 'इन्हें तो मैं आसानी से हरा दूंगा? बस, मैंने उन्हें कुश्ती के लिए ललकारा। पहले वह मना करते रहे, पर मेरी हठ ने उन्हें कुश्ती के लिए मजबूर कर दिया।

निश्चित दिन हम दोनों मैदान में उतरे। भीड़ भी अच्छी जमा हो गई। मुझे तो अपनी जीत पर पूरा भरोसा था, पर कुश्ती में स्वामी जी ने १ मिनट में ही ऐसा दांव मारा, मैं चारों खाने चित्त तथा दूर जाकर गिरा। फिर मेरी उनसे कुश्ती लड़ने की हिम्मत न हुई। पूछने पर उन्होंने बताया कि वह स्वामी सच्चिदानन्द जी के शिष्य हैं। मैंने सोचा—'जिसके शिष्य इतनी अच्छी कुश्ती लड़ते हैं, निश्चय ही, वह गुरु भी भीमकाय होगा।'

उसी दिन मेरे मन में स्वामी जी के दर्शन की उत्कट अभिलाषा जाग पड़ी। खेड़ा खुर्द में रहते हुए मुझे पूज्य स्वामी जी की विद्वत्ता, लेखनकला,

* योगाश्रम हिसार, हरियाणा

वाग्मिता व योग सम्बन्धी कुशलता आदि की जानकारी मिली। खेड़ा खुर्द का कारोबार उस समय स्वामी वेदानन्द जी वेदतीर्थ देख रहे थे। जब स्वामी जी से मैंने गुरुकुल गौतम नगर देखने की इच्छा व्यक्त की तो उन्होंने मुझे सहर्ष स्वीकृति प्रदान कर दी।

कुछ दिन खेड़ा खुर्द में रहने के बाद मैं एक दिन गुरुकुल गौतम नगर आया। पूज्य योगी जी के दर्शन किए, देखा—भगवे वस्त्र में लिपटा हुआ एक कृशकाय संन्यासी बैठा हुआ ब्रह्मचारियों से मुस्करा कर वार्तालाप कर रहा है। मैंने स्वामी जी के जिस भीमकाय की कल्पना की थी वह तो उन्हें देखते ही क्षीण हो गई। गुरुकुल में रहते हुए मैंने स्वामी जी को कुश्ती में हुई अपनी हार के बारे में बताया। स्वामी जी बोले—"बेटे, शारीरिक शक्ति को बढ़ाने के साथ-साथ आत्मिक शक्ति को बढ़ाना भी परम आवश्यक है।"

मैंने आत्मिक शक्ति की वृद्धि का उपाय पूछा। सहजता से उत्तर दिया—"महर्षि पतञ्जलि द्वारा प्रतिपादित योग के मार्ग का आश्रय लो। फिर देखना, तुम में कितनी शक्ति आ जाएगी। योग से पहले अपने को जीतो। स्वयं को जो न जीत सका वह संसार को कैसे पराजित करेगा।"

कुछ दिन गौतम नगर गुरुकुल में रहकर मैं फिर खेड़ा खुर्द चला आया।

एक दिन स्वामी सच्चिदानन्द जी योगी स्वामी रामानन्द जी के साथ खेड़ा खुर्द पधारे। स्वामी जी ने मुझ से रामानन्द जी का शिष्य बनने को कहा। मैंने उत्तर दिया—"स्वामी जी, मैं तो हृदय से अपना गुरु स्वामी वेदानन्द जी को मान चुका हूं।"

तभी स्वामी रामानन्द के एक शिष्य ने मेरी कनपटी पर हाथ रखा। मुझे लगा—मैं आकाश में उड़ रहा हूं। ऐसी अनुभूति पहले कभी नहीं हुई थी। मैंने स्वामी रामानन्द जी से यह विद्या सिखाने को कहा। बोले—"अभी तुम इस के योग्य नहीं हो। फिर इस से नाड़ियों पर कुप्रभाव भी पड़ सकता है। अभी तो तुम स्वामी वेदानन्द जी से आर्ष-ग्रन्थों का अध्ययन करो। तदुपरान्त इस ओर आना।"

मैं कुछ दिनों बाद स्वामी सच्चिदानन्द जी के पास फिर आ गया।

एक बार स्वामी जी मुझे अपने साथ महरौली ले गए। वहां ईश्वर विषयक चर्चा में भाग लेने के लिए अनेक अनुभवी विद्वान् पधारे थे। स्वामी जी का ईश्वर की सत्ता एवं स्वरूप आदि पर बड़ा ही

गहन तथा युक्तियुक्त व्याख्यान हुआ। भक्त लोगों ने कुछ शंकाएं भी उठाईं। स्वामी जी ने वैदिक मन्त्रों को उद्धृत करते हुए मूर्तिपूजा व अवतारवाद आदि को अमान्य ठहराया। सम्पूर्ण जनसमुदाय स्वामी जी की विद्वत्ता से प्रभावित होकर जय जयकार करने लगा।

मैं कई दिनों तक स्वामी जी के सान्निध्य में रहा। महर्षि पतञ्जलि द्वारा प्रतिपादित नियमाचरणों का पालन करने में स्वामी जी सर्वदा तत्पर रहते हैं। योगपरक चर्चाओं में स्वामी जी महर्षि पतञ्जलि के वचनों को सर्वाधिक प्रमाणित मानते हैं। अनेकानेक पुस्तकों की रचना कर स्वामी जी ने बहुत से साधुओं, संन्यासियों एवं ब्रह्मचारियों को सही रास्ता दिखाया है।

सम्प्रति स्वामी जी महाराज पातञ्जल योगधाम ज्वालापुर में रहते हैं। वहीं पर साधना परक सन्देश से योग-इच्छुक जनसमुदाय को लाभान्वित कर रहे हैं।

गुरुकुल गौतम नगर स्वामी जी की अनुपम विद्या वाटिका है। इस वाटिका ने उत्थान एवं पतन दोनों देखे हैं। एक दशक से एक त्यागी तपस्वी आचार्य तन, मन, धन से इस वाटिका को पुष्पित पल्लवित करने में लगे हैं। वे हैं—आचार्य हरिदेव जी व्याकरणाचार्य एम०ए०।

समादरणीय आचार्य जी को मैंने अत्यन्त समीप से देखा है। वे सरल, विनम्र, विद्याप्रेमी हैं। पूज्य स्वामी जी द्वारा संस्थापित होने के कारण इस गुरुकुल को मैं विद्यातीर्थ मानता हूं। इस तीर्थ में स्नान कर अनेकानेक जिज्ञासुओं ने अपनी ज्ञान पिपासा को शान्त किया है।

बहुधा, मैं भी गुरुकुल में आता रहता हूं। यहां की व्यवस्था, छात्र, अध्यापक—सभी प्रशंसनीय हैं। मैं स्वामी जी महाराज का अभिनन्दन करने वाली समिति का हृदय से आभार व्यक्त कर रहा हूं कि उसने मुझे अपने हृदयोद्गार प्रकट करने का अवसर दिया। परमात्मा स्वामी जी को दीर्घायु प्रदान करें।

गुणी गुणं वेत्ति न वेत्ति निर्गुणः।

गुणी व्यक्ति ही गुणों को पहचानता है, गुण-हीन व्यक्ति नहीं।

मेरे जीवन के दो पड़ाव

–गंगाराम वानप्रस्थी*

श्री पं० राजेन्द्रनाथ जी शास्त्री (पूर्व नाम) के कारण मैं ब्रह्मचर्याश्रम से गृहस्थ में आया और उन्हीं (वर्तमान) महामहिम श्री स्वामी सच्चिदानन्द योगी के हाथों गृहस्थ छोड़ वानप्रस्थी बना।

यह इस तरह हुआ कि जुलाई १९४७ से सितम्बर १९४८ तक १४ महीने मैं पहले डेढ़ मास हैदराबाद सैण्ट्रल जेल में और शेषकाल सैण्ट्रल जेल गुलबर्गा में नजरबन्द था। गुलबर्गा से एक पत्र मैंने आदरणीय श्री पं० राजेन्द्रनाथ जी को लिखा था। उन दिनों वे एक मासिक पत्र "दयानन्द सन्देश" निकालते थे। उस में मेरे उस पत्र का एक अंश मेरे चित्र के साथ उन्होंने छापा था। श्री पं० राजेन्द्रनाथ जी और उनके शिष्य आचार्य भगवान् देव जी (वर्त्तमान स्वामी ओमानन्द जी सरस्वती) के तप, त्याग और विद्या के हैदराबाद के भाई बन्सीलाल जी बड़े प्रशंसक थे और उनका बड़ा मान करते थे। इधर ट्रस्ट में बहुत से लोग उनके दयानन्द सन्देश को बड़े चाव से पढ़ते थे। ऐसे ही एक भक्त मेरे श्वसुर श्रीमान् दीवान सिंह जी थे। 'दयानन्द सन्देश' उनके घर भी पहुँचता था। उनकी कन्या कु० इन्द्राणि देवी ने 'दयानन्द सन्देश' में छपे मेरे उस चित्र को देख कर मुझे वर लिया। जेल से आने के बाद १२ मई १९४९ को हमारा विवाह सम्पन्न हुआ। इस प्रकार ब्रह्मचर्य से गृहस्थाश्रम में हमें लाने में परोक्ष रूप से कारण बने श्री पं० राजेन्द्रनाथ जी शास्त्री।

वैदिक समाज-व्यवस्था अर्थात् वर्णाश्रम व्यवस्था में मेरी आस्था होने के कारण मैं गृहस्थ धर्म पूरा करके वनस्थ जीवन बिताना चाहता था। अपनी यह भावना अपने परिवार में सन् १९६६ में मैंने ५० वर्ष का होते ही व्यक्त कर दी थी और उसके लिए अनुमति चाहता था। मेरी पत्नी और बड़े पुत्र ने सन् १९७८ में अनुमति प्रदान की। तब से मैं वकालत छोड़कर वानप्रस्थ की तैयारी करने लगा।

स्वामी सच्चिदानन्द जी योगी योग प्रशिक्षण के लिए श्री बाबूराव जी

---

* हैदराबाद के कर्मठ स्वतन्त्रता सेनानी और योग-पिपासु वानप्रस्थी

चह्वाण (अब स्वर्गीय) व बहन निर्मला जी योग भारती के प्रयत्नों से सन् १९७५ से हैदराबाद आने लगे थे। यहां वे योग-शिविर लगाते और ध्यान योग का अभ्यास कराया करते थे। वे एक योग साधक-समाज बनाना चाहते थे। साधक बढ़ने लगे तो 'साधक समाज' ने उन्हें हैदराबाद में ही रहने के लिए बाध्य किया। श्री स्वामी जी योग साधक समाज के आग्रह को मान हैदराबाद में ही रहने लगे। फिर ग्राम बोन्तापल्ली, तालुका नरसापुर, जिला मेदक में हैदराबाद से ४० किलोमीटर दूर एक रमणीक स्थान में **"पातञ्जल योग मठ"** स्थापित कर स्वामी जी वहां रहने लगे। मेरा पूर्व परिचय रहने से श्री स्वामी जी से मैं हैदराबाद में और बोन्तापल्ली में भी मिलता रहता था। योगमार्ग में पूरी श्रद्धा न होने से केवल मिल मिलाकर चला आता। योग अभ्यासी नहीं बना। श्री स्वामी जी मुझे सदा प्रेरित करते रहते कि सब काम छोड़कर पूरी तरह से मैं योगाभ्यास में लगूं। श्री स्वामी जी के प्रभाव में आकर धीरे-धीरे मैं अपने को तैयार करने लगा। १५ मई १९८३ को मेरे बड़े पुत्र का पुत्र हुआ तो मैंने उसी समय वानप्रस्थ की दीक्षा लेने का निश्चय किया और वसन्त पञ्चमी ७ फरवरी १९८४ को विधिवत् श्री स्वामी जी से वानप्रस्थ की दीक्षा लेकर पातञ्जल योगमठ बोन्तापल्ली में जाकर योगाभ्यास में प्रवृत्त हुआ।

इस प्रकार महामहिम श्री स्वामी जी महाराज ने मुझे आश्रम-व्यवस्था पालन में दो बार आगे बढ़ाया, ब्रह्मचर्य से गृहस्थ में और गृहस्थ से वानप्रस्थ में। उनकी इस कृपा के लिए मैं उनका अत्यन्त आभारी हूं और परमपिता परमात्मा से उनकी दीर्घायु के लिए प्रार्थना करता हूं।

प्रचण्डवासनावातैरुद्धूता नौर्मनोमयी।
वैराग्यकर्णधारेण विना रोद्धुं न शक्यते॥

प्रचण्ड वासना की हवाओं से डावांडोल मन को नौका को वैराग्यरूपी मल्लाह के बिना कोई नहीं संभाल सकता।

हमारे सब से पुराने सिद्धान्त साथी

—आचार्य विश्वश्रवाः व्यास*

संन्यास से पूर्व स्वामी सच्चिदानन्द जी योगी ने जब दिल्ली में यमुना के किनारे 'दयानन्द वेद विद्यालय' नाम से गुरुकुल खोला, तभी से हमारा उनका साथ है। तब वे पं० राजेन्द्रनाथ शास्त्री के नाम से विख्यात थे और गुरुकुल झोंपड़ियों में था।

जब मैं सार्वदेशिक धर्मार्य सभा का मन्त्री बना तब वे हमारे साथ संयुक्त मन्त्री थे। स्वामी जी गुरुकुल वृन्दावन में भी मेरे साथ रहे। मैं वहां आचार्य और प्रस्तोता था। वे गुरुकुल की समिति में थे।

आर्य प्रतिनिधि सभा, उ०प्र० की स्वर्ण जयन्ती के अवसर पर मैंने 'दयानन्द विद्यापीठ' की स्थापना पं० राजेन्द्रनाथ शास्त्री के सहयोग से ही की थी, क्योंकि उस समय पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु और पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक तक इस कार्य में मेरे सहयोगी नहीं थे। वे बाद में साथ आए। हम दोनों ने परस्पर मिलकर पूरी पाठविधि तैयार की थी।

स्वामी सच्चिदानन्द जी योगी की आर्ष पाठविधि पर अटूट आस्था है। उन जैसे ऋषि-भक्त कम ही मिलते हैं। उन्होंने अपने गुरुकुल में आर्ष पाठविधि ही रखी। उसी समय पं० राजेन्द्र जी ने एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा, नाम था—'सिद्धान्त कौमुदी की अन्त्येष्टि'। यह इतना विचित्र और अद्‌भुत ग्रन्थ है कि कौमुदी प्रक्रिया के पक्षधर वैयाकरण आज तक उसका उत्तर नहीं दे पाए हैं।

हम दोनों ने 'दयानन्द सन्देश' नामक मासिक पत्र भी निकाला था जिसके विशेषांकों से तहलका मच जाता था।

स्वामी सच्चिदानन्द जी, महर्षि दयानन्द के अनन्य भक्त हैं। एक सच्चे भक्त के रूप में ही उन्होंने अपने आराध्य देव का जीवन चरित लिखा। महर्षि की अनेक जीवनियों में यह एक महत्त्वपूर्ण जीवनी है। जीवन चरित लिखने का शौक तो बहुत लोगों को हुआ परन्तु किसी महर्षि

---

* वैदिक वाङ्मय के विश्रुत विद्वान्

व युग प्रवतक का जीवन चरित कैसे लिखा जाता है, इसका किसी को भी बोध नहीं था। स्वामी सत्यानन्द जी (श्रीमद्दयानन्द प्रकाश के लेखक) के बाद स्वामी सच्चिदानन्द जी ही इस मर्म को समझ सके।

महर्षि के निधन के पश्चात् कुछ दीवाने उनके जीवन की घटनाओं का संकलन करने निकले। जगह-जगह जाकर लोगों से पूछते थे—आपने स्वामी जी को देखा था ? यदि हां, तो उनके कुछ संस्मरण सुनाइए।

किसी ने कह दिया कि स्वामी दयानन्द हुक्का पीते थे तो इन्होंने भी वैसा ही लिख दिया। इन मतवालों ने यह भी नहीं सोचा कि महर्षि के समय में उनके विरोधी कितने थे। बाद में मथुरा शताब्दी के अवसर पर शाहपुराधीश ने स्वयं ही इस बकवास का खण्डन किया था। उन्होंने बताया था कि जिस काल का यह प्रसंग है, उस समय महर्षि उनके निमंत्रण पर शाहपुरा में रहते थे। ऐसा कभी किसी ने नहीं देखा।

पं० घासीराम जी जब देवेन्द्र मुखोपाध्याय द्वारा संकलित जीवन चरित सम्पादित कर रहे थे, तब तत्कालीन जोधपुर नरेश ने उन्हें अपने यहाँ बुलाया। हजारों रुपया और बहुमूल्य भेंटें दीं, साथ ही कहा कि विष-प्रकरण का प्रकार बदल दो। इसी कारण घासीराम जी ने इस घटना को मिथ्या किंवदन्ती कहा है। जोधपुर वालों का कुछ भरोसा नहीं।

ऐसे भी रिसर्च स्कालर हुए, जिन्होंने स्वामी दयानन्द के पिता की दो पत्नियां ढूंढ लीं। पहली से चार लड़के थे। वृद्धावस्था में दूसरी पत्नी से स्वामी जी पैदा हुए।

इस सब के विपरीत स्वामी सच्चिदानन्द जी योगी द्वारा लिखित व सम्पादित—"योगी का आत्मचरित" तो बस पढ़ते ही बनता है। क्या क्या भक्तिभाव ! क्या सुन्दर शैली ! एक-एक पंक्ति हृदय को छूती चलती है। यही ऐसा जीवन चरित्र है, जिसे पढ़ने से पाठक के हृदय में महर्षि के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है। अरे ! ऋषि-महर्षियों का जीवन चरित्र लिखना रिसर्च स्कालरों का काम नहीं है।

अनेक वर्ष पूर्व स्वामी सच्चिदानन्द जी की योग में प्रवृत्ति हुई। उस समय हम दोनों गुरुकुल गौतम नगर चला रहे थे। उन्होंने अपना गुरुकुल मेरे सुपुर्द कर दिया और स्वयं हिमालय पर योगाभ्यास के लिए चले गए। जब वे साधना के लिए पहाड़ों पर जा रहे थे, तब मैंने कहा था कि मैं तो इस मार्ग पर जा नहीं सका। आप जा रहे हैं तो बताइएगा कि क्या-क्या सिद्धियां प्राप्त होती हैं।

महर्षि के हर काम में योगाभ्यास शामिल है। आर्यसमाज में योग विषय अस्पृश्य ही रहा। कुछ लोग इस ओर बढ़े भी, परन्तु अधिक दूर तक नहीं जा सके। स्वामी सच्चिदानन्द जी ने साहस से इस दिशा में पग बढ़ाया। उनका यह प्रयास अनुकरणीय है।

मैंने स्वामी जी से कहा था कि महर्षि के समस्त ग्रन्थों, वेद-भाष्य और पत्रव्यवहार में आई योग विषयक बातों का संग्रह कर उन्हें पुस्तकाकार प्रकाशित करें। इस समय वे यही महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं।

महर्षि दयानन्द का महान् कार्य करते हुए हम दोनों साथ-साथ रहे। दोनों की अव वृद्धावस्था है। हमारे जीवन का सदा यही उद्देश्य रहा—

ऋषेः पक्षे पुष्टिः सुदृढव्रतमाजन्मन इदम्।
सुहृद्भिः संघर्षो ह्यभवदतिपृष्ठैरपि जनैः।
न च काष्ठां भीतिं बुधवरजनेभ्यः क्वचिदपि।
विजेतारौ जातौ गतसकलकाले ऋषिमते॥

अर्थात्—हम दोनों का सुदृढ़ मत जन्म से लेके यही रहा कि ऋषि के पक्ष की पुष्टि करना है। इस के लिए हम ने अपने प्यारे दोस्तों से भी संघर्ष मोल लिया। परन्तु कभी किसी विद्वान् से हम दोनों परास्त नहीं हुए। न ही किसी से डरे। इतिहास में हम दोनों सदा विजेता ही रहे।

विदुषां वदनाद् वाचः सहसा यान्ति नो बहिः।
याताश्चेन्न पराञ्चन्ति द्विरदानां रदा इव॥

विद्वानों के मुख से कोई बात अकस्मात् जल्दबाजो में नहीं निकलती। निकलती है तो हाथियों के दांतों की तरह वापस नहीं लौटती।

योगी जी का मार्गदर्शन

—जितेन्द्र कुमार एडवोकेट*

परम पूज्य, स्वामी जी से मेरी सर्वप्रथम भेंट लगभग २० वर्ष पहले हरिद्वार में लगे एक योग शिविर में (जो स्व० महात्मा आनन्द स्वामी जी द्वारा आयोजित किया गया था) हुई। उस शिविर में पूज्य स्वामी जी अपना प्रवचन नित्य प्रातःकाल किया करते थे एवं क्रियात्मक रूप से सारे साधकों को प्राणायाम की क्रिया भी करवाते थे। स्वामी जी के व्यक्तित्व, साधना तथा यौगिक प्रतिभा से मैं जितना प्रभावित हुआ उतना किसी अन्य योगी महात्मा से नहीं।

पूज्य स्वामी जी कई वर्षों तक मेरा मार्गदर्शन पत्र व्यवहार द्वारा करते रहे। जब वह पत्र लिखने में समय नहीं दे पाते थे तो मैं स्वयम् उनसे भेंट कर लिया करता था। मैं उनसे पिछली बार ५ जून १९८९ को ज्वालापुर में मिला तो मैंने उनकी आध्यात्मिक निष्ठा में किसी प्रकार की भी कमी नहीं पाई और वे पूर्ण रूप से स्वस्थ थे।

ओम् के जप की महिमा :

एक बार मैंने स्वामी जी से कुछ प्रश्न किये जिन में मैंने मुझे ५०,०००/- (पचास हजार रुपये) की हानि पहुंचाने वाले अपने एक मित्र के साथ अपने व्यवहार के सम्बन्ध में मार्गदर्शन प्राप्त करना चाहा। स्वामी जी ने अपने पत्र में यही लिखा कि राग-द्वेष को नष्ट करने तथा योग की सिद्धि प्राप्त करने के लिए गायत्री की बजाय केवल "ओ३म्" का जप करना अधिक उपयोगी है। उन्होंने स्वामी दयानन्द के अनेक वचनों को प्रमाण के रूप में उद्धृत किया। स्वामी जी "ओ३म्" के जप की इतनी महिमा मानते हैं कि मैं जब-जब योग-धाम पर गया तब-तब मैंने उनको रात्रि में एक आसन पर बैठकर "ओ३म् का जप करते देखा। आज मैं पूरे विश्वास से यह कह सकता हूं कि "ओ३म्" जप का भारी लाभ निश्चित रूप से प्राप्त हो सकता है यदि साधक उसका जप एकाग्र चित्त एवं श्रद्धा सहित करें और साथ-साथ उसके अर्थ का भी ध्यान करें। ऐसा केवल

---

* शासकीय अधिवक्ता, उच्च न्यायालय, इलाहाबाद

पूज्य स्वामी जी के राह दिखाने से ही सम्भव हो सका।

तप की परिभाषा :

एक बार मैंने पूज्य स्वामी जी से पत्र द्वारा यह जानने का प्रयास किया कि तप की क्या परिभाषा है। स्वामी जी ने अपने पत्र दिनांक १६।१२।७३ के उत्तर में और सब विस्तार में लिखने के पश्चात् यह भी लिखा कि जो चीज अधिक प्रिय हो उसको छोड़ दें। मुझे नमक से अत्यधिक लगाव था, इसलिए मैंने नमक खाना छोड़ दिया और लगभग ४ माह तक मैंने नमक का प्रयोग किसी तरह भी नहीं किया। ४ माह बाद जब मैं योगधाम ज्वालापुर पहुंचा और स्वामी जी को यह बताया तो मेरी इस कष्टप्रद साधना को सुनकर बड़े दुखी हुए और अपने साथ ले जाकर वानप्रस्थ आश्रम में मुझे भोजन करवाया।

पातंजल योग-साधना संघ की रजिस्ट्री

पातंजल योग साधना संघ की रजिस्ट्री तथा आयकर से छूट दोनों कार्य स्वामी जी ने मेरी जिम्मेदारी पर छोड़े। मैं इस में पूरी लगन से लग गया। ईश्वर की कृपा से दोनों कार्यों में सफलता मिली। स्वामी जी ने मुझे हार्दिक बधाई के साथ-साथ हार्दिक आशीर्वाद दिया जिसका मुझ पर आज तक पूरा प्रभाव है। पूज्य स्वामी जी ने अपने हृदय के उद्‌गार किस तरह व्यक्त किये यह उन के पोस्टकार्ड २१।११।७४ से पूर्ण रूप से विदित होता है।

गंगोत्री यात्रा :

एक वयोवृद्ध साधु ने (जिनका पूज्य स्वामी जी बहुत आदर करते थे।) अपने प्रवचन में कहा कि गंगोत्री में एक सिद्ध महात्मा रहते हैं एवम् उनको कुटिया पर एक शेर प्रतिदिन ५ बजे प्रातः आता है और उनकी दी हुई रोटी खाता है। मैंने स्वामी जी से आग्रह किया कि मुझे गंगोत्री ले चल तथा उन सिद्ध महात्मा के दर्शन करवाएं। स्वामी जी ने स्पष्ट कहा कि यह सब असत्य है और इस पर विश्वास करना भूल होगी। फिर भी मेरे आग्रह पर उन्होंने गंगोत्री चलना स्वीकार कर लिया, और मैं गंगोत्री एवं गोमुख तक गया। स्वामी जी ने जो कुछ भी मुझ से कहा था वे सभी बातें सत्य निकलीं। वहां न कोई सिद्ध महात्मा था और न ही कोई शेर।

स्वामी जी का इलाहाबाद आगमन :

मेरे आग्रह पर स्वामी जी एक बार प्रयाग पधारे और उन्होंने मेरे

निवास स्थान पर रहना स्वीकार किया। लगभग एक सप्ताह के दौरान स्वामी जी के चौक आर्यसमाज एवं कटरा आर्यसमाज में योगोपदेश हुए जिससे साधक जन बहुत प्रभावित एवं लाभान्वित हुए।

योगी का आत्मचरित :

'योगी का आत्मचरित' पुस्तक स्वामी जी की योग कृतियों में मुख्य थी। उसका जितना सम्भव था उतना प्रचार मैंने कराया। उस का भी जनता पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा। 'योगी का आत्मचरित' एक साधक के लिए अत्यन्त उपयोगी है। स्वामी जी का प्रायः यही आग्रह रहा है कि उसको एक बार पढ़ने से कोई लाभ नहीं होगा जब तक कि वह बार-बार न पढ़ी जाये तथा आचरण में न उतारी जाए। इस उपदेश पर मैंने यथाशक्ति अधिक से अधिक आचरण किया तथा भारी लाभ उठाया है, जिसके लिए मैं पूज्य स्वामी जी का ऋणी हूं।

मेरी मनोकामना :

ईश्वर से मेरी यही प्रार्थना है कि परमात्मा पूज्य स्वामी जी को चिरायु करें जिससे बहुसंख्यक साधकों का मार्गदर्शन कर सकें और हम भी उससे लाभान्वित होते रहें। मैं स्वामी सच्चिदानन्द योगी अभिनन्दन समिति के अध्यक्ष एवं संयोजक स्वामी ओमानन्द सरस्वती, सर्वश्री रामनाथ सहगल, आचार्य हरिदेव व्याकरणाचार्य, डा० वेदव्रत, चौधरी दिलीपसिंह तथा क्षितीश वेदालंकार का आभारी हूं जिन्होंने स्वामी जी के अभिनन्दन का गुरुतर किन्तु पवित्र कार्य अपने ऊपर लिया। □

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्याऽअध्याभरत्॥

Having realized the luminous light,
Of effulgent Lord in Yogic flight,
Uniting your mind-discerning intellect,
With Creator Lord-sublime so perfect.

Fill in this earth with noble deeds
Goaded on with creative thoughts,
And walk your life with heavenly creeds
With blissful touch of godly thoughts.

काल-भैरव यात्रा और स्वामी जी की सेवा

--स्वामी सोमानन्द जी*

मध्य भारत में खण्डवा के जंगलों में एक छोटी गुफा की दीवार पर भैरव का चित्र खुदा हुआ है। वहां प्रति वर्ष नरबलि दी जाती थी। जब महर्षि दयानन्द वहां तपस्या करते थे, उन दिनों एक बार एक बालक को बलि के लिए ले जाया जा रहा था। जलूस में सब लोग गाते बजाते जा रहे थे, पर उस बालक की माता रोती जा रही थी। दयालु ऋषि को जब इसका पता चला तो उन्होंने उस बालक के स्थान पर अपने आपको बलि के लिए उपस्थित कर दिया। परन्तु जब पुजारी उनका सिर काटने को तलवार उठा रहा था तो प्रभु कृपा से वहां किसी राजा के सैनिक आकर बन्दूकों से फार्यरिंग करने लगे। उन्हें देखकर पुजारी व उनके सब साथी भाग गए और संसार के कल्याण के लिए महर्षि दयानन्द की जान बच गई।

उस काल भैरव नामक स्थान को देखने के लिए सन् १९७३ में स्वा० सच्चिदानन्द जी योगी, सर्व श्री पं० सुखदेव जी शास्त्री, महात्मा कल्याण स्वरूप जी, डा० वेदव्रत जी आदि लगभग ३० व्यक्तियों के साथ, मध्य भारत के एक साधक स्वा० ओमानन्द की प्रेरणा तथा सहयोग से जा रहे थे। उस समय मैं वानप्रस्थाश्रम में रहता था और मेरा नाम सोम-प्रकाश था। पं० सुखदेव जी मुझे पहले से जानते थे। उन की प्रेरणा से मैं भी उन लोगों के साथ काल भैरव यात्रा पर गया।

वहां से लौटने पर स्वामी सच्चिदानन्द जी की इच्छानुसार मैं योग-धाम में रहने लगा।

आश्रम की सफाई

उन दिनों योगधाम में बहुत झाड़ झंखाड़ और घास-फूस उगा हुआ था और बड़े-बड़े गड्ढे थे। योगी जी के आदेशानुसार मैंने कुछ अन्य साथियों के सहयोग से इस सब की सफाई की और सब गड्ढे भर दिए। साथ ही, योगाभ्यास भी करता रहा। गुजारे के लिए महात्मा कल्याण

* योगधाम, ज्वालापुर

स्वरूप जी मुझे ५०) मासिक देते थे।

योगाभ्यास व संन्यास

योगी जी की प्रेरणा से मैं उनके निर्देशन में योगाभ्यास करता रहा। उन्होंने स्वयं कुटी में रहकर ३० दिन की मौन साधना की तो मुझे भी हिम्मत हुई और मैंने भी एक बार ३० दिन व एक बार ४० दिन की मौन साधना द्वारा योगाभ्यास किया। प्रतिवर्ष जनवरी से ४० दिन की मौन साधना करता और योगी जी उसके समापन पर यज्ञ कराकर तथा मुझे आशीर्वाद देकर उत्साह बढ़ाते रहते थे। मैंने एक बार तो उनकी प्रेरणा से ७२ घण्टे का उपवास करके भी साधना की जिससे वे बहुत प्रसन्न हुए व मेरा भी उत्साह बढ़ा।

सन् १९७४ में स्वामी जी की आज्ञा से संन्यास लिया। स्वामी जी ने दीक्षा देते हुए सोमानन्द नाम रखा। संन्यास लेने के पीछे भी योगी जी के निर्देशन में योगाभ्यास करते हुए आश्रम की भी सेवा करता रहा। आश्रम में सब्जी और फलादि उगाना तथा उनकी रक्षा करना, आस-पास के ग्रामों से दोनों फसलों पर आश्रम के लिए अन्न संग्रह करना आदि।

दो वर्ष से अस्वस्थ होने से पूरी सेवा नहीं कर पा रहा। फिर भी अपने सामर्थ्य के अनुसार थोड़ी बहुत सेवा करता ही रहता हूं। सब्जी का काम तो समाप्त ही हो गया, अन्यथा इतनी सब्जी होती थी कि वानप्रस्थ आश्रम वाले व अन्य लोग ले जाते थे।

योगी जी के अस्वस्थ होने के बाद मैं उनकी कोई विशेष सेवा नहीं कर पाया, इसका खेद है। पर उनका अनन्य सेवक दिक्बहादुर जो सेवा करता है उसे देखकर सन्तोष हो जाता है।

परमात्मा से प्रार्थना है कि वह गुरुवर योगी जी को शीघ्र पूर्ण स्वस्थ करे ताकि संसार का उनसे और कल्याण हो सके।

—•—

मेरे योग-गुरु

—स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती*

श्रद्धेय स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती, योगी से मेरा सर्वप्रथम सम्पर्क योगधाम आश्रम में सन् १९७१ में हुआ। मैं उस समय एम० ए० प्रथम वर्ष में गुरुकुल कांगड़ी विश्व विद्यालय में अध्ययन कर रहा था और अपने पूर्व निश्चय के अनुसार प्रातःसायं समयानुसार आधा घण्टा अथवा एक घण्टा प्रतिदिन प्राणायाम-जप आदि यौगिक क्रियाओं का अनुष्ठान किया करता था।

स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती के सान्निध्य से पूर्व एक बार गुरुकुल झज्जर में स्वामी प्रकाशानन्द जी के साप्ताहिक शिविर में साधना की विधियों का परिज्ञान हुआ। अभ्यास करते हुए जब किसी प्रकार का भ्रम-सन्देह उत्पन्न होता था तो श्रीमद् दयानन्दार्ष विद्यापीठ के प्रस्तोता स्वामी वेदानन्द वेदवागीश से मार्गदर्शन प्राप्त कर लेता था।

गुरुकुल झज्जर से अध्यापन कार्य छूटने पर दो वर्ष तक गुरुकुल कालवा जीन्द हरियाणा में भी पूर्ववत् साधनाक्रम चलता रहा। इतना होने पर भी कई आन्तरिक सन्देह उत्पन्न होते रहते थे।

तदुपरान्त गुरुकुल कालवा से आर्य वानप्रस्थाश्रम ज्वालापुर में आना हुआ। स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक के साथ ऋग्वेदीय दशम मण्डल तथा अथर्ववेद तृतीय कांड तक भाष्य की शुद्ध प्रतिलिपि लिखी। **'विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धिनी।'** वे योगदर्शन के सूत्रानुसार तन्मात्राओं की सिद्धि के लिए अभ्यास कराते रहे। गन्ध तन्मात्रा की स्पष्ट सिद्धि कई दिनों तक अनुभव होती रही। साधनाक्रम के चलते हुए भी क्रमिक साधना के विकास का मार्ग प्रशस्त नहीं हो रहा था। सन् १९७१ अप्रैल में योग निकेतन ऋषिकेश के संचालक स्वामी योगेश्वरानन्द के ध्यान योग-शिविर में सम्मिलित हुआ। वार्षिकोत्सव के दिनों में शिविर में दिए गए निर्देशों के अनुसार मार्गदर्शन प्राप्त हुआ। यह साधना क्रम स्वामी सच्चिदानन्द जी के सम्पर्क से पूर्व रहा, पुनरपि विशेष योगाभिलाषा बनी रही।

---

* अध्यक्ष, योगधाम, हरिद्वार

वानप्रस्थाश्रम में निवास करते हुए प्रतिदिन सायंकाल घाट पर सन्ध्या के लिए चला जाता था। एक दिन योगधाम की ओर चला गया। वहां ब्र० सोमदत्त तथा वानप्रस्थी परसराम जी निवास करते थे। ये दोनों साधक स्वामी सच्चिदानन्द योगी के निर्देशन में साधना करते थे। मेरा सम्पर्क स्वामी जी से हुआ तो उन्होंने पूछा –'क्या नाम है ?' मैंने कहा—'योगेन्द्र पुरुषार्थी'। 'कहां पढ़ते हो ?' 'गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में' —मैंने उत्तर दिया। स्वामी जी का अगला प्रश्न था कि 'इससे पूर्व कहां पढ़ते रहे ?' मैंने कहा—'गुरुकुल झज्जर में।' वार्ता को आगे बढ़ाते हुए स्वामी जी बोले—'गुरुकुल झज्जर के आचार्य भगवान् देव जी हमारे शिष्य हैं, आप उनके शिष्य हैं, अतः आप हमारे पोते शिष्य हुए। इस आश्रम में रोज आया करो, यहीं पर साधना किया करो।'

कुछ दिन निवास करने के बाद स्वामी जी हैदराबाद, लातूर आदि कई स्थानों पर ध्यान योग-शिविरों के आयोजन के लिए चले गए। जाते समय योगधाम में निवास करने वाले दोनों साधकों को कह गये कि वानप्रस्थ में निवास करने वाले ब्रह्मचारी योगेन्द्र पुरुषार्थी को आश्रम में बुला लाना। वे दोनों साधक मेरे पास आते रहे, और योगधाम में चलने का आग्रह करते रहे। योगधाम में निर्माणाधीन चार कुटियाओं का भार मुझे सौंप दिया। इस प्रकार धीरे-धीरे योगधाम में निवास करने का निश्चय हो गया।

योगशिविरों में सम्मिलित होना

योगधाम में निवास करते हुए दिनचर्या में साधना क्रम बढ़ता गया। स्वामी जी प्रतिवर्ष दो शिविरों का आयोजन योगधाम में किया करते थे। मैं प्रतिशिविर में श्रद्धापूर्वक सम्मिलित होता था। योगाभ्यास के रहस्यों को जानने तथा प्रयोग करने का अभ्यास करता रहा। शिविरों में स्वामी सच्चिदानन्द जी योगी की साधना पद्धति सर्वोत्तम प्रतीत हुई। योग के रहस्यों को प्रकट करने में स्वामी जी का छलकपट रहित स्वभाव तथा स्पष्टवादिता ने मुझे वहुत प्रभावित किया। साथ ही निरभिमानिता का स्वभाव भी सदैव प्रभावित करता रहा। साधना क्रम को जीवन में अपनाने का क्रम तथा रहस्यावबोध स्वामी जी के सान्निध्य से ही प्राप्त हुआ।

पांच योगियों को आदर्श मानो

स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती योगी जी अपने ध्यान योग-शिविरों में पांच योगियों का जयघोष कराया करते थे। उनका मन्तव्य है कि साधना

पद्धतियों को देखने से प्रतीत होता है कि महर्षि पतञ्जलि, व्यास, श्रीकृष्ण, शंकराचार्य एवं दयानन्द—इन पांचों योगेश्वरों की साधना पद्धति एक है। पातञ्जल योगदर्शन में मनोनिग्रह के जिन साधनों को उपयोगी माना गया है, उन्हीं साधनों का प्रमुखरूपेण सभी योगेश्वरों ने अपने अभ्यास काल में प्रयोग किया और अनुवर्त्ती साधकों से कराया है। अत: योगदर्शन हमारे लिए श्रद्धेय तथा अनुसरणीय है क्योंकि महर्षि पतञ्जलि द्वारा प्रतिपादित योग-पद्धति हो वैदिक है। वेदों का अनुशीलन करने से प्रतीत हुआ कि योगदर्शन में प्रतिपादित सिद्धान्त एवं विधियों का निर्देशन वेदानुसारी है। आगे चलकर इस विषय का विशद विवेचन 'वेदों में योग विद्या' शोध-प्रवन्ध में करने का अवसर मुझे प्राप्त हुआ।

योगविषय पर शोध की प्रेरणा

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय से सन् १९७२-७३ में वेद विषय में एम० ए० करने के वाद मैंने शोधकार्य करने का निश्चय किया। शोध प्रवन्ध लिखने के लिए विषय-निर्धारण की प्रबल समस्या सामने आयी। गुरुकुल झज्जर में अध्ययन करते हुए ही सन् १९६४ के श्रावणी पर्व पर मैंने नैष्ठिक ब्रह्मचर्य की दीक्षा ग्रहण कर ली थी। उस समय के बाद यह सभी अध्ययन-अध्यापन ब्रह्मचर्य-दीक्षा से दीक्षित अवस्था में काषाय वस्त्र धारण करके ही किया था। इस नैष्ठिक दीक्षा के कारण विशेष इच्छा थी कि वेदों में व्रह्मचर्य विषय पर शोध करूं। परन्तु तात्कालिक निर्देशकों तथा प्रबुद्ध विद्वानों ने कहा कि यह विषय शोध प्रबन्ध के लिए स्वल्प है।

द्वितीय विचार था कि महर्षि यास्क द्वारा रचित 'निरुक्त' पर शोध किया जाय। विषय निर्धारण की दृष्टि से मैं लाल बहादुर शास्त्री विद्यापीठ दिल्ली के वेद विभाग के विद्वानों से मिला तो उन्होंने 'वेदों के देवताओं' पर कार्य करने का अपनी ओर से सुझाव दिया, साथ ही बताया कि अपना इच्छित विषय नहीं ले सकते। यदि इच्छित विषय पर शोध लिखना है तो गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार से ही लिखिए।

इस प्रकार मैं सब ओर से निर्णय करने में असमर्थ हो रहा था। उन्हीं दिनों पूज्य स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती योगी, योगधाम में पातञ्जल योग पर शोध के लिए संस्थान बनाने का निश्चय कर रहे थे। मुझे भी उस संस्थान का सदस्य बनाया तथा कई बार प्रेरणा दी कि "तुम वेदों में योग विषय पर ही शोध करो। आगे भी इसी विषय में प्रयोगात्मक कार्य करो। आज समाज में लोग योगविषय पर भ्रमित हो रहे हैं। क्यों न अपने परिश्रम से लेखन तथा प्रशिक्षण से इस भ्रम को मिटाने का प्रयास

करो।" डा० नरेशकुमार सह निदेशक योग तथा प्राकृतिक चिकित्सा विभाग भारत सरकार ने भी योग विषय पर ही शोध करने की प्रेरणा को पुष्ट किया। इस प्रकार योग विषय पर शोध करने की प्रवल प्रेरणा स्वामी जी से प्राप्त होकर सफल हुई। अब स्वामी जी के आशीर्वाद से योगधाम को केन्द्र मानकर देश के विभिन्न स्थलों पर योगविषयक प्रेरणा-प्रशिक्षण देने का कार्य मैं सम्पन्न कर पा रहा हूं।

सन्यास दीक्षा गुरु

सन् १९८३ ई० के वैशाखी पर्व पर गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के वार्षिकोत्सव पर मुझे पी-एच० डी० की उपाधि मिली। पहले से ही निर्णय था कि शोध कार्य पूरा होते ही मैं संन्यास ग्रहण कर लूंगा। उपाधि मिलने के साथ इसी वर्ष महर्षि दयानन्द सरस्वती निर्वाण शताब्दी समारोह अजमेर में मनाया जाना था। विचार आया कि इसी अवसर पर दीक्षा ग्रहण की जाय। ३ नवम्बर से ५ नवम्बर तक अजमेर में कार्यक्रम था। उसी समय वेदों में योग विद्या ग्रन्थ दिल्ली में प्रकाशन हेतु दिया हुआ था। अतः समय रिक्त न होने से तथा निर्वाण शताब्दी का विशाल कार्यक्रम होने से दीक्षा का कोई निश्चित स्वरूप न बन सका। इस सब के अतिरिक्त जो दीक्षा देने वाले संन्यासी महानुभाव थे, उनके सम्पर्क में अधिक न रहने के कारण उनका आध्यात्मिक प्रभाव मेरे ऊपर नहीं था। अतः दीक्षा नहीं ली।

लगभग एक मास बाद रामलीला मैदान दिल्ली में स्वामी इन्द्रवेश जी तथा स्वामी अग्निवेश जी के तत्त्वावधान में महर्षि दयानन्द बलिदान शताब्दी समारोह मनाया जाना निश्चित हुआ। उस समय 'वेदों में योग-विद्या' पुस्तक का प्रकाशन पूरा हो चुका था। अतः दीक्षा लेने का सुनिश्चय हुआ। मेरा पूर्व निश्चय था कि जिन महानुभाव के निर्देश से मुझे योग में प्रगति मिलेगी, उन्हीं से संन्यास ग्रहण करूंगा। इस निश्चय के अनुसार स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती योगी ही मेरे दीक्षा गुरु हो सकते थे।

द्वितीय विचार था कि जिन्होंने नैष्ठिक ब्रह्मचर्य से ही संन्यास की दीक्षा ली होगी, उन्हीं से मैं संन्यास की दीक्षा ग्रहण करूंगा। इस परम्परा में स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक आते थे। जो अपने जीवनकाल में कई बार संन्यास देने की इच्छा व्यक्त करते रहे। परन्तु उनका देहान्त ३-४ वर्ष पूर्व ही चुका था। इस नियम में आने वाले जो वर्तमान के संन्यासी थे। उनके अध्यात्मिक जीवन ने मुझे प्रभावित नहीं किया था।

श्री स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती योगी, आर्ष विद्या में पारंगत आचार्य रहे। गृहस्थ आश्रम से जाने के वाद भी ब्रह्मचर्य पालन की सतत प्रेरणा देते रहे। अतः सर्वात्मना मेरा निश्चय हुआ कि स्वामी जी महाराज ही दीक्षा गुरु हों। अन्य साथियों ने भी समर्थन किया।

इस कार्यक्रम के समय स्वामी जी पातञ्जल योगमठ बौन्तापल्ली, जिला—मेदक (आन्ध्र प्रदेश) में निवास करते थे। पूर्व सूचना के बिना इधर समय पर आना उनके लिए कठिन था। तब मार्ग व्यय देकर ब्रह्मचारी नन्दकिशोर को भेजा। ब्रह्मचारी जी अपनी हिम्मत तथा लगन के कारण ठीक समय पर स्वामी जी को लेकर दीक्षास्थल रामलीला मैदान दिल्ली में पहुंच गये। इस प्रकार स्वामी जी की उपस्थिति में पूर्ण दीक्षा का कार्य सम्पन्न हुआ और आशीर्वाद प्राप्त किया।

संन्यास दीक्षा लेने के उपरान्त जीवन के मार्ग दर्शन में मुझे श्री स्वामी जी महाराज का विशेष स्नेह प्राप्त हुआ। मुझे भी गर्व अनुभव होता है कि ज्ञान सम्पन्न आर्ष विद्या में निष्णात एवं योगविद्या के उचित मार्गदर्शक मिल जाने से मेरा संन्यास लेना, आत्मविकास के लिए सार्थक हुआ।

योग-सिद्धि की प्रेरणा—

श्रद्धेय स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती के जीवन से अन्य प्रेरणाओं के साथ सब से प्रबल प्रेरणा प्रारम्भ से आज तक यही रही, और वे सदैव कहते हैं कि "योगाभ्यास प्रारम्भ करने के समय हम ने यह निश्चय किया था, कि पातञ्जल योग में स्वीकृत सिद्धियों को अपने आप सिद्ध करके योग का प्रचार करेंगे।

हम तो गृहस्थ आश्रम से निवृत्त होकर संन्यास आश्रम में आये, तथा यौगिक क्रियाएं बाद में प्रारम्भ कीं। आप तो नैष्ठिक ब्रह्मचारी हो, इसी अवस्था में योग की रुचि पैदा हो गई है तो अभी से योगाभ्यास में संलग्न हो जाओ। २-४ विशिष्ट सिद्धियां आ जाने पर लोगों में योग का विशेष प्रचार होगा। सिद्धि प्राप्त होना योग सफलता की कसौटी है तथा गहन साधना में रुचि विशेष होकर उसी में संलग्न रहता है।" साथ ही सिद्धियों का अहंकार हो जाने से अपना तथा समाज का पतन सम्भव है, यह भी संकेत कर दिया।

स्वामी जी अधिक वैभव बढ़ाने के पक्ष में कभी नहीं रहे। उनकी सलाह रहती है कि सीमित साधनों के द्वारा उपासना प्रारम्भ कर दो। पूर्ण श्रद्धा विश्वास रखते हुए जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति ईश-कृपा से स्वतः

पूरी हो जाएगी। इस प्रकार स्पष्ट अनुभव होता है कि पूज्य स्वामी जी के समान साधनामय जीवन के लिए अन्य किसी की क्रियात्मक प्रेरणा नहीं मिली। उपयुक्त समय मिलते ही स्वामी जी के आदेश का पूर्ण परिपालन करूंगा, ऐसा निश्चय है।

लोभ-लालच का अभाव—

संसार में अनेक सामाजिक कार्य करने वालों के जीवन में देखा जाता है कि जो संस्था या अन्य कार्य प्रारम्भ करते हैं अपने स्वामित्व की रक्षा के लिए आजीवन उसके सर्वोच्च पद पर डटे रहते हैं। दूसरे किसी योग्य व्यक्ति को कार्यभार नहीं सौंपते। श्री स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती योगी इसके अपवाद सिद्ध हुए हैं। उन्होंने अपने कार्यकाल में श्रीमद् दयानन्द वेद विद्यालय (यूसुफ सराय) गौतम नगर स्थापित किया, गुरुकुल खेड़ा खुर्द आदि और भी शिक्षण संस्थाओं को स्थापित कर यथासमय दूसरों को सौंपते गए, पुनः अपना कोई अधिकार नहीं रखा। इसी प्रकार योग केन्द्रों की स्थापना की, यथा—योगधाम, ज्वालापुर हरिद्वार, पातञ्जल योगमठ बौन्तापल्ली, ता० नरसा पुर, जिला-मेदक, आन्ध्र प्रदेश।

इन दोनों केन्द्रों को शक्ति रहने तक पूरा सहयोग देकर संचालित किया, पुनः समर्पित कर दिया। योगधाम के ट्रस्ट में अपना नाम नहीं रखना चाहते थे। अन्य ट्रस्टियों के आग्रह से नाममात्र रखना स्वीकार किया। इस के अतिरिक्त स्वामी जी प्रबन्ध में अपनी ओर से कभी कोई रुकावट पैदा नहीं करते। अपने चिन्तन मनन साधना में डूबे रहने के अतिरिक्त उन्हें कुछ भी अच्छा नहीं लगता।

अधिकतर संस्थापकों को जीवन के अन्तिम क्षणों तक प्रबन्धकों पर आरोप लगाते, क्रोध करते या स्वयं दुखी होते देखा जाता है। मैं अपना परम सौभाग्य समझता हूं कि पूज्य स्वामी जी उक्त दोषों से दूर वीतराग-निस्पृह जीवन मुक्त का जीवन जी रहे हैं। परमात्मा उन्हें चिरायु करें जिस से उनका पुष्कल पुनीत आशीर्वाद सदा इसी प्रकार मिलता रहे।

चकास्ति योग्येन हि योग्यसंगमः।

जब योग्य व्यक्ति से किसी योग्य व्यक्ति का संगम होता है, तभी चमक पैदा होती है।

आर्ष पाठविधि के प्रवर्त्तक आचार्य

—स्वामी ओमानन्द सरस्वती*

श्रीमद्दयानन्द वेद विद्यालय की स्थापना पूज्य पं० राजेन्द्रनाथ जी शास्त्री ने की थी। पहले यह गुरुकुल यमुना के तट पर था। प्रारम्भ में विद्यार्थी थोड़े थे। तब आचार्य जी छोटे विद्यार्थियों को नहीं लेते थे। उनकी योजना थी कि बड़े विद्यार्थी ही जब पढ़ लिखकर तैयार हो जाएं तो देश में काम करें। बड़े विद्यार्थियों को वे नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का व्रत दिलाते थे।

यमुना तट पर जब तक विद्यालय रहा, विद्यार्थियों की संख्या पचास से अधिक कभी नहीं हुई। किन्तु वे बहुत अच्छी लगन वाले विद्यार्थी थे, क्रियाशील थे और आचार्य जी भी पढ़ाने में बहुत पुरुषार्थ करते थे। सारा समय निःशुल्क निष्काम भावना से अपना कर्त्तव्य और धर्म समझ कर पढ़ाते थे। विद्यार्थी भी उनकी ऊंची लगन, धुन, त्याग, तप और उदात्त चरित्र को देखकर प्रभावित होते थे। उस समय विद्यार्थी जितने भी थे, वे अच्छे पण्डित बने और उन्होंने अपने जीवन में अच्छे-अच्छे काम किये।

उस समय आरम्भ के विद्यार्थियों में से कुछ उल्लेखनीय स्नातकों के नाम हैं—उत्तर प्रदेश के पं० सुरेन्द्र कुमार शास्त्री, बिजनौर जिले के पं० विश्वप्रिय आचार्य, पं० बुद्धदेव शास्त्री, पं० श्रुतिकान्त, मद्रास के पं० भद्र-सेन। मैं भी आरम्भ के स्नातकों की मण्डली में से एक हूं। इन विद्यार्थियों को वे यही प्रेरणा देते थे कि "ब्रह्मचारी रहकर कार्य करोगे तो अधिक काम कर पाओगे।"

उन्होंने एक "भिक्षु-मण्डल" भी उस समय बनाया था। उसमें कुछ विद्यार्थी प्रतिदिन भिक्षाटन द्वारा भोजन किया करते थे। गुरुकुल के मस्जिद मोठ में आने तक यह "भिक्षाटन" का कार्य चालू रहा।

आचार्य श्री राजेन्द्रनाथ जी जहाँ स्वय अत्यन्त तपस्या पूर्वक गुरुकुल की सेवा किया करते थे, वहीं उनके पूज्य पिता मा० प्यारेलाल जी भी करते थे। सारी आयु उन्होंने अध्यापक के रूप में कार्य किया था, और वे

* आचार्य राजेन्द्रनाथ शास्त्री के प्रमुख शिष्य, गुरुकुल झज्झर के सस्थापक-संचालक

पक्के आर्य विचारों के थे। बाद में उन्होंने भी संन्यास ले लिया और स्वा० प्रकाशानन्द नाम से जाने गये। गुरुकुल के प्रबन्ध-कार्य में उनका सहयोग बहुत बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ।

आचार्य जी विद्यार्थियों से भी गुरुकुल के कार्य में सहयोग लेते थे। किसी एक बड़े योग्य विद्यार्थी को वे 'संरक्षक' बनाते थे। वह गुरुकुल के अधिष्ठाता या आन्तरिक व्यवस्थापक के रूप में कार्य करता था। यह आवश्यक भी था क्योंकि आचार्य जी स्वयं सारे समय रह नहीं सकते थे। अपने गृहस्थ-साधन के लिए उन्होंने एक प्रेस लगाया था और ट्यूशन आदि करके भी अध्यापन द्वारा आजीविका का उपार्जन करते थे। इस सब में समय देना पड़ता था। फिर भी आधे से अधिक समय वे गुरुकुल को सुचारु रूप से चलाने के लिए देते थे।

उस समय यमुना तट पर विद्यालय झोंपड़ियों में ही था। पक्के मकान नहीं थे। तीन-चार छप्पर डाले हुए थे। एक चबूतरा था जिसे यज्ञशाला के रूप में प्रयुक्त किया जाता था। वहां की भूमि भी अपनी नहीं थी। वहाँ कोई वृद्ध पौराणिक साधु पहले रहता था। उससे मांग कर वह स्थान ले रखा था। कुछ विद्यार्थी उसकी सेवा कर देते थे। उस स्थान से बिल्कुल सटा हुआ पौराणिकों का विद्यालय था। इसलिए उन के साथ हमारे विद्यार्थियों का जब तब शास्त्रार्थ हो जाना स्वाभाविक ही था।

विद्यार्थियों के लिए अनेक नियमों में से एक पक्का नियम था 'केवल संस्कृत में ही वार्तालाप करना।' उस समय हमारे, व्यवहार की, बोलचाल की और पाठन-पठन की भाषा देववाणी संस्कृत ही थी। उनकी कृपा से सब विद्यार्थियों को ऐसा अभ्यास हो गया था कि आज पचासियों वर्ष बीत जाने पर भी कभी संस्कृत में बोलना पड़े तो मैं अमर वाणी में सहज भाव से बोल सकता हूं। निःसन्देह यह उनकी देन है। जो कोई छात्र संस्कृत नहीं बोलते थे, उन्हें कुछ न कुछ दण्ड दिया जाता था।

विद्यार्थियों का जीवन बड़ा सादा था। दिनचर्या की विशेषता थी—प्रातःकाल चार बजे उठ जाना तथा निर्धारित समय पर सन्ध्या-हवन, समय पर व्यायाम, समय पर पठन-पाठन आदि। प्रत्येक विद्यार्थी को अष्टाध्यायी कण्ठस्थ करनी पड़ती थी। प्रतिदिन उसका पाठ करना आवश्यक था। किसी-किसी विद्यार्थी को हम समझते थे कि यह तो बहुत लम्बी सन्ध्या कर रहा है, किन्तु प्रायः वह आंखें बन्द करके अष्टाध्यायी का पाठ किया करता था। कभी-कभी विद्यार्थी शीर्षासन करते हुए भी यह

पाठ दुहराते रहते थे। ऐसी धुन और लगन अष्टाध्यायी-कण्ठस्थ करने की सभी को रहती थी।

सिद्धान्तकौमुदी की अन्त्येष्टि :

आचार्य जी ने अपने विद्यार्थियों में आर्ष ग्रन्थों के विषयों में अटूट श्रद्धा और आस्था भर दी थी। उन्हीं दिनों उन्होंने एक पुस्तक लिखी— **"सिद्धान्त कौमुदी की अन्त्येष्टि"**। पुस्तक की खूब चर्चा हुई और सर्वत्र प्रचार-प्रसार हुआ। जहां-जहां गुरुकुल थे वहां सर्वत्र जा-जाकर हम विद्यार्थियों ने उस पुस्तक का प्रचार किया। अष्टाध्यायी पर शास्त्रार्थ किया। सिद्धान्तकौमुदी में जो अश्लील उदाहरण हैं, वे आचार्य जी ने छांटकर रख दिये थे कि "क्या ये विद्यार्थियों द्वारा पठनीय हैं ? जैसे—**'गोपी कृष्णायते** आदि।" प्रत्येक विद्यार्थी को ये सब उदाहरण याद थे। अतः कोई कौमुदी के पक्ष में बोलता तो विद्यार्थी उसे शान्त कर देते थे।

इसके अतिरिक्त हमने अष्टाध्यायी की क्रमबद्धता का महत्त्व भी अच्छी तरह समझा हुआ था। हम प्रश्न करते थे कि कोई भी सिद्धान्त-कौमुदी का पढ़ने वाला 'हलन्त्यम्' इस प्रथम सूत्र का ही अर्थ बता दे। वह बता ही नहीं सकता था, क्योंकि जब तक 'इत्' संज्ञा की अनुवृत्ति मिला कर सानुवृत्ति सूत्र पूरा न हो तब तक अर्थ ही नहीं बन सकता। और सिद्धान्तकौमुदी में बाद में आने वाले 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इसकी अनुवृत्ति कैसे की जा सकती है ?

शास्त्रार्थ और ग्राम प्रचार :

इस प्रकार विद्यार्थियों को शास्त्रार्थ में निपुण बनाने के लिए विशेष सूत्रों का विशेष अर्थ वे बताया करते थे। ऐसी विशेषज्ञता में विद्यार्थी भी खूब रुचि लेते थे। जब हम पढ़ते-पढ़ाते थे वह एक शास्त्रार्थ-युग ही था। आचार्य जी हमें ऐसे शास्त्रार्थों में देखने या भाग लेने के लिए ले जाया करते थे। संस्कार कराने व व्याख्यान आदि देने के लिए भी वे विद्यार्थियों को भेजते थे। कई बार अनेक आर्यसमाजों में मैं स्वयं भी व्याख्यान देने के लिए गया।

ग्राम-प्रचार के लिए प्रायः विद्यार्थी पठन-पाठन के बाद शनिवार की शाम को बाहर जाते थे। रात्रि वहां ठहर कर प्रातः रविवार को प्रचार का कार्य करते थे और सायंकाल तक वापस गुरुकुल लौट आते थे। गांवों में पैदल जाना, गांवों में प्रचार कर के लौटना यह प्रायः प्रत्येक सप्ताह होता था। इसलिए ग्राम-प्रचार की धुन और लगन बड़ी थी। विद्यार्थी भी

इसके लिए खूब स्वाध्याय करते थे। उनके अपने निजी पुस्तकालय भी थे। यह सब आचार्य जी की प्रेरणा का सुपरिणाम था।

दयानन्द वेद विद्यालय का अपना 'पुस्तकालय भी खूब समृद्ध था। वह पुस्तकालय भी गुरुकुल के साथ-साथ यमुना तट से यहां मस्जिद मोठ लाया गया था। (भूमिदान करके पटवारी भद्रसेन जी ने यश अर्जित किया।) पहले यहाँ भवन-निर्माण का कार्य हुआ।

पहले एक विद्यापीठ बनाई हुई थी। जिसे 'आर्ष-विद्यापीठ' कहते थे। विद्यार्थी उसी के अन्तर्गत परीक्षा देते थे। पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु, पं० शंकर देव जी और आचार्य राजेन्द्रनाथ जी ने मिलकर यह विद्यापीठ बनाई थी। किन्हीं कारणों से मेरे साथी अन्य विद्यार्थियों ने तो परीक्षा दे दी थी। किन्तु मेरा स्वास्थ्य कुछ ठीक नहीं रहता था। अत: मैं विद्यालय छोड़कर चला गया था। चित्तौड़गढ़ गुरुकुल में रहकर विद्याध्ययन करता रहा। वहां से आया तो आचार्य जी ने कहा कि मैं भी परीक्षा दे दूं। मैं विद्यालय में छह महीने रहा महाभाष्य की परीक्षा देने के लिए। इसी बीच मैं गुरुकुल झज्झर को भी संभाल चुका था।

अब जब परीक्षा देने का अवसर आया तो विद्यापीठ वालों ने आपत्ति की कि "कोई भी सीधे महाभाष्य की परीक्षा नहीं दे सकता। इन्होंने कोई और परीक्षा तो दी नहीं है।" आचार्य जी ने कहा कि "ये योग्य हैं, और पूर्व कक्षाओं में पढ़ चुके हैं, अत: आपको बाधा नहीं डालनी चाहिए।" किन्तु प्रबन्धक नहीं माने।

इस पर आचार्य जी ने विद्यापीठ से अपना सम्बन्ध समाप्त कर दिया। उन्होंने मेरी परीक्षा स्वयं ली। मैं परीक्षा देकर चला गया। सारे महाभाष्य की परीक्षा मैं नहीं दे सका था क्योंकि गुरुकुल झज्झर का काम देखना था तथा कुछ घर के झंझट भी मेरी जान को थे। अत: आचार्य जी ने मुझे महाभाष्य की उस परीक्षा पर **भाष्याचार्य** के स्थान पर **भाष्यशास्त्री** की उपाधि प्रदान की। इस प्रकार प्रकट है कि उस समय आचार्य जी अपने विद्यार्थियों के प्रति आत्मीयता के साथ-साथ पठन-पाठन पर बहुत बल देते थे। उन्हें सच्चा विद्वान् और पण्डित बनाना चाहते थे।

छात्रों की वीरता :

विद्यादान के अतिरिक्त आचार्य जी अपने विद्यार्थियों में बल और साहस का आधान करना भी आवश्यक मानते थे। इसलिए व्यायाम पर बड़ा बल देते थे। लाठी चलाना, तलवार चलाना, मोगरी घुमाना, कुश्ती

करना यह सब कुछ सिखाया जाता था। फलतः विद्यालय के विद्यार्थी सब जगह प्रसिद्ध थे अपनी बलशालिता के लिए। समय पड़ने पर, विद्यार्थियों ने आचार्य जी के उपदेश के अनुसार बड़ी वीरता दिखाई। उन्होंने अनेक बार दयानन्द वेद विद्यालय के यश और कीर्ति को चार-चांद लगाये।

एक बार यमुना तट पर पण्डों से झगड़ा हो गया। सारे विद्यार्थी लट्ठ लेकर पहुंच गये। पण्डों ने झट घबराकर माफी मांग ली। एक बार मुसलमानों से झगड़ा हो गया। वे छेड़-छाड़ किया करते थे। उन्हें पीटना पड़ा और उन्हें माफी भी मांगनी पड़ी। यहाँ यूसुफसराय में आने पर गुरुकुल में वेद प्रकाश नाम का एक विद्यार्थी पढ़ता था। उसकी बहन बहुत सुन्दर थी और परिवार में सदस्य अधिक नहीं थे। सो कुछ गुण्डों ने सोचा कि उसकी बहन को उठा ले जाएं। आचार्य जी का आदेश था कि ऐसे समय ब्रह्मचारी काम आयें। उस रात को विद्यालय में केवल ब्रह्मचारी ही थे, आचार्य जी घर गये हुए थे। सूचना मिलते ही ब्रह्मचारी गण वेदप्रकाश के घर पहुंच गये। उनमें प्रमुख थे श्री हरिशरण जो लाठी चलाने में पूर्णतः निष्णात लाठी पण्डित ही थे। अकेले ही वे सैकड़ों से सामना करने को तैयार रहते थे। उन्होंने वहां लाठी चलाई। जो गुण्डा वहां वेदप्रकाश की बहन को उठाने आया था, वह उनकी लाठी से आहत होकर गिर पड़ा। उसकी लाश खींच कर कहीं डाल दी गई। बहुत दिनों बाद लाश मिली, पर किसने मारा यह पता किसी को नहीं चल पाया।

इस प्रकार दुष्टों को दण्ड देने के लिए ब्रह्मचारी सदा अग्रसर रहते थे। यह आचार्य राजेन्द्रनाथ जी के प्रखर अन्याय-विरोधी व्यक्तित्व का ही प्रभाव था।

एक बार आर्यसमाज की शोभा यात्रा पर मुसलमानों ने फतहपुरी जामा मस्जिद के पास आक्रमण कर दिया। भगदड़ मच गई। उस समय गुरुकुल के ब्रह्मचारी भी जलूस में सम्मिलित थे। हमारे ब्रह्मचारी साधु-वेश में रहते थे। गले से लेकर पैरों तक वे अलफी पहनते थे। हाथ में सब के लाठी होती थी। बस फिर क्या था, ब्रह्मचारी मस्जिद के अन्दर घुस गये। मार-मार कर मुसलमानों को वहीं बिछा दिया। उन्हें माफी मांगनी पड़ी। वे समझ गए कि गलत जगह छेड़ बैठे थे।

ऐसे अनेक अवसर आते रहते थे। एक बार शास्त्रार्थ के समय पौराणिक पहलवानों ने शरारत की। वे आर्यसमाज के पण्डितों को पीटना चाहते थे। ब्रह्मचारियों और अनाथालय के विद्यार्थियों ने लट्ठ बजाकर

पौराणिकों के तगड़े-तगड़े पहलवानों के भी छक्के छुड़ा दिए।

आर्ष पाठविधि पर जोर :

दयानन्द वेद विद्यालय की शिक्षा वस्तुतः सर्वाङ्गीण थी। शारीरिक, आत्मिक एवं सामाजिक उन्नति देने वाली वह एक पूर्ण शिक्षा थी। इसी कारण आचार्य जी के शिष्य बहुत योग्य और समग्र व्यक्तित्व से सम्पन्न बन पाये। उनके शिष्यों ने ग्राम खेड़ा, टटेसर, बुकलाना तथा वार्शी (हैदराबाद) में अनेक गुरुकुलों का सफल सञ्चालन किया।

आचार्य जी की निश्चित मान्यता थी कि वास्तविक गुरुकुल वही है जहां आर्ष-पाठविधि की शिक्षा दी जाए। अतः उनसे सम्बन्ध रखने वाले सभी गुरुकुलों ने आर्ष पाठविधि को ही अपनाया। हमारे गुरुकुल झज्झर में भी उन्हीं की प्रेरणा से आर्ष पाठविधि की पद्धति स्वीकार की गई है।

अपनी जिज्ञासावश हमने उनसे जानना चाहा कि आपको यह आर्ष पाठविधि की प्रेरणा कहां से प्राप्त हुई है। उन्होंने कहा—"वैसे तो आर्ष ग्रन्थों को पढ़ने से ही यह प्रेरणा प्राप्त हुई है। किन्तु जब मैंने सत्यार्थप्रकाश पढ़ा तो आर्ष ग्रन्थों की महत्ता को अच्छी तरह समझने लगा। तब मैं अपने पूज्य गुरु स्वामी श्री शुद्धबोधतीर्थ जी के पास ज्वालापुर में पढ़ा। उन्हीं की प्रेरणा से रंग और गहरा चढ़ा। ज्यों-ज्यों दिन वीतते गये यह रंग और भी गहरा हो गया।"

हमने पूछा कि "आचार्य श्री शुद्धबोधतीर्थ जी कहां पढ़े थे?" उन्होंने बताया कि "वे आचार्य श्री उदयप्रकाश जी से पढ़े थे, जो श्री स्वामी विरजानन्द जी महाराज के शिष्य थे।" इससे स्पष्ट हुआ कि महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जिस गुरु परम्परा में दीक्षित हुए थे आचार्य राजेन्द्रनाथ जी शास्त्री उसी परम्परा की देन थे और उनके शिष्यानुशिष्य आज भी उसी महान् परम्परा को आगे बढ़ा रहे हैं।

श्री ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु ने बड़ा प्रयास किया कि किसी प्रकार काशी विश्वविद्यालय में आर्ष-पाठविधि को मान्यता मिल जाए। उनके प्रयत्न से सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय में इस आर्ष-पद्धति को कुछ मान्यता मिलो भी। 'प्राचीन आर्ष प्रणाली' के नाम से वह किसी रूप में स्वीकृत हुई। इसमें जिज्ञासु जी के अतिरिक्त पं० शंकरदेव जी, पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक व आचार्य राजेन्द्रनाथ जी सभी का सहयोग था। किन्तु इस मान्यता के साथ कुछ पौराणिक ग्रन्थों का अध्ययन भी करना पड़ता था। तब हमने प्रयास किया कि गुरुकुलों का संगठन करें। प्रोफेसर शेरसिंह जी

की प्रेरणा व सहयोग से हम इस दिशा में आगे बढ़ें। आचार्य जी की प्रेरणा तो हमें प्रारम्भ में ही अपनी शिक्षा के समय प्राप्त हो चुकी थी। अत: गुरुकुलों को संगठित करके हम काशी विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र विश्व-विद्यालय तथा पंजाब विश्वविद्यालय में भी गये। किन्तु वहां कोई सुनवाई नहीं हुई। केवल 'महर्षि दयानन्द विद्यालय' रोहतक में ही थोड़े से संशोधन के साथ हम आर्ष-पाठविधि को ज्यों का त्यों मान्यता दिलवाने में सफल हो गये। उन्होंने इसे बी० ए० के समकक्ष स्वीकृत करने के लिए एक 'अंग्रेजी' विषय जोड़ना और आवश्यक माना।

हरियाणा सरकार ने जब 'संस्कृत-पण्डित' के रूप में मेरा सम्मान किया तो मैंने कहा, "यदि यथार्थ में आप मेरा सम्मान करना चाहते हैं तो शास्त्री को बी० ए० का ग्रेड दीजिए।" उस समय के गवर्नर बंगाली थे, संस्कृत प्रेमी थे। उन्होंने यह आग्रह स्वीकार किया।

म० द० विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति चौ० हरद्वारीलाल हमारे गुरुकुल को देखकर अत्यन्त प्रभावित हुए। हालांकि इलैक्शन में हम उनका विरोध कर चुके थे, हमने उन्हें हराया था। फिर भी उन्होंने कहा कि "अपने अध्यापकों का चयन ये गुरुकुल में स्वयं करेंगे, हम कोई हस्त-क्षेप नहीं करेंगे। हम तो इनकी पाठविधि को मान्यता दे रहे हैं। अत: परीक्षा विश्वविद्यालय लेगा और डिग्री देगा।" इसके साथ ही अपनी यूनिवर्सिटी में उन्होंने यह भी आदेश दिया कि यदि कोई नियुक्ति होती है तो इस पाठविधि से पढ़े हुए स्नातकों को प्राथमिकता दी जाए।

इस आदेश का पालन हुआ। हमारे स्नातक स्थान-स्थान पर नियुक्त हुए। नियुक्त करने वाली संस्थाओं को इस का कोई पश्चात्ताप भी नहीं हुआ था क्योंकि हमारे स्नातकों की योग्यता में कोई कमी नहीं थी। वे जिस परीक्षा में भी बैठे, विशेष रूप से सफल हुए। ९ वर्ष तक तो पंजाब विश्व-विद्यालय की एम०ए० परीक्षाओं में आर्ष-पाठविधि से पढ़े हुए हमारे विद्या-र्थियों ने किसी भी दूसरे छात्र को प्रथम नहीं आने दिया। इस सफलता का श्रेय आचार्य श्री राजेन्द्रनाथ जी द्वारा निर्धारित सर्वाङ्गीण शिक्षापद्धति को ही है।

हैदराबाद आर्य सत्याग्रह :

आचार्य श्री ने अपने विद्यार्थियों को जहां विद्वान् बनाया, वहीं बल-वान्, वीर और अन्याय के विरुद्ध लड़ने के लिए साहसी भी बनाया। जब हैदराबाद का सत्याग्रह चला तो गुरुकुल वेद विद्यालय के

विद्यार्थी जत्था बनाकर उसमें पूरी तरह सम्मिलित हुए। जहां अन्य गुरुकुलों के छात्रों के जत्थे गये, वहां यह गुरुकुल पीछे कैसे रह सकता था। अन्त तक हमारे किसी विद्यार्थी ने निजाम की जेल-यातनाओं के आगे सिर नहीं भुकाया। किसी ने भी माफी नहीं मांगी। सब पक्के रहे। ब्रह्मचारी हरिशरण और मैं तो जेल में भी अपने नियम का पालन करते हुए नमक, मीठा नहीं खाते थे। इसीलिए ज्वार की दो रोटी पानी के साथ ही लेते थे। वहां सभी का भार घटा था। मेरा भी वजन ३५ पौण्ड कम हुआ। बारह हजार सत्याग्रही जेल में गये थे। उनका रक्त और मांस जो घटा वह लगभग २० किलो प्रति सत्याग्रही था। इस प्रकार आर्यसमाज ने छह हजार मन खून की भेंट इस सत्याग्रह में चढ़ाई। महात्मा गांधी ने कहा था—"आर्यसमाज टक्कर ले रहा है, और यह पहली टक्कर हिमालय से है।" निजाम चाहे हिमालय था या नहीं, पर उसे आर्यसमाज के आगे भुकना पड़ा। उसे आर्यों की मांगें माननी पड़ीं और अपने जन्मदिवस पर सब को हलुआ खिलाकर मुक्त करना पड़ा। गुरुकुल के ब्रह्मचारी अपनी विजय पताका फहराते हुए वापस लौटे।

ब्रह्मचारीगण वहां अपने नाम के पहले 'ब्रह्मचारी और बाद में 'आर्य' शब्द लिखवाते थे। अपने पिता के स्थान पर अपने गुरु का नाम लिखाया जाता था। जैसे—'ब्रह्मचारी हरिशरण आर्य' 'ब्रह्मचारी भगवान् देव आर्य' गुरु—'आचार्य श्री राजेन्द्रनाथ शास्त्री।' ऐसा लिखाने पर काजी ने पूछा—'आप ब्रह्मचारी हैं?' हमारे 'हां' कहने पर बोला—'तो आपकी सजा भी ज्यादा सख्त कर दें?' हम ने कहा—'हां, कर दो।' तो उन्होंने हमारी सजा और कठोर कर दी। हम घबराने वाले आदमी थे ही नहीं।

जिस समय यह सत्याग्रह चल रहा था, उस समय तुलजापुर का मोरचा सब से कठिन था। यहां पहले जत्थे पर ही मुसलमानों ने हमला किया था। बहुत से लोग जखमी हो गये थे और प्रायः सभी अस्पताल में थे। स्वामी स्वतन्त्रतानन्द जी महाराज ने दूसरे जत्थे में श्री जगदेवसिंह जी सिद्धान्ती के नेतृत्व में गुरुकुल के ब्रह्मचारियों को भेजा। उसमें बासठ व्यक्ति थे। तीसरे जत्थे में हमारे गुरुकुल के ब्रह्मचारी सम्मिलित हुए। यह एक सौ दो लोगों का जत्था था। इस प्रकार गुरुकुल के ब्रह्मचारी, कर्मचारी, अध्यापक आदि कभी भी अन्याय के विरुद्ध कठिन से कठिन मोर्चा संभालने में पीछे नहीं हटे।

वेदार्थ कल्पद्रुम :

प्रारम्भ में एक व्यक्ति ने गुरुकुल वेद विद्यालय की बड़ी सहायता की थी। वह थे पं० सुरेन्द्र कुमार शास्त्री के पिता श्री स्वामी सदानन्द जी। वे प्रतिदिन आटे दाल की भिक्षा गुरुकुल के लिए प्राय: सिर पर ही लाया करते थे। दिल्ली वालों का तब तक गुरुकुल से इतना प्रेम नहीं हुआ था। उस व्यक्ति ने अनेक वर्षों तक इसो प्रकार सेवा की। वे स्वयं संन्यासी हो गये थे, अपने पिता जी की भांति। वे चाहते थे कि उनका पुत्र सुरेन्द्र भी संन्यासी बने। किन्तु इकलौती सन्तान होने के कारण ऐसा नहीं हो पाया। पं० सुरेन्द्र जी ने गृहस्थ में भी आर्यसमाज की कम सेवा नहीं की। करपात्री जी की पौराणिक रचना 'वेदार्थपारिजात' का उत्तर देने के लिए 'वेदार्थकल्पद्रुम' को तैयार करने में उन्होंने आचार्य विशुद्धानन्द जी को पूरा सहयोग दिया। उसे दिल्ली में शुद्ध छापने का श्रेय भी पं० सुरेन्द्र-कुमार जी को जाता है। उस पुस्तक पर दोनों पण्डितों का सर्वत्र सम्मान हुआ। अपने गुरुकुल में बुलाकर इक्कीस सौ रुपये देकर हम ने भी अपनी कृतज्ञता का प्रकाशन किया। ला० दीपचन्द जी के 'आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट' ने तथा 'सार्वदेशिक सभा ने' भी इक्कीस सौ की राशि से उन्हें सम्मानित किया।

आचार्य श्री राजेन्द्रनाथ जी ने हमें अपने गुरुओं के प्रति श्रद्धा, सेवा और सम्मान की बड़ी अच्छी शिक्षा दी थी। एक बार गुरु-पूर्णिमा पर हम सब ने मिलकर आचार्य जी को भी कुछ राशि भेंट की थी। यूं तो सभी विद्यार्थी गरीब ही थे। फिर भी जो तुच्छ राशि हम इकट्ठी कर सके वह उन्हें समर्पित करके हमें हार्दिक आनन्द हुआ था। जैसा कि मनु महाराज का श्लोक है—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते, आयुर्विद्या यशोबलम्॥

इसी प्रकार हमारे गुरुकुल की यह विशेषता थी कि ब्रह्मचारी अपने गुरुजनों के प्रति अत्यन्त सम्मान भाव रखते थे। अपने माता-पिता से मिलने पर वे उनके भी पैर छूकर ही नमस्कार किया करते थे। वहीं गुरुकुल में भी नित्यप्रति आचार्य जी तथा अन्य अध्यापकों का चरणाभिवादन करके कृतकृत्य अनुभव करते थे।

प्राचीन पद्धति के अनुसार, प्रणाम करते समय हमें अपने गोत्र का उच्चारण करना होता था। मुझे अपने गोत्र का ज्ञान नहीं था। कभी

ध्यान ही नहीं दिया था। सो मैंने अपने पिताजी से जानना चाहा। उन्होंने बताया, "वैसे तो हम क्षत्रिय हैं, किन्तु हमारा गोत्र है **लौरस**।" मुझे समझ में नहीं आया कि इस शब्द का क्या अर्थ हुआ। मैंने आचार्य जी से पूछा कि '**यह लौरस** क्या है ?' कहने लगे, "अरे सीधा है—'लव-औरस'। सूर्यवंशी लव के वीर्य से उत्पन्न सन्तान को यह नाम मिला जो अपभ्रंश होकर इस रूप में आ गया होगा। इस प्रकार हमारे सामने कोई भी गुत्थी आये उसे सुलझाने में वे समर्थ थे।

जब मैंने गुरुकुल झज्झर संभाला तो स्वयं अनेक बार वहां पधारे। पं० विश्वप्रिय जी शास्त्री को मेरी सहायता के लिए वहीं भेज दिया। उनका मार्गदर्शक सहयोगी वरद हस्त मुझ पर सदा बना रहा।

मतमतान्तरों का तुलनात्मक अध्ययन :

पूज्य आचार्य जी अपने स्नातकों को अन्य धर्मों का ज्ञान कराना भी आवश्यक समझते थे। तुलनात्मक अध्ययन पूरा कराने की दृष्टि से उन्होंने मौलवी को गुरुकुल में नियुक्त किया। पहले वह मुसलमान था, फिर शुद्ध होकर 'मेधातिथि' कहलाया। इसी प्रकार बाइबिल का ज्ञान कराने के लिए भी किसी न किसी विद्वान् को बुलाते रहते थे। पं० 'रुचिराम जी' को अनेक बार बुलाया, जिन्होंने अरब में वैदिक धर्म का प्रचार किया था। वे अरबी और फारसी का अच्छा ज्ञान रखते थे।

विद्वानों के शास्त्रार्थ में भी हमें ले जाते थे। बहुत अच्छे शास्त्रार्थ महारथी जैसे पं० व्यासदेव जी, पं० रामचन्द्र जी देहलवी, पं० बुद्धदेव जी मीरपुरी, स्वामी समर्पणानन्द जी, ठाकुर अमरसिंह जी (अमर स्वामी जी) आदि के व्याख्यान सुनाने शास्त्रार्थ दिखाने के लिए तो ले ही जाते थे। गुरुकुल में भी ऐसी सभाएँ व शास्त्रार्थ करवाते थे। उनसे व्याख्यान भी दिलवाते थे। शिक्षा को सर्वथा सार्थक बनाने की दिशा में उनका प्रयास सदा बना रहता था।

विद्वान् स्नातक परम्परा :

आचार्य श्री की कृपा से अनेक संस्थाएं बनीं। उनमें जो विद्वान् बने, वे उन्हीं की शिष्य परम्परा को आगे बढ़ा रहे हैं। जैसे पं० राजवीर शास्त्री अच्छे विद्वान् हैं, और 'दयानन्दसन्देश' का सम्पादन कर रहे हैं। पं० सुदर्शन देव जी शास्त्री, डा० महावीर जी शास्त्रा मीमांसक, पं० भद्रसेन जी, पं० धर्मव्रत जी, पं० वेदव्रत जी, पं० सत्यवीर जी, श्री नरदेव जी आदि ऐसे दर्जनों योग्य स्नातक इसी पाठविधि की देन हैं। पं० शिवकुमार

जी शास्त्री अनेक बार कहा करते थे, "मेरी श्रद्धा आपके प्रति इसलिए है कि आपने सचमुच विद्वान् बनाने का केन्द्र खोला हुआ है।" गुरुकुल झज्झर से जो ऐसे विद्वान् निकल पाये तो इसमें मेरे गुरु आचार्य श्री (राजेन्द्रनाथ जी) की कृपा ही कारण है, यह मैं अच्छी तरह से समझता हूँ।

पाण्डित्य की परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने में आचार्य श्री राजेन्द्रनाथ जी चिर स्मरणीय रहेंगे। आज भी गुरुकुल श्रीमद्दयानन्द वेद विद्यालय बहुत अच्छी स्थिति में है और उसे उन्हीं की शिष्य परम्परा में आचार्य हरिदेव जी ने ठीक से संभाला हुआ है। प्रायः सभी प्रदेशों के विद्यार्थी यहां प्रवेश लेते हैं। विश्वविद्यालय की परीक्षाओं में वे स्वर्ण पदक अर्जित करते हैं। यहाँ से निकल कर बहुत से योग्य स्नातक आज भी महर्षि दयानन्द के कार्य को पूरा करने में जुटे हुए हैं।

आर्ष-पाठविधि के गुरुकुलों की एक विशिष्ट धारा को प्रवाहित करने का श्रेय पूज्यपाद आचार्य जी को ही जाता है। उनकी कृपा से बालकों के ही नहीं बालिकाओं के भी अनेक गुरुकुल आर्ष पद्धति को अपना कर सफलतापूर्वक शिक्षा का प्रसार कर रहे हैं। उदाहरण के लिए – चित्तौड़, दाधिया, रिवाड़ी (महेन्द्रगढ़), नरेला, सिद्दीपुर लोआ (रोहतक) आदि अनेक स्थानों पर कन्याओं के गुरुकुल आर्ष पाठविधि को स्वीकार कर ही प्रशस्य हुए हैं। यहां के आचार्य और अध्यापक गण दयानन्द वेद विद्यालय अथवा इससे सम्बद्ध संस्थाओं से आये हुए स्नातक गण ही हैं।

'केन्द्रीय संस्कृत-संस्थान' की योजना थी कि सभी गुरुकुल उन्हीं को शिक्षा-पद्धति को अपना कर उनके अन्तर्गत आ जाएं। सरकार की परामर्श-दात्री समिति' का मैं भी सदस्य था। प्रकाशवीर जी शास्त्री और पं० रघुवीरसिंह शास्त्री भी उसमें थे। हमारे सामने एक ऐसा सुझाव आया कि 'छोटे-छोटे अनेक गुरुकुल हैं, उनकी सहायता बन्द कर दी जाए।' किन्तु इसका विरोध हुआ। शिक्षा मन्त्रालय की एक देवी...ने बताया "कि यह तो सहायता थी ही गुरुकुलों के लिए, आप उन्हें बन्द करा के किसके लिए सहायता सुनिश्चित करना चाहते हैं ?" फिर तो प्रो० शेरसिंह जी ने कमान संभाल ली और हमारे जैसे अनेक गुरुकुलों को मान्यता और वित्तीय सहायता भी दिलवाई। जैसे कन्या गुरुकुल देहरादून को अवधि बीत जाने पर भी चालीस हजार की सहायता उपलब्ध कराई। इस प्रकार, आचार्य श्री द्वारा लगाया हुआ आर्ष पाठविधि का पौधा खूब फल-फूल रहा है, उसकी सुगन्धि सब ओर फैल रही है।

आर्ष पाठविधि की सेवा में आचार्य जी ने अपना पूरा यौवन उत्सर्ग

कर दिया। गुरुकुल से अपने लिए उन्होंने कोई लाभ लेने का यत्न नहीं किया। फिर भी, ईर्ष्यालु, द्वेष करने वाले, छोटे हृदय के कुछ लोग होते हैं, जो स्वयं तो कुछ कर नहीं पाते, दूसरा कोई करे तो उसे देखकर जलते हैं। मैंने तो अपने शिक्षाकाल में देखा है कि उनका भोजन भी अपने घर से आता था, या वे घर से ही भोजन करके आते थे। मैं तो समझता हूं कि कोई खाकर भी सेवा कर दे तो बहुत बड़ी बात है। परन्तु उन्होंने तो खाया घर से, और सेवा गुरुकुल की की। कीचड़ फेंकने वालों की बात सुनने की कोई आवश्यकता नहीं है।

आचार्य जी का स्नेह मेरे प्रति बहुत विशेष था। एक बार मैं कुछ रुग्ण हो गया, तो मुझे शिथिल देखकर बोले—'अरे, मैं तो समझता था कि जैसे विरजानन्द को एक शिष्य मिल गया वैसे मुझे एक दयानन्द मिल गया है।" और यह कहते हुए उनकी आंखों में आंसू आ गये। कभी घर वालों से अनबन के कारण मुझे घी दूध का अभाव अनुभव न हो इसके लिए उनके पिता श्री मा० प्यारेलाल जी ने मुझे कह रखा था कि "जो चाहिए बता देना, तंगी मत पाना।" ऐसे स्नेह के पीछे आचार्य जी का ही पितृ-हस्त था। मैं गुरुकुल से कहीं और भी चला गया तो भी उन्होंने कभी इस स्नेह-तन्तु को टूटने नहीं दिया। उनकी उग्रता असत्य और अन्याय के विरुद्ध थी। हम छात्र तो उनकी सरल निश्छल स्नेह की छाया सदा पाते थे।

योगी का आत्मचरित्र :

'स्वामी सच्चिदानन्द योगी' द्वारा सम्पादित 'योगी का आत्मचरित्र" पुस्तक को मैंने स्वयं बहुत ध्यान से पढ़ा है, और उसका प्रचार भी खूब किया है। जब कई विद्वान् लेखक उसका विरोध कर रहे थे, तब भी मैंने उसका समर्थन और प्रचार किया। इस ग्रन्थ को पढ़ने से कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं जिसकी श्रद्धा और आस्था स्वामी दयानन्द के प्रति बढ़ी न हो। किसी घटना-विशेष के प्रति विद्वानों में मतभेद हो सकता है, किन्तु उस सारी जीवनी में मुझे कोई भी बात झूठी या कपोल-कल्पित दिखाई नहीं देती। मुझे वे घटनाएं यथार्थ प्रतीत होती हैं। उनसे स्वामी दयानन्द की महिमा बढ़ी है, घटी नहीं।

पूज्य स्वामी सच्चिदानन्द जी ने बड़ा पवित्र कार्य किया जो इस जीवनी को पुस्तकाकार छपवा दिया। मैं तो उनके उत्तराधिकारियों को भी प्रेरणा करता हूं कि ऋषि का यह 'अपना जन्मचरित्र' छपता रहना चाहिए। दुनिया की आदत ही कुछ ऐसी है। गाड़ी चलती रहती है, पर

भौंकने वाले रुकते थोड़े ही हैं। यह कार्य भी रुकना नहीं चाहिए। आगे बढ़ते रहना आवश्यक है।

सच्चे योग का मार्गदर्शन :

योग के नाम पर जो ढोंग और पाखण्ड चलता है, उसे मिटाने के लिए उन्होंने सच्चे योग को बताने वाली छोटी-छोटी पुस्तकें भी तैयार की हैं। योगसार, ओ३म् मन्त्र-साधना, पातञ्जल योग-साधना आदि। स्वामी जी केवल प्रामाणिक ग्रन्थ योगदर्शन को ही आधार मानकर योग का प्रशिक्षण देते हैं। ऋषि दयानन्द ने स्वयं प्राचीन योग की व्याख्या अपनी जिस जीवनी में की, उसी 'योगी का आत्मचरित्र' से भो स्वामी जी ने अपने साधकों को मार्गदर्शन दिया है। इस प्रकार स्वामी जी का योग-मार्ग प्राचीन ऋषियों का बताया हुआ वही साधना पथ है जिस पर ऋषि दयानन्द भी स्वयं चले थे। इसीलिए वह केवल बहिरंग नहीं, अन्तरंग भी हैं। उसमें स्वीकृत प्रणव जप का आधार स्वयं पातञ्जल योग-सूत्र है— **'तज्जपस्तदर्थ-भावनम्'**। यही सीधा सरल मार्ग है जो धारणा, ध्यान बन कर समाधि तक पहुंचाता है।

महर्षि का जीवन चरित्र प्रकाशित कर और योग साहित्य लिखकर स्वामी जी का व्यक्तित्व और निखरा है। उनके द्वारा अन्वेषित योग-साधना उनकी शिष्य-परम्परा द्वारा आगे बढ़ाई जा रही है। स्वामी दिव्यानन्द जी सरस्वती स्थान-स्थान पर योगशिविर लगाकर उसी आर्ष-योग के प्रति श्रद्धा और आस्था का जन-जन में संचार करते घूमते रहते हैं।

उज्ज्वल और प्रेरणाप्रद जीवन :

स्वामी सच्चिदानन्द जी के अभिनन्दन के रूप में जो धन उन्हें भेंट किया जाए, वह उनके साहित्य के प्रकाशन में लगे, ऐसी मेरी भावना है। उनका पूरा जीवन चरित्र भी विस्तार से लिखा जाना चाहिए। आने वाली पीढ़ी को इससे प्रेरणा और उत्साह प्राप्त होगा। किस प्रकार गृहस्थी होते हुए भी एक व्यक्ति 'आर्ष-पाठविधि' का पुनरुद्धार करने में अपना सर्वस्व लगा देता है, और फिर समय आने पर गृहस्थ से उपराम होकर संन्यास लेकर योग के क्रियात्मक प्रचार में जीवन अर्पित कर देता है, यह कोई सामान्य बात नहीं है। कह देना आसान है, किन्तु घर-बार छोड़कर सभी सुखों को तिलाञ्जलि देकर दूर-दूर प्रदेशों में जा-जाकर, योग का प्रचार करना, आश्रम बनाना, शिक्षा देना, पुस्तकें लिखना और छपवाना

यह बहुत बड़ा काम है। उनके उज्ज्वल जीवन का यह एक दिग्दर्शन मात्र है।

परोपकार की गहरी भावना की प्रेरणा यदि उन्होंने मुझ में न भरी होती तो नहीं जानता मैं कहां पड़ा होता, क्या करता? उन्होंने आग्रह-पूर्वक मुझे विवश कर दिया कि मैं आर्ष-पाठविधि से ही पढ़ूं और सारे काम छोड़कर इसी में लग जाऊं। उनका कहना था कि "आर्ष-पाठविधि से जितना एक वर्ष में ज्ञानोपार्जन किया जा सकता है वह अन्यथा दसियों वर्ष ले सकता है। इसलिए अपने जीवन में दशगुणी सेवा करने के योग्य बन जाओगे।"

इनका स्नेह और प्रेम ऐसा है कि कहना कठिन है। अब भी कभी उनके दर्शनों को हरिद्वार जाता हूं तो बहुत स्नेहपूर्वक भेंट होती है। यहां वेद विद्यालय में भी भेंट होती थी। एक बार मैंने कहा, 'मुझे आशीर्वाद दीजिए।' कहने लगे—"तुझे तो सदा से आशीर्वाद दिया हुआ है। उसी के अनुसार तू अब भी कार्य कर रहा है।"

अब उन्हें गठिया रोग के कारण पैर मोड़ना कठिन हो गया है। तो मैंने कहा—'आपको बहुत कष्ट है। चला तो जाता ही नहीं।' कहने लगे—"भोग है अपना-अपना। अच्छा है, जितनी जल्दी भुगत जाए।" सचमुच उनका ईश्वर-विश्वास बहुत गहरा है। उनका व्यक्तित्व बहुत ऊंचा है, जो सभी के लिए अनुकरणीय है। सदा उन्होंने निष्काम भाव से सेवा की है। अब भी जितना बन पड़ता है, योग के विषय में मार्गदर्शन के लिए वे सदा तैयार रहते हैं।

जीवन का अन्तिम लक्ष्य है मोक्ष की प्राप्ति। उस तक पहुंचने के लिए पूज्य आचार्य जी ने प्राचीन योगमार्ग को क्रियात्मक रूप में अपनाया है। वे केवल शास्त्रीय सिद्धान्तों तक सीमित नहीं रहे। ज्वालापुर में योग-धाम और हैदराबाद में 'योगमठ' आदि आश्रमों की स्थापना कर योग साधना करने-कराने में लग गये। दक्षिण में मेरा 'लातूर' जाना हुआ तो वहां भी उनकी क्रियात्मक ध्यान-पद्धति की प्रशंसा सुनी। आर्ष योग विद्या की क्रियात्मक शिक्षा देने में वे 'आधुनिक पतञ्जलि' कहे जा सकते हैं। वस्तुतः हमारे पास इतनी शब्द-सामर्थ्य नहीं जो उनकी गुण-गरिमा का ठीक-ठीक वर्णन कर सकें। उनके गुण, कर्म, स्वभाव महापुरुषों जैसे हैं। हमारी वाणी उनका बखान नहीं कर सकती। जितना भी हम कहें, वह थोड़ा ही होगा।

□

शास्त्री से योगी तक का साधना-पथ

—महात्मा आर्यभिक्षु*

स्वामी सच्चिदानन्द जी महाराज का आर्यजगत् में एक विशिष्ट स्थान है। जहां उन्होंने आर्यसमाज के क्रिया-कलापों गुरुकुलीय शिक्षा-पद्धति, मतमतान्तरों के आचार्यों से शास्त्रार्थ, शुद्धि-आन्दोलन इत्यादि में अपने यौवन काल में बढ़-चढ़ कर ही काम किया और एक नया कीर्तिमान स्थापित किया, वहीं साधना जगत् में भी आपने एक नवीन क्रान्तिकारी एवम् अभूतपूर्व आन्दोलन का शुभारम्भ किया। इसके फलस्वरूप कितने ही युवक नैष्ठिक ब्रह्मचारी बन कर इस आन्दोलन में सामने आए। इतना ही नहीं, अपितु सर्वथा समर्पित जीवन वाले लोगों का तो जमघट ही लग गया। उनके ही शिष्य स्वामी दिव्यानन्द का उन में स्थान प्रमुख है, जो आप के द्वारा स्थापित पातञ्जल योगधाम ज्वालापुर (हरिद्वार) का सफल सञ्चालन कर रहे हैं। उनका यह यौगिक चमत्कार ही है जो संन्यास में दीक्षित होने पर अपने "सच्चिदानन्द" नाम को सार्थक कर दिया।

उनकी शिष्य मण्डली में स्वामी ओमानन्द जी गुरुकुल झज्झर वाले, स्वामी भजनानन्द जी रामगढ़ वाले तथा स्वामी ब्रह्मानन्द जी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। गुरुकुल गौतम नगर दिल्ली, एवम् गुरुकुल खेड़ा खुर्द दिल्ली, उनके सफल प्रयास के प्रमाण हैं, जिन में अनेक छात्र वैदिक वाङ्मय की विशुद्ध शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। जो तपस्या आपने यौवन के काल में इन संस्थाओं के निर्माण एवं संचालन में पं० राजेन्द्रनाथ शास्त्री के रूप में की थी, वह अब फलवती हो रही है।

दार्शनिक क्षेत्र में भी आपकी एक अद्भुत देन है, जिसका सम्पूर्ण आर्यजगत् सदैव ऋणी रहेगा। वह है आपकी आदि शंकराचार्य जी महाराज के दो ग्रन्थों, 'वेदान्त-भाष्य' और 'योगभाष्य-विवरण' की समालोचना। इस में आप के पाण्डित्य और पैनी सूझबूझ का साक्षात्कार होता है। आपकी इस समालोचना में सम्पूर्ण धार्मिक जगत् में एक नवीन चिंतन

* आर्य वानप्रस्थ आश्रम, आर्यनगर, हरिद्वार, उ०प्र०

का प्रादुर्भाव हुआ था। जनता के सामने शंकर का शुद्ध स्वरूप एवम् मन्तव्य खुल कर प्रकट हुआ। इस समालोचना को पढ़ कर मैं स्वयं चकित रह गया था। तभी मैं इस निश्चय पर पहुँचा कि श्री शंकराचार्य भी वेद-विहित आचरण-संहिता के ही सर्वथा पोषक और प्रशंसक रहे। साथ ही उन्होंने ब्रह्म जीव तथा प्रकृति तीनों की स्वतन्त्र सत्ता को भी स्वीकार किया था, जिस से उनकी वेदों के प्रति अगाध एवम् अटूट श्रद्धा का परिचय मिलता है।

इस प्रसंग में एक और तथ्य भी उल्लेखनीय है, वह है शंकर का अपना पृथक् तर्क मुक्त उद्बोधन। इस दिशा में महर्षि दयानन्द ने ठीक ही लिखा है। **'एकम् ब्रह्म द्वितीयं नास्ति'** का यह शब्दार्थ नहीं कि ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई सत्ता है ही नहीं। अपितु इसका शुद्ध एवम् स्पष्ट भाव यह है कि ब्रह्म जैसी दूसरी कोई सत्ता नहीं है। इस पर विशेष जानकारी के लिए महर्षि का क्रान्तिकारी ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' पढ़ें।

स्वामी सच्चिदानन्द जी योग-जगत् में देश भर में अनेक साधक एवम् साधिकाओं को दृढ़ आधार दे सके जो आज अपने अपने क्षेत्र में उन के मार्ग दर्शन से कार्य में जुटे हुए हैं। दक्षिण भारत में सुश्री निर्मला जी को आपने नैष्ठिक ब्रह्मचर्य तथा संन्यास की दीक्षा देकर इसी योगमार्ग पर आरूढ़ कर के एक अद्भुत साहस एवम् अभूतपूर्व चिन्तन को सार्थक किया है। इस से साधना जगत् में भी, पुरुषों के समान ही महिलाओं में भी योग के प्रति निष्ठा जागृत हुई है।

हम उनके पवित्र अभिनन्दन के अवसर पर उन्हें शतशः नमन करते हैं।
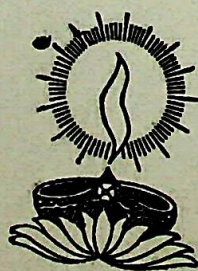
जैसा मैंने उन्हें जाना

—श्री भूपसिंह गुप्त*

आचार्य राजेन्द्रनाथ जी से मेरा समीप का सम्पर्क रहा है। मैं लोधी कालोनी नई दिल्ली में रहता था, जहां उनका भी निवास स्थान था। मैंने पाया कि आचार्य जी एक असाधारण व्यक्ति हैं। प्रायः मनुष्य सांस ले-ले कर यों ही जीवन बिता देता है, और जीवन का सदुपयोग नहीं करता। आचार्य जी ने जीवन के आरम्भ में ही आर्ष गुरुकुल पद्धति का और आगे चल कर पातञ्जल योग के प्रचार का संकल्प लिया। इस संकल्प के कारण उन्होंने अनेक कष्ट उठाए और महान् त्याग किया। उनमें उच्च-कोटि का उत्साह व धैर्य है। वे कभी निराशा को स्थान नहीं देते। श्रीमद्दयानन्द वेद विद्यालय में मैं भी एक ट्रस्टी था। कितनी ही बार रात के बारह-बारह बजे तक बैठकें चलती थीं। बाजार में धन संग्रह होता था और नई नई योजनाएँ बनती थीं।

गुरुकुल को उन्होंने अपने रक्त से सींचा, परन्तु उस में मोह और आसक्ति नहीं रखी। एक विद्वान् ने भरोसा दिलाया कि वे गुरुकुल को सम्भाल लेंगे। उसे ही गुरुकुल सौंप दिया। यह उनके हृदय की अद्वितीय उदारता थी। जब गुरुकुल के पास की जमीन पर सिनेमाघर बनाने की बात चली तो बड़ी चिन्ता हुई कि सारा वातावरण खराब हो जाएगा, इस-लिए इसे किसी प्रकार रोका जाये। प्रयत्न कर-कर के बाबू जगजीवनराम को गुरुकुल में लाया गया परन्तु, बाबू जी ने सिनेमा को मनोरंजन की वस्तु बताकर उसे रोकना उचित नहीं बताया। बड़ी घोर निराशा हुई।

मुझे मालम नहीं था कि उन्होंने संन्यास ले लिया है। एक दिन लोधी कालोनी के मार्किट में उन्होंने मुझे पीछे से छिपकर पकड़ लिया। मैंने पीछे देखा कि कोई बाबा जी भगवा वस्त्र पहने मुझे पकड़े हुए हैं। मुझे आश्चर्य हुआ। आचार्य जी जब खिलखिलाकर हँस पड़े, तब मुझे विदित हुआ कि वे जीवन की एक और ऊंची सीढ़ी चढ़ गये हैं। उनका

* पूर्व अवर-सचिव (अण्डर-सेक्रेटरी), शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, डी-२५४, सर्वोदय एन्क्लेव, नई दिल्ली-१७

ऐसा सरल और विनोदी स्वभाव सभी को मोह लेता है।

आचार्य जी उच्चकोटि के विद्वान् तो हैं ही समय-समय पर आर्य-समाजों के सत्संगों-उत्सवों में उनके प्रभावशाली भाषण भी होते रहे हैं। बहुत दिनों तक मैं आर्यसमाज लोधी रोड (जोरबाग) नई दिल्ली का मन्त्री रहा। तब हमारी समाज पर उनकी महती कृपा रहती थी।

आर्ष गुरुकुल पद्धति के प्रचार-प्रसार के कार्य में उन्हें बड़ी ख्याति मिली। स्वामी ओमानन्द जी जैसे शिष्य उनके गुरुकुल से निकले। इसके पश्चात् योगाभ्यास में रुचि हो जाने से उन्होंने पातञ्जल योग साधना का कार्य हाथ में लिया और स्वयं योग साधना की। जहां-जहां सम्भव हुआ, वहां उन्होंने योग प्रचार का कार्य चलाया।

उन्होंने अपने सुपुत्र वेदव्रत का विवाह जिस रीति से किया वह स्मरणीय रहेगा। वास्तव में यह एक बृहद् यज्ञ था, और उपस्थिति बहुत थी। जनता में इस समारोह से बड़ा प्रभाव पड़ा। विवाह में अधिक ध्यान सजावट और खाने पीने पर होता है, परन्तु यहां संस्कार मुख्य था, और साथ-साथ संस्कार की व्याख्या भी हो रही थी। यह एक योग्य वर और योग्य वधू का आत्मिक सम्बन्ध हुआ।

यह बताना आवश्यक है कि आचार्य जी को इतना ऊंचा उठने का अवसर देने वाली उनकी धर्मपत्नी है। घर का सारा भार उन्होंने अपने कंधों पर उठाया। आचार्य जी ने तो केवल लुटाना ही जाना है, कमाना नहीं। ईश्वर कृपा से उन्हें वेदव्रत जैसा सुपुत्र मिल गया, जो आचार्य जी के कार्य को आगे ले जाने के लिये प्रयत्नशील रहता है। **"जनया दिव्यं जनम्"**। आजकल के वातावरण में योग्य सन्तान का निर्माण भी एक महान् कार्य है, जिसका श्रेय माता-पिता दोनों को ही है।

बलिदानी आस्था की प्रतीक एक उन्नत आत्मा

—आचार्य वीरभद्र शास्त्री*

विश्व वन्दनीय भारत भूमि ने अनेक ऐसे महान् पुरुषों को जन्म दिया है जिनके यश: प्रकाश से सारा संसार आलोकित हुआ है। बहुत से ऐसे झिलमिलाते तारे भी हैं जिनका प्रकाश भले ही सूर्य-चन्द्र के समान प्रखर रूप से न फैलता हो, परन्तु वह सौम्य रूप से संसार को सुशोभित अवश्य कर जाता है। ऐसे ही नक्षत्रों में हैं आचार्य राजेन्द्रनाथ शास्त्री, जिन्होंने अपने ज्ञान, तप और त्याग से हमारे समाज को प्रभावित किया। मैं तो एक साधारण अबोध बालक था, जो इस आत्मदानी पुरुष का अपने विद्यार्थी जीवन में पूर्ण आकलन नहीं कर सका। ज्यों-ज्यों कुछ बड़ा हुआ, आचार्य जी के सान्निध्य में रह कर कुछ वर्ष संस्कृताध्ययन किया, तथा आगे चलकर जीवन के अनेक उतार चढ़ावों का अनुभव किया तो ज्ञात हुआ कि वास्तव में आचार्य जी के भौतिक शरीर में एक महान् पुण्यात्मा का वास है। पता नहीं, किस युग के किस परम पुरुष ने आचार्य जी के रूप में जन्म लिया होगा। उनकी आत्मा के साथ उनके पवित्र संस्कार भी आये थे "**वायुर्गन्धानिवाशयात्।**"

अनेक स्कूलों कालेजों और गुरुकुलों से अनेक छात्र अध्ययन कर के निकलते हैं, परन्तु अधिकतर सामान्य जीवन व्यतीत करते हुए भौतिक जीवन में रोटी, कपड़ा और मकान के फेर में पड़कर खो से जाते हैं। लाखों में कुछ ही ऐसे होते हैं जो विशेष उद्देश्य या आस्था लेकर चलते हैं और उसकी पूर्ति में सारा जीवन समर्पित कर देते हैं। ऐसे ही संकल्प के धनी और गहरी आस्था वाले मनुष्यों में थे आचार्य राजेन्द्रनाथ शास्त्री अपनी आस्था को मूर्तरूप देने के लिए, स्वामी दयानन्द के सन्देश को सम्पूर्ण समाज तक पहुंचाने के लिए, तथा मुख्य रूप में आर्ष पाठविधि का प्रचार करने के लिए उन्होंने केवल छ: आने की सामग्री लेकर एक

---

* प्रवर संस्कृत अध्यापक, राज० उच्च० माध्यमिक विद्यालय, अलीपुर, दिल्ली-३६

संकल्प यज्ञ आरम्भ किया और संकल्प "दयानन्द वेद विद्यालय" के रूप में साकार हुआ।

द्वितीय विश्वयुद्ध की विभीषिका से त्रस्त होकर मैं ग्राम बुकलाना (जि० मेरठ) में पहुंचा। तब गुरुकुल दिल्ली में यूसुफसराय में स्थित था, पर हवाई अड्डे के अति निकट होने के कारण बहुत बम वर्षा की आशंका रहती थी। ऐसे कठिन समय में विद्यालय समस्त छात्रों सहित बुकलाना पहुंचा। वहां एक धार्मिक गुर्जर चौधरी अहोराम सिंह ने गुरुकुल को कई बीघा जमीन दी। यह सुन्दर रमणीय नहर का तट है। नहर गंग नहर की एक शाखा है जो सारे क्षेत्र को हराभरा रखती है। यहां विद्यालय के अच्छे भवन तो नहीं बन सके, परन्तु अध्ययन-अध्यापन सतत चलता रहा। विश्वयुद्ध समाप्त हुआ तो विद्यालय पुनः दिल्ली वापस आ गया, परन्तु बुकलाना गुरुकुल भी वेद विद्यालय की एक शाखा के रूप में चलता रहा। मुझे एक अच्छा विद्यार्थी मानकर दिल्ली में पढ़ने की अनुमति मिल गई। आचार्य जी ने एक और गुरुकुल शाखा खेड़ा खुर्द में स्थापित की। यह स्थान भी प्रकृति की गोद में नहर के रमणीय तट पर ही विद्यमान है। आचार्य जी ने अपने ही एक शिष्य आचार्य भगवान देव को गुरुकुल झज्झर में भी आर्ष पाठविधि चलाने की प्रेरणा दी, तथा एक शिष्य श्री रुद्रदेव को गुरुकुल वार्शी के लिए हैदराबाद भेजा। इस प्रकार महर्षि के कार्य को आगे बढ़ाने में वे निरन्तर लगे रहे।

ऋषि दयानन्द के सन्देश को देश के कोने-कोने तक पहुँचाने के लिए उन्होंने एक अति सुन्दर मासिक पत्रिका दयानन्द सन्देश के प्रकाशन का भी शुभारम्भ किया। पत्रिका धन के अभाव में लड़खड़ाती चल रही थी, परन्तु वह अति उत्तम पत्रिका थी जिस में आचार्य जी के लेख विशेष प्रेरणादायक होते थे। सच कहें तो यह एक क्रान्तिकारी पत्रिका थी, जो जनता को राष्ट्रीयता, स्वतन्त्रता व अध्यात्म का सन्देश देती थी। इसके कई विशेषांकों की तो ऐसी धूम रही कि आज भी लोग उन्हें याद करते हैं।

आचार्य जी की गृहस्थी भी अपनी अध्यापिका पत्नी के सहारे चल रही थी। धन्य है ऐसी धर्मपत्नी जिसने पति के उद्देश्य-पूर्ति के लिए उन का पूर्ण साथ दिया और सदा त्यागमय जीवन व्यतीत करती रही। पति से धन-प्राप्ति की अभिलाषा कभी नहीं रखी।

आचार्य जी ने प्रकाशन के माध्यम से ही दयानन्द के विचारों का

प्रचार करने के उद्देश्य से एक प्रेस की स्थापना भी की, परन्तु धनाभाव के कारण उन्हें सफलता नहीं मिली। प्रेस चलाने के लिए उन्होंने अपनी पत्नी के गहने तक बेच दिये थे। इस प्रकार अनेकानेक संघर्षों का सामना करते हुए कब वैराग्य ने उनकी आत्मा को अपने में समेट लिया, यह ज्ञात भी नहीं हो सका। मैं स्वयं भौतिक संसार में खो गया था। अनेक परीक्षाएँ पास कीं। शास्त्री और आचार्य का उपाधि प्राप्त कर सरकारी नौकरी पर लग गया। गृहस्थी के जाल ने ऐसा जकड़ा कि आजीविका कमाने के अतिरिक्त मैं विशेष कुछ न कर सका।

हम तो अकिंचन हैं। आचार्य जी को भले ही भौतिक दृष्टि से अपार सफलता न मिली हो, परन्तु वे उन क्रान्तिकारी दिव्यात्माओं में हैं जो त्याग और बलिदान के कारण सदा याद किये जाते रहेंगे।

गृहस्थ में रहते हुए भी वे योगी थे। जब हम लोग सायं प्रातः संन्ध्या में बैठते तो उन्हें मैं सदा ईश्वर में तल्लीन पाता था। उनका सरल आडम्बरहीन जीवन अनुकरणीय है। ईश्वर में अटूट आस्था ने उन्हें अध्यात्म-मार्ग पर निरन्तर ऊँचा उठाया। योग उनका परम लक्ष्य है। इसी का प्रचार प्रसार वे करना चाहते हैं। इसी आकांक्षा ने उन्हें स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती बना दिया। वे सत् हैं, चित् हैं, और आनन्द रूप हैं। ऐसी उन्नत आत्मा के समक्ष हम नतमस्तक हैं। उनको शतशः प्रणाम।

निन्दन्तु नीतिनिपुणाः यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

नीति निपुण जन निन्दा दें या करें स्तवन,
लक्ष्मी आये या स्वेच्छा से करे गमन।
मरण आज ही हो जाए या अगले युग में,
न्याय्य मार्ग से धीर नहीं करते विचलन॥

योगी जी का वात्सल्य

--स्वामी जगदीश्वरानन्द*

योगीराज ब्रह्मचारो व्यासदेव जी महाराज के योगनिकेतन के साधना-शिविर में आचार्य श्री राजेन्द्रनाथ (सम्प्रति स्वा० सच्चिदानन्द योगी) से परिचय हुआ। मैं भी वहां साधना में गया था।

पुन: दयानन्द वेद विद्यालय में दर्शन किए। तब पूज्य स्वामी जी के पास हैदराबाद की सुश्री कु० निर्मला देवी जी पढ़ रही थीं। तभी परस्पर चर्चा हुई और यौगिक प्राकृतिक चिकित्सा के निमित्त पाँचली आने का विचार हुआ। पूज्य योगी जी के साथ निर्मला जी भी आयीं। योगी जी को घुटनों में दर्द रहता था जिससे चलने में असुविधा होती थी। जिसका कारण था डबल रोटी और दूध जैसी खाद्य वस्तुओं का प्रयोग जिससे पाचन संस्थान में आँव का जमाव हो गया एवं रक्त गाढ़ा हो गया था।

आश्रम में रहते हुए भोजन सुधार वाष्प देने व गर्म ठंडे सेक के प्रयोग से कुछ लाभ अवश्य जान पड़ा। रोग को जड़-मूल से निरस्त करने का हमारा सफल प्रयोग (ब्रह्मास्त्र) था उपवास। वह चलाया तो दो-तीन दिन में ही योगी जी अधिक निर्बलता का अनुभव करने लगे। अत: उपवास बन्द करना पड़ा।

वात्सल्य का प्रथम दर्शन—

तभी मैंने पूज्य योगी जी से प्रार्थना की कि सर्दियों में आप मेरे साथ तुमसर (नागपुर के पास) पधारें। कुछ दिन वहां निवास करें। ऋतु अनुकूल होगी आपके सान्निध्य में कुछ साधना भी हो जाएगी। योगी जी ने अत्यन्त उदारता से मेरी प्रार्थना स्वीकार कर ली। तुमसर में सेठ जी के बाग में रहे। मेरे साथ कुछ अन्य व्यक्तियों ने भी प्रात: सायं कुछ साधनाएं कीं एवं कुछ ने योग-दर्शन का अध्ययन भी किया। तत्पश्चात् हैदराबाद चले गए।

अब से सम्भवत: ५ वर्ष पूर्व की बात होगी। हैदराबाद में कस्तूरबा

* जीवननिर्माण केन्द्र पो० पांचली, मेरठ

ट्रस्ट की ओर से संचालित एक प्राकृतिक केन्द्र में मुझे शिविर लगाने के लिए आमन्त्रित किया गया। जब मैं हैदराबाद से लौटने लगा तब पूज्य योगी जी कुछ मील दूर एकान्त वास कर रहे थे। सोचा योगी जी के दर्शन करता चलूं। शहर से वाहर एकान्त स्थान में कु० निर्मला जी ने सुन्दर आश्रम की रूप-रेखा वनाई हुई थी, जहां योगी जी विराजते थे। जब हम लोग पहुंचे, स्वामी जी बहुत प्रसन्न हुए। जब लौटने की बात चली तब अत्यन्त प्रेम से समझाया कि ऐसे पुनीत अवसर जीवन में बड़े सौभाग्य से प्राप्त होते हैं। मानव के चरम लक्ष्य की ओर जितना बढ़ा जा सके, वढ़ना चाहिए। उनके प्रेम भरे वाक्यों का मन पर इतना प्रभाव पड़ा कि सब कार्यक्रम बदलकर उनके सान्निध्य में रहकर साधना एवं अध्ययन का निश्चय कर लिया। उस समय मुझे उनके अन्तःकरण में निहित वात्सल्य का दर्शन हुआ। निस्सन्देह ऐसे योगि वर मानव मात्र के कल्याण के लिए कितने आतुर होते हैं यह प्रत्यक्ष हो रहा था। प्रभुदेव ऐसे योगिवर मनोषी को दीर्घायुष्य प्रदान करें। उनके द्वारा सतत सात्त्विक आध्यात्मिक प्रवाह बहता रहे।

सज्जना एव साधूनां प्रथयन्ति गुणोत्करम्।
पुष्पाणां सौरभं प्रायस् तनुते दिक्षु मारुतः॥
मान्या एव मान्यानां मानं कुर्वन्ति नेतरे।
शम्भुर्बिभर्ति मूर्ध्नीन्दुं स्वर्भानुस्तं जिघृक्षति॥
गुणानां वा विशालानां सत्काराणां च नित्यशः।
कर्त्तारः सुलभाः लोके विज्ञातारस्तु दुर्लभाः॥

सज्जन ही सन्तों की गुण गरिमा को गाया करते हैं।
पुष्पों का सौरभ भी चहुँ दिश पवन बहाया करते हैं॥
साधारण जन नहीं, मान्य ही मान किया करते मानी का।
राहु बनाता ग्रास जिसे वह चन्द्र शम्भु के सिर का टीका॥
महागुणी या कर्म श्रेष्ठ करने वाले तो मिल जाते हैं।
किन्तु लोक में उसे परख सम्मानित कितने कर पाते हैं॥

संन्यास की दीक्षा से पूर्व एक अनुपम अनुभव

—भजनानन्द सरस्वती*

श्रद्धेय स्वामी जी महाराज की यौगिक क्रियाओं से जो मेरे अन्तः करण पर छाप पड़ी है, वह अमूल्य रत्न की भांति सदा प्रकाशमान रहती है। इसका मैं स्वयं अनुभव कर रहा हूं। इनका तेज व तप, विद्या व विनयशीलता, श्रद्धा भाव व प्रेम किसी से छिपा नहीं है। वैसे तो स्वामी जी ने अनेक साधकों को अपने कर कमलों द्वारा संन्यास की दीक्षा दी है, परन्तु मुझ को इनसे जो संन्यास की दीक्षा मिली, उसका एक अनुपम निजी अनुभव मैं लिखना चाहता हूं।

मुझे अपने संन्यास से पूर्व एक विचित्र अनुभव हुआ। मुजफ्फर नगर जिले के एक ग्राम अमीर नगर के जंगल में मैंने एक कुटिया का निर्माण कराया। वहां साधना करने से मन में पूर्ण वैराग्य उठ रहा था। कुटिया के बाहर आम वृक्ष के नीचे मैं शवासन में लेटा हुआ था। रविवार का दिन था, प्रातःकाल के दस बजे थे। किसी ने आकर के मुझे उठाया और कहा, 'जल्दी चल अत्र समय नहीं है' मैंने कहा, 'कहाँ चलूं? किधर जाऊं?'

अन्तः करण में आवाज आती है कि ज्वालापुर चलो। तब मैं पता करता हुआ योगधाम ज्वालापुर में पहुंचा। परन्तु श्रद्धेय स्वामी जी वहां नहीं थे। कुछ दिन के पश्चात् वे आश्रम में पधारे। उस समय योगधाम में योग-शिविर चल रहा था। उसी शिविर में मुझे स्वामी जी से संन्यास की दीक्षा प्राप्ति का अवसर मिला, जिस का मैं विधिवत् पालन कर रहा हूं। उनके आशीर्वाद के साथ संन्यास दीक्षा ग्रहण करके जो आनन्द मुझे मिल रहा है, उससे मैं कभी उऋण नहीं हो सकता।

इस प्रकार हम जैसे जिज्ञासुओं को संन्यस्त करने के अतिरिक्त श्रद्धेय स्वामी जी ने अनेक पुस्तकों का प्रणयन किया। स्थान-स्थान पर

---

* व्यवस्थापक नारायण स्वामी आश्रम

योग शिविर लगाकर लोगों को प्रभुदर्शन का मार्ग प्रशस्त किया। उन्होंने योगधाम आर्यनगर ज्वालापुर हरिद्वार व नारायण स्वामी आश्रम रामगढ़ तल्ला नैनीताल, हैदराबाद, कलकत्ता आदि स्थानों पर योग-शिविर लगाए सर्वत्र उनके तप का अमिट प्रभाव फैला हुआ है। स्वामी जी महाराज ने अपनी लेखनी द्वारा कठिन तप करके "योगी का आत्म-चरित्र" नामक ग्रन्थ को सम्पादित प्रकाशित कराया तथा योग-शिविरों में अपने प्राणायाम आदि साधना के अनुभव दर्शाये। 'योगसार,' 'ओ३म् स्मरण' आदि पुस्तकों को लिख-लिखकर साधकों का मार्गदर्शन किया। सचमुच उनकी विद्वत्ता और योग-निष्ठता अगाध है।

आपके चिरायु होने की कामना मैं उस सर्वशक्तिमान् परम ब्रह्म से करता हूं और हृदय से उनका अभिनन्दन करता हूं।

श्रीमच्चन्दनवृक्ष ! सन्ति बहवस्ते शाखिनः कानने।
येषां सौरभ-मात्रकं निवसति प्रायेण पुष्पश्रिया।
प्रत्यङ्गं सुकृतेन तेन शुचिना ख्यातः प्रसिद्धात्मना।
यो वै गन्धगुणस्त्वया प्रकटितः क्वासाविह प्रेक्ष्यते ? ॥

हे चन्दन के तरुवर ! यूं तो बहुत वृक्ष हैं इस कानन में।
सीमित है उनकी सुगन्ध पर प्रायः केवल पुष्पानन में।
अंग अंग में बसा हुआ जो शुभ कृत-सूचक शुचि सुखकारी।
वह सौरभ का गुण जो तुम में नहीं दीखता सारे वन में॥

योगी जी मेरी दृष्टि में

रणजीत मुनि 'तन्मय'*
सिद्धांत वाचस्पति, सिद्धांत वागीश, संस्कृत प्रवीण,
एम. ए. संस्कृत, एल. एल. बी.

पूर्वजन्म के संस्कारों के कारण सन् १९५० में महात्मा नारायण स्वामी का 'योगरहस्य' पढ़कर तथा सन् १९५५-५६ के लगभग पं० जयदेव जी कृत सामवेद भाष्य के अध्ययन से मेरी योग की प्रवृत्ति जाग उठी थी। सन् ५० में तो मैंने सारे योगसूत्र कंठस्थ भी कर लिये थे, पर यह प्रवृत्ति अस्थायी रही और कालेज की पढ़ाई तथा सामाजिक व गृहकार्यों में व्यस्तता के कारण कुछ काल में ही समाप्त हो गई।

परन्तु सन् १९७७ के अप्रैल मास में योगधाम में लगने वाले योग-शिविर का विज्ञापन आर्य पत्रों में पढ़कर यह प्रवृत्ति पुनः जागृत हो गई और मैं अपनी पूज्या माता जी सहित शिविर में सम्मिलित हुआ। शिविर में योगी जी की साधना प्रक्रिया और योग-प्रवचनों से इतना प्रभावित हुआ कि जहां पहले मैं १५ मिनट भी साधना में नहीं बैठ पाता था, वहां दो-ढाई घण्टे तक अपने घर जाकर प्रातः सायं दोनों समय बैठने लगा और पर्याप्त ध्यान लगने लगा। पड़ौस के बच्चे भी उस समय शांत रहते थे, यद्यपि सायंकाल उनके खेलने व शोर मचाने का समय होता था। दुर्भाग्य से पूज्या माता जी की जीने पर से गिरकर हड्डी टूट गई। उनकी सेवा में अधिक रहने से घंटा आध घंटा से अधिक फिर नहीं बैठ पाया और उतना ध्यान भी नहीं लगा पाया। पर ये योगी जी के उस अनुपम आत्मबल या योग बल का आकर्षण ही था कि सन् १९८२ में माता जी के देहांत के पश्चात् श्री योगेन्द्र जी पुरुषार्थी (अब स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती) के केवल एक बार कहने पर ही मैं सहारनपुर का मकान बेचकर योगधाम में आ गया।

योगी की कृतज्ञता

वीर बहादुर के आने से पूर्व आश्रम के मुख्य लोगों के तपोवन के शिविर

---

* योगधाम ज्वालापुर (हरद्वार) २४९४०७

में चले जाने पर वर्तमान रुग्णावस्था में एक दो दिन मैंने योगी जी को पानी गर्म करके स्नान करा दिया तथा दूध गर्म करके पिला दिया। बस इतनी-सी तुच्छ सेवा का भी योगी जी ने निर्मला जी योग भारती द्वारा व्यास पूजा के दिन अपने अभिनन्दन के समय गद्गद स्वर में सस्नेह अपने भाषण में उल्लेख किया तथा पीछे भी १-२ बार स्वामी दिव्यानन्द जी से कहा कि भाई मुनि जी बहुत अच्छे आदमी हैं। इत्यादि।

योगी की गुणग्राहकता

योगी जी ने 'योगी का आत्मचरित्र' पुस्तक में संप्रज्ञात योग के अंशों को एक पृथक् पुस्तक के रूप में छपवाने के लिए लिखने की इच्छा प्रकट की। मेरा सौभाग्य है कि उनके स्वयं लिख पाने में असमर्थ होने से यह काम करने का आदेश उन्होंने मुझे ही दिया और मैंने उनके निदेशन में उसे सुचारु रूप से सम्पन्न किया।

अनुपम सहनशीलता

वर्षों से घुटनों के रोग के कारण शय्या पर ही पड़े रहने पर भी स्वामी जी को कभी दुःखी होते नहीं देखा। जब भी कोई कहता, आप हंसते हुए कहते—(भाई दुःख काहे का ? यह तो भोग हैं। भोगने ही हैं। और सदा शान्त व प्रसन्न रहते हैं। यह उनके योग बल का ही प्रभाव है, अन्यथा किसी और दिनरात बैठ कर साधना करने वाले और लिखने पढ़ने वाले की यह दशा होती तो वह टूट जाता। स्वयं भी दुःखी रहता और अन्य परिचारक आदि को भी दुखी करता। पर योगी जी के माथे पर बल तक पड़ा कभी नहीं देखा। अन्य भी कोई उनके कारण दुःखी नहीं। मैं इसको उनके ईश्वर प्रणिधान (ईश्वर को पूर्ण समर्पण) भाव का ही परिणाम मानता हूं।

आर्ष साहित्य के प्रबल समर्थक

योगी जी ने अपनी युवावस्था में भी ऋषि दयानन्द के सिद्धान्तों व मान्यताओं के विरुद्ध किसी व्यक्ति या संस्था से कभी समझौता नहीं किया। इसीलिए कट्टर दयानन्दी वर्ग के आर्य विद्वानों में आपकी ख्याति थी। आज भी योगधाम के दैनिक और सामूहिक सत्संग में भी आर्ष-साहित्य का ही पाठ किये जाने पर वे जोर देते रहते हैं विशेषतः ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों व व्यास भाष्य सहित पातञ्जल योगदर्शन के अध्ययन पर।

पातंजल योग अनन्य प्रचारक

मेरे विचार में यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि महाभारत के पश्चात् या कम से कम आदि शंकराचार्य के पश्चात् पातंजल योग का इतना प्रबल समर्थक व प्रचारक और दूसरा नहीं हुआ। आपने पातंजल योग की दयानन्द सम्मत मान्यताओं के सम्बन्ध में अपने गुरु स्वामी योगेश्वरानन्द तक के विरोध की भी परवाह न करके पृथक् आश्रम स्थापित करके, योग का, योग-शिविरों व साहित्य के माध्यम से दूर-दूर तक अपने ही ढंग से सफल प्रचार किया है जिसका अब उनके सुयोग्य शिष्य स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती विस्तार कर रहे हैं।

योगी का साहित्य

योगी जो ने 'योगी का आत्मचरित्र' 'योगसार' 'पातंजल योग साधना' 'ओ३म् स्मरण,' 'कठोपनिषद् शांकरभाष्य की टीका' आदि विपुल योग साहित्य हिन्दी में, 'Real path of yoga', अंग्रेजी में लिखा है जिनकी सर्वाधिक मांग रही है। 'योगी का आत्मचरित्र' जिसमें आपने कलकत्ता व बड़े कष्टों से काल भैरवादि स्थानों की यात्रा करके पूरी खोज के पश्चात् बड़े पुष्ट प्रमाणों सहित तथ्य अंकित किये हैं, वे आपके लेखन व संपादन की अमर कृति हैं। यह पुस्तक भाषा की सरलता, प्रसाद गुण, आकर्षण, मनोरंजन, योगक्रियाओं व योग साधना के शिक्षण व प्रभाव की दृष्टि से इतनी उत्तम बनी है कि महंगी होने पर भी वह शीघ्र ही अप्राप्य हो गई और अब भी उसकी भारी मांग है।

योगधाम और योगी की अभिलाषा

स्वामी सच्चिदानन्द जी योगधाम को सच्चे योगियों का गढ़ बनाने पर सदा जोर देते रहे हैं। यही उनकी एक मात्र चिन्ता है और यही एक मात्र आंतरिक अभिलाषा। स्वास्थ्य की चिन्ता नहीं पर योगधाम की है। तदर्थ वह स्वामी दिव्यानन्द जी को सदा कहते रहते हैं कि 'घूमना छोड़कर यहीं बैठो, तथा योगसिद्धियां प्राप्त करके उनका प्रकाश फैलाओ। ऋषि के यजुर्वेद भाष्य में तो 'सौ सिर वाला योगी' आदि कई सौ सिद्धियों व विभूतियों का उल्लेख है, पर कोई देखे, पढ़े, करे तब न। पर अभी तो योगदर्शन के विभूतिपाद की सिद्धियों को ही प्राप्त करने का कोई यत्न नहीं करता, भाष्य की तो कौन करेगा। पैसे की चिन्ता न करो। प्रभु को पूर्ण समर्पण करने वाले योगी के पास तो पैसा तथा शिक्षा लेने वाले सच्चे भक्त अपने आप पर्याप्त रूप से खिंच कर आ जाते हैं। अतः बैठो और इसका

चमत्कारी प्रभाव देखो।'

अन्त में परम पिता ओ३म् से यही हार्दिक प्रार्थना है कि वे गुरुवर, पूज्यपाद योगिराज स्वामी सच्चिदानन्द योगी जी को शताधिक वर्षों तक पूर्ण स्वस्थ रखें ताकि वे युगों से भ्रमित व संतप्त मानव को अपनी कल्याणी वाणी और लेखनी के द्वारा सच्चे योगामृत का पान करा सकें और सच्ची शान्ति प्रदान कर सकें। साथ ही हम जैसे उनके भक्तों, साधकों एवं मुख्यतः योगधाम वासियों को ऐसा सामर्थ्य दें कि हम लोग योगधाम को सच्चे अर्थों में 'योगधाम — योगी के स्वप्नों का योगधाम' बना सकें। यही इस महापुरुष के प्रति हमारी सच्ची स्मरणांजलि होगी।

किं ब्रूमः सहकार तावकगुणान् अन्यादृशैर् दुर्लभान्।
सौरभ्येण यदध्वगानपि मुहुः प्रीणासि दूरादपि।
त्वं हि श्लाघ्य-जनस्य जीवितमलिव्यूहस्य बन्धुर्मधोः।
सर्वस्वं कुसुमायुधस्य विजयामात्यः पिकानां गुरुः॥

× ×

तीक्ष्णा नारुन्तुदा बुद्धिः कर्म शान्तं प्रतापवान्।
नोपतापी मनः सोष्म, वागेका वाग्मिनः सतः॥

× ×

येषां बुद्धिबलं नास्ति, नास्ति विद्याबलं तथा।
वपुषैव मताः स्थूलास्, ते धराभार-धायकाः॥

निर्लोभी, त्यागी, तपस्वी आचार्य

—वैद्य हरिश्चन्द्र आर्य सिद्धान्त शास्त्री*

आचार्य राजेन्द्रनाथ जी शास्त्री के श्री चरणों में बैठकर आज से ५५ वर्ष पूर्व विद्याध्ययन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। आर्ष पाठ-विधि के प्रचार-प्रसार के लिए अपनी सारी जवानी लगा दी। वैश्य परिवार में जन्म होते हुए भी उन्होंने धन-संचय का प्रयास किञ्चित् मात्र भी नहीं किया। अपनी धुन के वे पक्के रहे।

अपने जीवन का एक-एक क्षण आर्ष पाठविधि के निमित्त लगाया। उन्होंने 'सिद्धान्त कौमुदी' जैसे अनार्ष ग्रन्थों की कमियां निकाल कर, 'सिद्धान्त कौमुदी की अन्त्येष्टि' नामक ग्रन्थ प्रकाशित करवाया। जिसने पौराणिक पण्डितों को भी निरुत्तर कर दिया।

परिवार का भरण पोषण इनके पिता श्री प्यारेलाल जी के वेतन से होता था। वे राजकीय विद्यालय में अध्यापक थे। परिवार बहुत छोटा था। माता जी, पिता जी, आचार्य जी और इनकी धर्मपत्नी एक पुत्र, और एक पुत्री। पिता जी के राजकीय सेवा से निवृत्त होने तक आचार्य जी की धर्मपत्नी माता लीलावती जी कन्या राजकीय विद्यालय में अध्यापिका लग गईं। फिर परिवार का भरण पोषण इनके वेतन से होने लगा।

मूल निवासी नांगलोई ग्राम के थे। पर उन दिनों रहते थे सीताराम बाजार की बेरीं वाली गली में। आचार्य जी विद्यालय का अन्न नहीं खाते थे। एक बार एक महीने के लिए पूज्य आचार्य जी का प्रातःकाल का भोजन लाने का सेवा-कार्य मुझे सौंपा गया। मैं सीताराम बाजार से गुरुकुल में भोजन लाने लगा। तब मुझे आचार्य जी का घर ऋषियों जैसा आश्रम लगता था। परिवार के सदस्य खादी के मोटे श्वेत वस्त्र पहिनते थे। वह सब भी दो आने छह पैसे गज के। माता जी लीलावती जी तो बारा-तेरा आने की साड़ी ही पहनती थीं। घर में पांच-सात बर्तन और एक कनस्तर आटे का होता था। एक हवन कुण्ड दैनिक यज्ञ के लिए। पुस्तकें बहुत होती थीं। बिलकुल सन्तों जैसा जीवन बिताते थे।

---

* सब्जी मण्डी, नारनौल, हरियाणा

मैंने अपने गुरु जी को कभी घी से चुपड़ी हुई रोटी खाते हुए नहीं देखा। क्योंकि जीवन दान तो किया हुआ था गुरुकुल को। अहर्निश गुरुकुल की सेवा में लगे रहते थे। यदि कहीं से दान में घी आ जाता और कोई ब्रह्मचारी कभी उस घी से रोटी चुपड़ भी देता, अथवा आचार्य जी की दाल शाक में घी डाल भी दिया तो गुरु जी उस भोजन को नहीं करते थे और कहते थे—'मैं ब्रह्मचारियों का हक नहीं खाऊंगा। ये सदा अपने घर से आई हुई रूखी-सूखी रोटी ही खाते थे।

लोभ तो इनको छू भी नहीं गया। किसी भी विद्यार्थी से भोजन वस्त्र आदि का शुल्क नहीं लेते थे, पर दानी जन विद्यार्थियों के लिए भोजन वस्त्र आदि स्वयं ही पहुंचा देते थे। ये सब गुरु जी के तप व त्याग का ही फल था।

स्वामी सच्चिदानन्द जी का लगाया हुआ, यह गुरुकुल उनके प्रमुख शिष्य स्वामी ओमानन्द जैसे त्यागी तपस्वी धुन के धनी, अपनी लाखों रुपये की सम्पत्ति देकर नरेला में आर्ष कन्या गुरुकुल चला रहे हैं। इस गुरुकुल की स्नातिकाओं ने भी अनेक कन्या गुरुकुल खोले हैं और आर्ष पाठविधि का निरन्तर प्रचार हो रहा है।

इस समय उनके उत्तराधिकारी आचार्य हरिदेव ने उनके लगाये हुए इस विद्यालय रूपी पौधे को महान् वृक्ष का रूप दे दिया है। आज श्रीमद्-दयानन्द वेद विद्यालय में लगभग दो सौ विद्यार्थी शिक्षा पा रहे हैं, और इसके स्नातकों ने अच्छा यश पाया है। स्वामी ओमानन्द सरस्वती तो गुरुकुल झज्झर को विश्वविद्यालय का रूप देने की भी सोच रहे हैं।

यमुना के निगम बोध घाट पर अंकुरित हुआ यह दयानन्द वेद विद्यालय अब गुरुकुल गौतम नगर के रूप में आचार्य हरिदेव द्वारा निरन्तर सींचा जाकर महावृक्ष के रूप में पुष्पित और फलित होता जा रहा हैं और दिल्ली की आर्य जनता की यह प्रिय संस्था बन गई है। मैं भी इसी गुरुकुल का एक छोटा सा रज:कण हूं, यह सोच सोच कर मन प्रफुल्लित होता है।

—:०:—

धुन का धनी एक महापुरुष

—कल्याण स्वरूप गुप्त*

स्वामी सच्चिदानन्द जी से मेरा सम्पर्क लगभग २० वर्षों से है। गृहस्थी के उत्तरदायित्वों से निवृत्त होकर मैं आर्य वानप्रस्थाश्रम ज्वालापुर आया था। उसी वर्ष महात्मा आनन्द स्वामी जी ने योग का प्रचार व प्रसार करने के लिए गंगा नहर के दायें किनारे पर अपने दो प्लाट अर्थात् ४०० वर्ष गज भूमि स्वामी सच्चिदानन्द जी को दे दी थी। उसी वर्ष "पातञ्जल योग साधक समाज" नाम से एक संस्था रजिस्टर कराई गई और योगधाम नाम से एक छोटे से आश्रम की कल्पना को गई। संस्था का प्रधान स्वामी सच्चिदानन्द जी और मन्त्री मुझे बनाया गया था। कमरों के निर्माण तथा पैसे का हिसाब किताब रखने में मैंने पूर्ण सहयोग दिया। सन् १९८५ तक जो कार्य हुआ उसका विवरण एक पुस्तिका में अलग से छप चुका है। यह भी उल्लेखनीय है कि इन १६ सालों में मैं आर्य वान-प्रस्थाश्रम ज्वालापुर की प्रबन्ध समिति से भी भिन्न-भिन्न अधिकार पदों से जुड़ा रहा और दोनों आश्रमों के संचालन के कार्य में सहयोग देता रहा।

सम्पर्क का दूसरा अवसर भी सन् १९६८-६९ में ही मिल गया। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के साप्ताहिक पत्र "सार्वदेशिक" में महर्षि दयानन्द सरस्वती की अज्ञात जीवनी की क्रमबद्ध लेखमाला लगभग एक साल तक निकलती रही। यह पत्र आश्रम में आता ही था और मुझे ऋषि दयानन्द सरस्वती के विषय में जानने की उत्सुकता सदैव रहती थी। मैंने "सार्वदेशिक" के प्रत्येक अंक से उस जीवनी की प्रति रखनी आरम्भ कर दी थी। इस तरह एक पूरी पुस्तक तैयार हो गई थी। स्वामी सच्चिदानन्द जी भी महर्षि के अनन्य भक्त हैं। उन्हें जब इस "अज्ञात जीवनी" के बारे में विदित हुआ तो उन्होंने उसे एक पुस्तक के रूप में छपवाने का निश्चय किया। आश्रम में से किसी ने उन्हें बता दिया होगा कि सारी जीवनी क्रमशः मेरे पास है। वे मेरे पास आये और मुझ से वह

* पूर्व मन्त्री, आर्य वानप्रस्थ आश्रम, ज्वालापुर
डी-१९, अशोक विहार, नई दिल्ली

जीवनी मांगी। मैं तो स्वयं चाहता ही था कि वह जीवनी छपे। मैंने सहर्ष वह पुस्तक उन्हें दे दी। बाद में उन्होंने "सार्वदेशिक" के कार्यालय से सम्पर्क कर के "सार्वदेशिक" की जो प्रतियां उन्हें मिल सकीं उन्हें एकत्रित कर लिया। इसको छपाने के लिए कुछ अग्रिम धनराशि आश्रमवासियों से एकत्रित कर के मैंने स्वामी जी को दी थी। बाद में **"योगी का आत्म-चरित्र"** नाम से वह पुस्तक छपी तो उसकी बिक्री में भी मैंने स्वामी जी को पूर्ण सहयोग दिया। स्वामी जी का मुझ पर पूर्ण विश्वास था और मैंने उस विश्वास को कभी क्षीण नहीं होने दिया।

इन वर्षों में मुझे कई सज्जनों से यह सुनने को मिला कि "स्वामी सच्चिदानन्द जी" कार्य का आरम्भ तो कर देते हैं परन्तु उसे बीच में छोड़ कर दूसरे कार्य को हाथ में ले लेते हैं। पर वे कार्य को सफलता के शिखर तक नहीं पहुंचाते। उनके आरम्भ किये हुए गुरुकुल गौतमनगर, योगधाम ज्वालापुर और योगाश्रम हैदराबाद इसके उदाहरण हैं। इस में स्वामी जी का साहस, विश्वासी स्वभाव या व्यावहारिकता के अभाव का कितना स्थान है—यह विचारणीय है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रस्तावित ब्रह्मचर्य एवम् वानप्रस्थ आश्रम जनसाधारण के लिए अनिवार्य हैं जिनका काल-प्रभाव से प्रायः लोप हो चुका था। इनका पुनरुद्धार करने के लिए महात्मा मुंशीराम जी (पीछे स्वामी श्रद्धानन्द जी) ने हरिद्वार में गुरुकुल की स्थापना की और महात्मा नारायण स्वामी जी ने हरिद्वार में ही आर्यवानप्रस्थाश्रम का निर्माण किया। गुरुकुल का उद्देश्य वेदों के विद्वान् पैदा करना तथा वानप्रस्थाश्रम का उद्देश्य योगी पैदा करना था। ये दोनों संस्थाएँ अपने उद्देश्यों में कहां तक सफल हुईं, इस पर विचार किया जा सकता है। महर्षि ने संस्कार-विधि में वानप्रस्थ संस्कार प्रकरण में लिखा है—"वानप्रस्थी एकान्त में निवास करे और योगाभ्यास, शास्त्रों का विचार, महात्माओं का संग कर के स्वात्मा और परमात्मा का साक्षात् करने में प्रयत्न किया करे।"

जिस काल के प्रभाव से स्वामी श्रद्धानन्द तथा महात्मा नारायण स्वामी जैसे उच्च कोटि के महापुरुषों द्वारा खोले गए आश्रम अपने मंजिल से भटक गए, उसी काल के प्रभाव से स्वामी सच्चिदानन्द जी सरस्वती द्वारा खोले गए गुरुकुल गौतमनगर और योगधाम आर्यनगर ज्वालापुर भी बच नहीं सके, परन्तु इससे उनके प्रयत्न की अवहेलना नहीं की जा सकती।

महापुरुष कहलाने का अधिकारी कोई व्यक्ति केवल सफलता के आधार पर ही नहीं होता। वह भी महापुरुष कहलाने का अधिकारी है जो समय विपरीत होते हुए भी, मार्ग में आने वाली बाधाओं की चिन्ता न कर के उस कार्य को आरम्भ कर देता है जिसे वह देश जाति व धर्म के लिए आवश्यक समझता है। ब्रह्मचर्य एवम् वानप्रस्थ आश्रमों के पुनरुद्धार में स्वामी सच्चिदानन्द जी का प्रयत्न सराहनीय है। इसी अर्थ में मैं उन्हें महापुरुष मानता हूं।

स्वामी सच्चिदानन्द जी "योगो" के नाम से विख्यात हैं। मैं इतना अवश्य जानता हूँ कि स्वामी सच्चिदानन्द जी का एक ही ध्येय बन चुका है 'योग साधना'। और उनकी इस एकाग्रता और उत्कट योगाभिलाषा को देख कर ही महात्मा आनन्द स्वामी ने उन्हें सर्वप्रथम "योगो" कहना प्रारम्भ किया था। इसके पश्चात् तो यह जैसे उनका उपनाम ही बन गया। योगदर्शन का स्वाध्याय करने से मुझे यह विदित हो गया है कि योग के नौ अंगों (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि तथा संयम) को सफलतापूर्वक जीवन का अंग बनाने के पश्चात् ही योग अर्थात् स्वरूप प्रतिष्ठा का आरम्भ होता है। संयम सिद्धि के अनन्तर ही योगदर्शन विभूति पाद में वर्णित ५० सिद्धियां एक-एक करके हस्तगत की जा सकती हैं। मुझे स्मरण है कि जब महात्मा आनन्द स्वामी जी ने योग के प्रचार के लिए भूमि दान दी थी तो उन की इच्छा थी कि इस संस्था से ऐसे योगी पैदा हों जो योगदर्शन की विभूतियों पर अधिकार रखते हों। उन्होंने इस संस्था का नाम **'योग विभूति संस्थान'** या इससे मिलता जुलता रखने का सुझाव भी दिया था। परन्तु हम ने इस विभूति शब्द को छोड़कर **"पातञ्जल योग साधक समाज"** नाम रखना ही उचित समझा। कारण स्पष्ट है कि महात्मा आनन्द स्वामी जी का स्वप्न हमें साकार होता नजर नहीं आ रहा था। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि आर्यसमाजी योग के ९ अंगों के प्रसार के लिए यत्न न करें। महर्षि दयानन्द सरस्वती के अनुसार तो प्रत्येक बालक के लिए प्रारम्भिक कक्षाओं से ही यम नियम के अभ्यास की व्यवस्था होनी चाहिए। स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती के कथनानुसार यम नियम साधना के द्वारा योग विद्या का बीज रोपा जाता है, आसन-प्राणायाम के द्वारा वह अंकुरित होता है, प्रत्याहार के द्वारा वह प्रस्थित होता है, और धारणा-ध्यान-समाधि द्वारा वह फलित होता है। योग का प्रारम्भिक अभ्यास ही नैतिकता के अभ्यास का आरम्भ है, जिसकी इस समय भारत में ही नहीं, परन्तु अन्य समृद्ध

देशों में भी आवश्यकता अनुभव की जा रही है।

भारत की प्राचीन समृद्ध संस्कृति व सभ्यता के दो मूलभूत स्तम्भ हैं—वेद एवं योग। महर्षि दयानन्द ने इन्हीं स्तम्भों की पुनः स्थापना के लिए ब्रह्मचर्य एवं वानप्रस्थ आश्रम को प्रत्येक के लिए अनिवार्य घोषित किया। महर्षि के आदेश का पालन करने के लिए ही स्वामी श्रद्धानन्द, महात्मा नारायण स्वामी तथा स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती प्रभृति आर्य नेताओं ने आजीवन प्रयत्न किया परन्तु इस समय तक किसी भी गुरुकुल में वेदों के सांगोपांग अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था नहीं है, न ही किसी वानप्रस्थाश्रम में योगदर्शन प्रदर्शित विभूतियों के प्रशिक्षण का प्रबन्ध है। ऐसी संस्थाओं में न उचित प्रशिक्षक मिलते हैं न ही उचित प्रशिक्षणार्थी। तब भी क्या आर्यसमाजियों को इस दिशा में और अधिक यत्न नहीं करना चाहिए ?

ऋषि दयानन्द के स्वप्नों को साकार करने के लिए स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती की भांति तन, मन, धन की आहुति अपेक्षित है। वेदों के विद्वान् और योगी तलाश किये जायें। उनको उचित सम्मान दिया जाये। उनके आवास व भोजनादि की समुचित व्यवस्था की जाए। महर्षि दयानन्द ने आज से डेढ़ सौ वर्ष पूर्व कई वर्षों तक कठिन परिश्रम के बाद स्वामी ज्वालानन्द पुरी और स्वामी शिवानन्द गिरि जैसे योगियों को पा लिया था। क्या अब भारत योगियों से शून्य हो गया है ? वेदों के विद्वानों को भी आर्यसमाज प्रोत्साहन नहीं देता। यदि जीविकोपार्जन की चिन्ता से मुक्ति मिल जाये तो वेदों के शोध कार्यों में अपना जीवन लगाने वाले कई नवयुवक उपलब्ध हो सकते हैं। इस विषय में केवल संकेत मात्र देकर मैं अपने लेख को विराम देता हूं।

देश-निर्माण की भावना से गुरुकुल-स्थापना

—आचार्य धर्मपाल शास्त्री विद्याभास्कर एम. ए.*

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने गुरु विरजानन्द दण्डी जी को गुरु-दक्षिणा देते समय जो व्रत लिया था कि अनार्ष ग्रन्थों के पठन-पाठन को समाप्त कर आर्ष प्रणाली की स्थापना करूंगा। उसी प्रतिज्ञानुसार उन्होंने अपने जीवन में अपने गुरु भाई श्री पं० उदयप्रकाश के सहयोग से संस्कृत पाठशालाओं का सञ्चालन किया और अपने शिष्यों में वही भावना पैदा करना जीवन का लक्ष्य बनाया। उसी प्रकार उनके शिष्यों में श्री पं० शुद्धबोध तीर्थ महावैयाकरण हुए। और उनके प्रमुख शिष्य श्री आचार्य राजेन्द्र नाथ शास्त्री ने अपने जीवन-काल में आर्ष प्रणाली के परिपुष्ट करने का प्रबल प्रयास किया।

"सिद्धान्त कौमुदी की अन्त्येष्टि" नामक उनका ग्रन्थ उन दिनों खूब चर्चित रहा। बाद में पूरे भारत में आर्ष ग्रन्थों का प्रचार कैसे हो, इस उदात्त भावना को लेकर उन्होंने गुरुकुल की स्थापना की। १६६६ में श्री स्वामी मुनीश्वरानन्द सरस्वती त्रिवेदतीर्थ संस्थापक गुरुकुल महाविद्यालय ततारपुर, गाजियाबाद के सान्निध्य में पढ़ते हुए जब मैं खय्या-भगवानपुर, फुलडहरा आदि ग्रामों में अन्न संग्रह के लिए गया तो वहां पर प्रायः बुकलाना गुरुकुल की चर्चा होती थी। साथ ही आचार्य राजेन्द्रनाथ जी और आचार्य भगवान्देव का नाम भी प्रायः लोगों के मुखारविन्द की शोभा बढ़ाता था। इसी विद्यालय के स्नातक पं० हरिशरण 'बाइबिल आचार्य' जब शुद्धि करते हुए शहीद हो गए तो आचार्य भगवान्देव का एक लेख 'सुधारक' पत्र में उसके विषय में प्रकाशित हुआ था। उसमें इस गुरुकुल के ब्रह्मचारियों की वीरता भरी कहानी पढ़कर मन में उत्साह पैदा हुआ कि ऐसे गुरुकुल के दर्शन किये जावें। पर बालक होने के कारण इच्छा

---

* मुख्य संचालक सार्वदेशिक आर्यवीर दल, (उ० प्र०)
गुरुकुल महाविद्यालय पूठ, वाया बहादुरगढ़, जिला गाजियाबाद, उ० प्र०

पूरी न हो सकी। फिर १९७२ में मैनपुरी जिले में सिरसागंज गुरुकुल में जाना पड़ा। वहां के आचार्य महात्मा देवस्वामी ने एक दिन प्रसंगवश अपने जीवन की एक घटना सुनाई। समिति से विवाद होने पर वे १९६० के लगभग सभी छात्रों के साथ गुरुकुल गौतम नगर, दिल्ली में चले गए और वहां पर २ वर्ष तक पढ़ते-पढ़ाते रहे। आचाय राजेन्द्र जी के स्वभाव एवं विद्वत्ता की उन्होंने बड़ी प्रशंसा की तथा वहां के छात्रों को आर्यसमाज के लिए कार्यकर्त्ता विद्वान् तैयार करने की सब योजना वताई। मेरी उत्सुकता अधिक वलवती हो गई तथा एक दिन हम गुरुकुल के दर्शनार्थ दिल्ली के लिए चल पड़े। यहां आकर जो दृश्य देखा तो हृदय रो पड़ा। आचार्य विश्वश्रवा जी के दर्शन हुए। उनसे बातचीत की और हम निराश मन से वापस चल पड़े। चलते समय आचार्य जी ने हमें रोकने का प्रयास किया और कहा कि हम यहीं प्रवेश लेकर अध्ययन करें और वेद के विद्वान् बन कर वेदविद्यालय का नाम सार्थक करें, लेकिन मन नहीं माना। भावुकता एवं जिज्ञासा की पूर्व कहानी मन से दूर हो गई और अन्यत्र अध्ययन में लग गई।

बाद में आचार्य श्री हरिदेव ने स्वामी ओमानन्द सरस्वती की प्रेरणा से गुरुकुल को सम्भाला और हर प्रकार से गुरुकुल की उन्नति की साधना में लग गए। एक बार चतुर्वेद पारायण यज्ञ के अवसर पर मैं गुरुकुल गया तो स्वामी दीक्षानन्द व श्री ओमप्रकाश वर्मा जनमानस को प्रभावित कर रहे थे। मैंने भी प्रथम बार गुरुकुल में इतना वड़ा परिवर्तन देखकर हर्षातिरेक से आश्चर्य व्यक्त किया और आचार्य हरिदेव की तपस्या पर आभार व्यक्त किया, जिन्होंने उजड़ी बगिया को सुरभित उपवन का रूप दे दिया। वे अपनी उठती जवानी को इस गुरुकुल के लिए समर्पित कर रहे हैं और निःस्वार्थ भाव से अपने पुत्रवत् ब्रह्मचारियों को ज्ञान की आभा से प्रकाशित कर उनका पोषण भी कर रहे हैं। प्रतिवर्ष अब तो कोई भी व्यक्ति जब गुरुकुल में आता है तो कुछ न कुछ नवीनता का दर्शन होता है— **"क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः"** उक्ति को सार्थक कर रहा है यह वेद विद्यालय। यहां से स्नातक होकर ब्रह्मचारी देश को प्रभावित करेंगे। यहां की भव्य यज्ञशाला, सुन्दर वाचनालय, धर्मार्थ चिकित्सालय, आदर्श गोशाला, दर्शनीय छात्रावास और अखाड़ा यहां की प्राकृतिक छटा को चार चाँद लगा रहे हैं। दिल्ली ही नहीं, अपितु हरियाणा, राजस्थान, उत्तर प्रदेश आदि यहां के ब्रह्मचारी वेदपाठ एवं व्यायाम प्रदर्शन करते हैं। आर्यसमाज का कोई ऐसा बड़ा सम्मेलन नहीं होता जिसकी

शोभा यहां के ब्रह्मचारी नहीं बढ़ाते हैं।

सम्प्रति भारतवर्ष के समस्त गुरुकुलों में इसका विशेष स्थान है। वेद-व्याकरण-दर्शन के साथ-साथ यहां धार्मिक शिक्षा की उत्तम व्यवस्था से पता चलता है कि यहां के छात्र प्रबुद्ध एवं सुयोग्य हैं। और प्रायः शिखर-रूप रहते हैं।

यह गुरुकुल स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती का अमर स्मारक है। इसका सुचारु सञ्चालन होता रहे, यही स्वामी जी का अभिनन्दन होगा। आचार्य हरिदेव अहर्निश परिश्रम करके उस मिशन को पूरा करने में लगे हैं। परम पिता परमात्मा से दोनों के स्वास्थ्य एवं **दीर्घायुष्य की कामना करते हैं—भूयश्च शरदः शतात्॥**

ह्रस्वं लघु। अष्टाध्यायी १।४।१०

आदौ गुरोरन्तिकवासकाले ।
'ह्रस्वं लघु' प्राप्य गुरौ वसन्तः।
तिस्रो निशाः यापितगर्भवासाः।
देवत्वमाप्ताः विरताः रमन्ते ॥

आरम्भ में गुरु के समीप गुरुकुल में निवास करते हुए जो स्वयं में ह्रस्वता व लघुता का भाव बनाये रखते हैं, वे 'ज्ञान, कर्म और उपासना' की तीन रात्रियों का गुप्त-गर्भवास पूरा करके देवत्व को प्राप्त हो मुक्त भाव से प्रसन्न जीवन बिताते हैं।

निश्छल स्नेह का व्यवहार

—श्रीमती शान्तीदेवी वानप्रस्थ*

योगधाम तथा आर्य वानप्रस्थ आश्रम के मन्त्री श्री कल्याणस्वरूप जी की पत्नी होने के नाते मेरा भी स्वामी जी से उतना ही सम्बन्ध है जितना मेरे पतिदेव का—अर्थात् २० वर्ष पुराना, जो आज तक उसी रूप में स्नेहपूर्ण बना हुआ है। इसलिए मैं भी कुछ टूटे-फूटे शब्दों में अपने कुछ संस्मरण लिखने का साहस कर रही हूं।

स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती जब आर्य वानप्रस्थ में आए तो हमें अति प्रसन्नता हुई, क्योंकि आश्रम में किसी योगी का होना परम आवश्यक है, ऐसा हम दोनों का विचार था। प्रभु कृपा से यह कमी पूरी हो गई, और मेरे पति श्री कल्याणस्वरूप ने मन्त्री के रूप में स्वामी जी की सुख-सुविधा का पूरा ध्यान रखा। जब कभी उनको समय का अभाव होता तो मैं उनकी कुटिया पर दुग्ध इत्यादि पहुंचा आती। स्वामी जी के चरणों में नतमस्तक होकर प्रणाम करती और वापस अपनी कुटिया में आ जाती। हमारी कुटिया भी स्वामी जी की कुटिया के निकट ही थी। कुछ समय बाद शनैः-शनैः स्वामी जी से हिल मिल गई, और स्वामी जी ऐसे लगने लगे कि जैसे परिवार के हो सदस्य हों। अब स्वामी जी को किसी वस्तु की आवश्यकता होती तो निःसंकोच हमारी कुटिया पर चले आते या अपनी इच्छानुसार कार्य करा लेते। इससे योगी के प्रति अपनत्व की भावना बढ़ गई।

एक दिन की घटना है कि प्रातः साढ़े आठ बजे स्वामी जी का प्रवचन निश्चित हुआ। मन्त्री जी ने पहले दिन घोषणा कर दी थी परन्तु प्रवचन के समय स्वामी जी अपनी कुटिया पर नहीं थे। फलतः किसी दूसरे का प्रवचन कराया गया। जब यज्ञशाला से उठकर सब अपने-अपने स्थान पर जाने लगे तो अचानक स्वामी जी आते दृष्टिगोचर हो गए। मैं एक ही सांस में बोल गई—"स्वामी जी! आप कहां गए थे? स्वामी जी तो कुछ नहीं बोले पर एक और व्यक्ति गुस्से में भरकर बोले—"तुमने स्वामी जी को क्या समझा है जो इस प्रकार से व्यवहार करती हो?" उसका ऐसा

* आर्य वानप्रस्थाश्रम, ज्वालापुर, हरिद्वार

कहना था कि मैं तो ऊपर से नीचे तक सारी कांप गई। एक शब्द भी मुंह से न निकल पाया। वापस कुटिया में आ गई और थोड़ी देर तक विचारती रही कि अब क्या किया जाये ?

मैंने साहस बटोरा और स्वामी जी की कुटिया पर चली गई। स्वामी जी ने उसी प्रकार हँसकर कहा, "आओ देवी जी ! कैसे आना हुआ ?" उनका मुस्कराना देखकर मैं रो पड़ी और कहा, "स्वामी जी, आपकी शान के विपरीत जो शब्द बोल दिए, मैं उनके लिए क्षमा मांगने आई हूँ।" फिर तो स्वामी जी जोर से हँसे। बोले, "उस शरारती आदमी की बात को आप ने कैसे सच मान लिया ? उसको इस बात पर ईर्ष्या है कि मन्त्री जी से मेरी इतनी घनिष्ठता हो गई। वह नहीं चाहता कि आपका और मेरा परिचय इतना प्रगाढ़ हो।" उन्होंने मेरे सिर पर हाथ रखा फिर असलियत सुनाई। बोले—"ऋषिकेश से माता रामप्यारी का फोन आया था, उन्होंने योगधाम में कुटिया बनाने हेतु पैसा देना था। मैं मन्त्री जी को भी सूचित न कर पाया और ऋषिकेश चला गया था। आप चिन्ता न करें, मेरे मन पर लेशमात्र भी किसी प्रकार का मलाल नहीं है।" वानप्रस्थ आश्रम में स्वामी जी उन दिनों महात्मा नारायण स्वामी की कुटिया पर रहते थे। उसी समय की यह घटना है।

आनन्द स्वामी जी आश्रम आए। दोनों स्वामियों में क्या-क्या बातचीत हुई, यह तो मैं नहीं जानती। परन्तु इतना पता है कि आनन्द स्वामी जी ने अपनी भूमि स्वामी सच्चिदानन्द जी को योगधाम बनाने के लिए दे दी है। तब से उस पर कुटिया निर्माण तथा अन्य कार्यक्रम प्रारम्भ हो गया। यह स्थान गंगनहर के दाएं किनारे पर है। योगधाम के मन्त्री तथा स्वामी जी के दो अन्य भक्त योगधाम को आश्रम का रूप देने में जुट गए। जो भी इस समय आश्रम है वह सब उनका मौलिक परिश्रम है। श्री परसराम ने इस योगधाम के शिविर पर स्वामी जी के करकमलों द्वारा संन्यास भी लिया। वे अब उच्चकोटि के साधक हैं।

तदनन्तर स्वामी जी भी योगधाम की अपनी कुटिया में रहने लगे जिसके नीचे गुफा भी है। वहां पर भी स्वामी जी से योगदर्शन पढ़ने मैं और मेरे पतिदेव जाया करते थे। एक दिन मैंने उनसे प्रश्न कर दिया कि स्वामी जी अब तो मैं हताश हो गई हूं। कोई सरल उपाय बताओ, अब कठिन मार्ग से गुजरने का साहस नहीं रहा। स्वामी जी जोर से हँसे, बोले—"क्या तोतापरी की तरह सिर पर हाथ रख दूं और तुम्हें सब सिद्धियां प्राप्त हो जाएं, क्या यही चाहती हो ?" उनका ऐसा निश्छल स्नेहपूर्ण व्यवहार मेरी व्यक्तिगत निधि है। मैं उस योगी का क्या पार पाऊंगी ?

योग से व्यावहारिक लाभ

—प्रो० नरेन्द्र कुमार*

सन् १९७६ की बात है। उन दिनों मैं गुरुकुल कांगड़ी में पढ़ता था। विद्यालय की आश्रम व्यवस्था स्वामी दिव्यानन्द जी महाराज देखा करते थे।

सन्ध्या हवन के पश्चात् आध्यात्मिक चर्चा होती थी। स्वा० दिव्यानन्द जी योग के सम्बन्ध में सर्वदा कुछ न कुछ बतलाते रहते थे। मेरा कोमल व अपरिपक्व मन भला योग को क्या समझे? फिर भी उस समय जो थोड़ा बहुत प्राप्त कर सका आज वही मेरे लिए बहुत कुछ है।

एक दिन सन्ध्या-हवन के उपरान्त मैंने स्वामी दिव्यानन्द जी से कहा—"स्वामी जी, आप स्वामी सच्चिदानन्द जी से हमें मिलवा दीजिए।" मेरी बात का समर्थन सहपाठियों ने भी किया।

उन दिनों योगधाम (ज्वालापुर) में योग-प्रशिक्षण शिविर चल रहा था। स्वामी दिव्यानन्द जी हमें भी वहां ले गये। हमें स्वामी सच्चिदानन्द से मिलकर परम प्रसन्नता हुई। हम ने स्वामी जी से गुरुकुल में आने की प्रार्थना की। कुछ दिनों बाद श्रावणी पर्व था। सब ने निश्चय किया कि इस बार श्रावणी पर्व पर स्वामी जी महाराज से आशीर्वाद प्राप्त किया जाए।

श्रावणी पर्व पर नवप्रविष्ट ब्रह्मचारियों का उपनयन संस्कार हुआ। अन्त में स्वामी जी महाराज का व्याख्यान हुआ। व्याख्यान क्या था, जीवन की अमूल्य निधि थी। हम बाल सुलभ चंचल, छात्रों के लिए उनका व्याख्यान कितना प्रभावकारी सिद्ध हुआ, जब मैं यदाकदा इस पर सोचता हूं, तो अनायास उस योगी के चरणों में नतमस्तक हो जाता हूं।

यद्यपि आज उनका पूरा व्याख्यान तो याद नहीं है फिर भी दो चार पंक्तियां स्मृति-पटल पर छाई हुई हैं। इस प्रवचन में स्वामी जी ने बताया था कि यज्ञ से मनुष्य श्रेष्ठ कर्म करना सीखता है। यज्ञ परमात्मा का प्रतीक है। 'युजिर् योगे' धातु से योग की निष्पत्ति सिद्ध करते हुए उन्होंने

* उप सम्पादक नन्दन

स्पष्ट किया था कि बिना योग के संसार की किसी भी वस्तु का अस्तित्व रह ही नहीं सकता। जीवात्मा भी जन्म जन्मान्तरों से संस्कारों में फंस कर भटकती रहती है। और जब जीवात्मा का योग परमात्मा से हो जाता है तो वह जीवात्मा "सोऽहम्" की अनुभूति करता है।

उन दिनों मेरे हृदय में यह बात अच्छे ढंग से बैठ न सकी। फिर भी एक दिन मैं योगधाम ज्वालापुर में गया। मैंने प्रश्न किया—"स्वामी जी, आज के वैज्ञानिक युग में आप योग की बात करते हो। मुझे तो योग में सिवाय समय नष्ट करने के और कुछ नहीं लगता। योग का आज क्या महत्त्व है ?

शायद कोई और होता तो मेरी इस नादानी पर हँसता। पर योगी स्वामी जी ने उत्तर दिया—"देखो, योग का आज जो कुछ विद्वानों ने अर्थ किया है, वह व्यावहारिक नहीं है, जब कि योग व्यवहार की चीज है। कुछ लोगों ने योग को निठल्लापन समझ लिया है।"

मैंने पूछा—"वह कैसे ?"

उत्तर मिला—"तुम किसी पाठ को दो या तीन बार पढ़ो। उसके बाद आंखें बन्द कर बैठो। उस पाठ पर चिन्तन करो। फिर मुझे बताना तुम्हें क्या मिला ?"

मैं यह सुनकर चला आया। सोचा—'यह तो सरल कार्य है।' पर चंचल मन कहां बैठने दे। फिर मेरी समझ में आया कि पहले तो बैठने का अभ्यास हो। खैर अभ्यास किया। मैंने स्वामी जी के बताए अनुसार आचरण किया। आश्चर्य ! जो पाठ मुझे कई घण्टों में याद होता था, वह अब मैं थोड़े ही समय में याद कर लेता था।

मैं स्वामी जी से मिला। हँसते हुए मेरे चेहरे को उन्होंने भांप लिया। बोले—"योग से कुछ मिला ?" —"बहुत कुछ, महाराज !" मेरा उत्तर था। तब से मैं स्वामी जी के पास जाता रहता था। हर बार कोई नई बात मिलती थी।

दीर्घकाय, गेरुवे वस्त्र, श्वेत केश से सुसज्जित हंसता व्यक्तित्व किस को प्रभावित न कर ले। ऐसा स्वामी जी का व्यक्तित्व है। उनसे कोई अपरिचित भी मिले तो लगेगा कि उसका स्वामी जी से वर्षों पुराना सम्बन्ध है।

धीरता, गम्भीरता, विद्वत्ता, सहजता, सरलता आदि का समन्वय

स्वामी जी के जीवन में स्वत: झलकता है। **"योगः कर्मसु कौशलम्"** का जीवन में अक्षरशः पालन करते हुए स्वामी जी ने अनेक संस्थाएं खोलीं। आज भी वे सुचारु रूप से चल रही हैं। पर किसी संस्था का मोह उनकी साधना में बाधक नहीं बना।

स्वामी जी कभी भी प्रसिद्धि और आत्म-विज्ञापन के चक्कर में नहीं फंसे। यही कारण है कि हम सब मिलकर उनका अभिनन्दन समारोह कर रहे हैं

सम्प्रति स्वामी जी द्वारा स्थापित श्रीमद्दयानन्द वेद विद्यालय गुरुकुल गौतम नगर दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति कर रहा है। जिस वाटिका को स्वामी जी ने अपने हाथों से लगाया था, उसी विद्यास्थली में श्रद्धेय आचार्य श्री हरिदेव जी सर्वस्व न्यौछावर कर वैदिक संस्कृति की रक्षार्थ अनेक छात्रों के उज्ज्वल भविष्य के निर्माण में दत्तचित्त हैं।

परमात्मा से स्वामी जी महाराज के दीर्घायु की मैं कामना करता हूं। साथ ही यह गुरुकुल अपने अन्तेवासियों के गुणों की सुरभि से चहुं ओर सुवासित हो, ऐसी मेरी कामना है।

दीर्घं च। अष्टा० १।४।१२

अन्ते वसन्तः गुरुशिष्यभावैः,
ज्ञान-प्रसादं गुणितं हि लब्ध्वा।
ब्रह्मावगाहेन सन्धाय शान्ति,
'दीर्घं च' पुण्यं वररूपमापुः॥

जो शिष्य भाव से श्रद्धा पूर्वक रहते हैं वे विशिष्ट गुणों से युक्त ज्ञान का प्रसाद पाते हैं। फिर ब्रह्म-ध्यान में डुबकी लगा कर जीवन में शान्ति को अपना कर महान् पुण्य का वर प्राप्त करते हैं।

पत्राचार द्वारा योग-मार्गदर्शन

[पूज्य स्वामी जी पत्राचार द्वारा भी अपने प्रेमी शिष्यों तथा भक्तों का मार्गदर्शन करते रहे हैं जो कि उन की शिष्य वत्सलता तथा उनका सब प्रकार कल्याण करने की उदार भावना का प्रमाण है। प्रस्तुत लेख में स्वामी जी के तीन पत्र दिये गये हैं जो उन्होंने अपने प्रिय शिष्य श्री जितेन्द्र कुमार एडवोकेट का यौगिक मार्गदर्शन और अभ्यासार्थ प्रोत्साहन करते हुए उनके पत्रों के उत्तर में लिखे हैं।]

(१)

प्रियवर श्री जितेन्द्र जी ! स्वस्ति।

प्रियात्मन् ! निस्सन्देह साधना के लिए यम नियम का पालन अनिवार्य मूलाधार है। गृहस्थ में सर्वांश में इसका पालन भी असम्भव है। इसीलिए वानप्रस्थ की विरक्त वय में योगसाधना पूर्णतया सध सकती है। लोक व्यवहार छूट जाने से आरम्भ के सात यम-नियम अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच तथा सन्तोष का काम समाप्त सा हो जाता है। तप, जप, भगवान्-भरोसा=तप+स्वाध्याय+ईश्वर प्रणिधान हो तीन शेष रह जाते हैं। इन तीन के अधिकाधिक अभ्यास से मन एकाग्र होने लगता है। गृहस्थ में तो दो घण्टे पर्याप्त हैं। चाहे दो बार में, चाहे एक बार में। यम-नियम का पालन वैराग्य है, बैठना अभ्यास। बैठ कर या तो अवृत्तिक रहें (विचारहीन रहना) बहुत बढ़िया उत्तम साधन है। लम्बा करते जायें। समय बढ़ाते जायें। यदि यह अभ्यास नहीं चलता तो ओम् का मानस और बौद्धिक जप चलायें। मन से ओम् जपें और बुद्धि से ईश्वर(ओम्)की आनन्दमयी तथा प्रकाशमयी सत्ता का ज्ञान(=भावना) निरन्तर बनाये रखें। बीच में अन्य कोई स्मृति या ज्ञान बाधक न हो।

मेरे विचार में इतना ही योग है। तीन घण्टे में यह समाधि बन जाएगी। दिन रात की यही समाधि हो जाएगी तो सब जानने लगेंगे। जो जानना चाहेंगे, जान जायेंगे। समय लगेगा। मन लगाइए, सफलता अवश्य मिलेगी।

शेष आनन्द है। अभी इधर ही रहूंगा। आपका ध्यान जमे, भगवान् से प्रार्थी हूं। अपने बैठने का समय भी लिख भेजें। कोई कार्य ?

आपका अपना
सच्चिदानन्द स्वामी योगी

(२)

६२, लालबहादुर सदन
नई देहली-१
१६।१२।७२

परमप्रिय श्री जितेन्द्र जी ! स्वस्तितराम्।

आप ने तप के बारे में पूछा—सरदी-गरमी, भूख-प्यास, सुख-दुःख, मित्र-अमित्र, भलाई-बुराई, निन्दा-स्तुति सब को सहन करना। शरीर और मन को शान्ति के पथ से विचलित न होने देना। सब कुछ को भगवान् की लीला समझना। अभ्यास के लिए गरमी में गरमी सहने का अभ्यास किया जाए, सरदी में सरदी का। इस का फल होगा, सब स्थानों पर साधना में विघ्न नहीं पड़ेगा। भूखे हों, प्यासे हों, तब भी साधना हो जाए। ऐसे ही सब स्थितियों को समझ लें। अभ्यासार्थं सरदी में यथा-सहनशक्ति कपड़े कम, और गरमी में यथाशक्ति कपड़े या गरमी में रहने का अभ्यास बढ़ाया जाये। गृहस्थ में रहते यह बातें बहुत कम अभ्यास की जा सकती हैं। यदि मन चंचलता से उपराम नहीं होता तो जिस भोजन में, पान में, परिधान में या जिस बात में बार-बार जाता है, उस को अंशतः शनैः-शनैः छोड़ते जायें। जिस स्वाद में बहुत रुचि है उसे न लें, एक-एक करके बन्द करते जायें। कभी मीठा छोड़ दें, कभी नमकीन, कभी चरपरा, कभी चाय, कभी दूध, कभी घी, कभी दही, कभी कोई फल, शाक। भोजन खाने में व्यत्यय कर सकते हैं। पहले रोटी या शाक एक ही खा लिया। दूसरी वस्तु पीछे खा ली या पाचन शक्ति पर प्रभाव न पड़े तो न खाई, कुछ और ही उपयुक्त पदार्थ ले लिया। इस प्रकार सब ही विषयों में तप की स्थिति समझ लेनी।

आप का ब्रह्मचर्य सध गया, यह तो अच्छा हुआ। पर देवी जी का स्वास्थ्य तो ठीक रहना चाहिए। इच्छापूर्वक दोनों की सहमति से संयम की धारणा पूर्वक किया गया ब्रह्मचर्य अधिक फलदायक होगा। देवी जी के

स्वास्थ्य के लिए मेरा हार्दिक आशीर्वाद है, भगवान् उन को शीघ्र पूर्ण स्वस्थ करेंगे और स्वस्थ रखेंगे।

विचार या संस्कार-शून्यता का समय लम्बा करने का प्रयत्न करते हैं। भगवान् से मेरी प्रार्थना है आप जैसे लगनशील श्रद्धालु भक्त को अपनी चरण-शरण प्रदान करें। शीघ्र अपनी आनन्दमयी गोद प्रदान करें, आप को अखण्ड आनन्द का अनुभव होने लगे।

आसन ३ घण्टे २० मिनट का करने की धारणा को दृढ़ करें। जब यह दृढ़ हो जाए तो और अधिक लम्बा करना है, जब भी कर सकें। योग का पथ तो तभी अग्रसर होगा।

वैसे जितना भी बैठ सकें उतना तो बैठें ही। कम बैठने की धारणा बिल्कुल न बनायें।

प्राणायाम काल सन्ध्या में सम्मिलित कर समय का मान नहीं किया जाता। मेदा साफ होने का प्रयत्न करें। अभी साधना स्वाभाविक नहीं हो पाई है। जब आनन्दानुभूति होने लगेगी तब पुन: नींद की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। अभी सात्त्विक आहार-विहार से मन को और सात्त्विक बनाना है। गीता के १७वें अध्याय में सात्त्विक आहार और १८वें में सात्त्विक व्यवहार की व्याख्या पढ़ लें तो अच्छा। गीता का सदा पाठ करना लाभदायक रहता है। अर्थ समझकर, केवल पाठ नहीं। क्या करना है, यह समझकर उसे करता चले।

शौच और नींद की क्रिया जैसी आप ले रहे हैं, यदि सदा के लिए यही स्वभाव बन गया तो हानि होगी। अत: व्यवस्थित करने का ध्यान रखना है।

साधना के दो मार्ग हैं—वृत्तिरहित होना। १. प्रमाण, २. विपर्य्यय, ३. विकल्प, ४. निद्रा, ५. स्मृति। योगदर्शन के आरम्भ में इन की व्याख्या है। इन सब से रहित होना है। इसका आरम्भ ही Thoughtless होना है, इसे बढ़ाइये। स्थिति टूटने पर 'ओम्' के ही जाप का अभ्यास कीजिए। उस जाप की भी सूक्ष्मता में जाना है। अन्य कोई विचार न आए, यह तो आवश्यक है। अन्त में ओम् का संस्कार मात्र बना रहे। ओम् का अर्थ परमात्मा भी ज्ञान में बना रहे। यही दीर्घकाल तक नित्य बहुत लम्बा बैठने पर परमात्मा तक ले जाएगा। इस सूक्ष्मता तक पहुँचने में बहुत-सी मंजिलें आ सकती हैं, आप सूक्ष्मता की ओर बढ़ते जायें। ओम् का भाव-ज्ञान परमात्मा का साथ ध्यान में बना रहे। अभ्यास बढ़ायेंगे तो मेरे ये वाक्य समझ

में आयेंगे। केवल शब्दों से यह समझाने का विषय नहीं।

गायत्री के जाप से ज्ञान की सूक्ष्म स्थिति आ सकती है, इस में सन्देह है। किसी की आते हुए सुनी नहीं। शून्य होते-होते ज्ञान शून्य हो जाता है, वह समाधि नहीं। समाधि तो सम्प्रज्ञात चाहिए। जिस में सब साक्षात् होकर वैराग्य की स्थिति दृढ़ हो। जिस रास्ते पर चल रहे हैं वह ठीक है, पर उस पर आगे बढ़ना। वहीं नहीं बैठे रहना। लम्बाई से घबराना भी नहीं। यह एक ही जन्म का खेल नहीं। व्यक्ति-विशेष के लिए यह अन्तिम जन्म की साधना हो सकती है। हम भी वह व्यक्ति-विशेष हो सकते हैं। अतः दृढ़ संकल्प के साथ आगे बढ़ते चलिए। जहां तक भगवान् ले चले।

चित्त की एकाग्रता के लिए भगवान् से क्या प्रार्थना करनी, भगवान् से तो भगवान् को ही मांगना है। सब सांसारिक पदार्थों से बढ़कर परमात्मा से प्रेम हो जाए तो मन अपने आप टिकेगा। आप की दृढ़ धारणा देखकर भगवान् स्वयम् आप को अपने में लगा लेंगे।

मेरा सदा आशीर्वाद है। पूर्वापेक्षा आपका मन बहुत ठहरने लगा है। ऐसे ही आगे बढ़ते चलिए। भगवान् ने आपका हाथ पकड़ लिया है। यह समझ लीजिए। यह अत्युक्ति नहीं, तथ्य है।

हाँ, यह ठीक है, पेट साफ न होने पर स्नान न करें। बाद में करें। मुंह हाथ धोकर(पंच-पुच्छी स्नान करके) बैठें। दो हाथ, दो पैर—चार पूंछ, पांचवीं पूंछ सिर को भी धो लिया करें, ठीक रहे तो, आजकल शीत है। गरमियों में सिर का धोना आरम्भ करें। प्राणायाम भी बाद में करें। शौच भी बाद में जायें, बल लगाने में रोग पीछे लग सकता है। ऐसा हठयोग नहीं करना। मन के साथ शरीर को भी सधाना है। भोजन के समय का भी तो प्रभाव होता है। पाक तो पूरा समय लेकर ही होगा। समय से पहले नहीं। अतः भोजन भी तीन बजे के हिसाब से आगे-पीछे करना होगा।

(३)

६२, लाल बहादुर सदन
गोल मार्केट, नई दिल्ली-१
२३।१२।७२

परमप्रिय श्री जितेन्द्र जी ! स्वस्ति।

आप को उत्तर लिखने में मुझे आनन्द आता है। एक सच्चा साधक

जिज्ञासु प्रश्न कर रहा है, तो उस का उत्तर अन्य कौन दे ? आपकी साधना भावना ने मुझ पर अधिकार कर लिया है। आप योग के मध्य श्रेणी के अधिकारी सिद्ध हो रहे हैं।

५०,००० रुपये के लोभी को दण्ड देने का प्रलोभन संवरण करना एक गृहस्थ के लिए बहुत बड़ी बात है, जबकि सफलता की पूरी आशा हो। आप ने जो मार्ग अपनाया वह आपको योग की उत्तम अधिकारिता में ले जा सकता है। लौकिक दृष्टि से इस घटना का विश्लेषण-प्रकार कुछ अन्य भी है। जिस घनिष्ठ मित्र ने यह धोखा किया है, उसने अपना परलोक तो बिगाड़ लिया। इस लोक में भी जो सुनेगा, निन्दा करेगा। जो जानेगा, अपमान करेगा। इस दृष्टि से उसने कमाया नहीं, खोया है। **'सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते'**—गीता ने कहा : सम्मानित का अपयश मृत्यु से भी भयंकर कष्ट देने वाला होता है। दूसरे प्रभु न्यायकारी है, अपराध क्षमा नहीं करता। यथोचित दण्ड देगा ही। उसे भुगतना ही पड़ेगा। तीसरा पथ यदि उसने इस जीवन में नया कर्म-विपाक आरम्भ किया है तब तो भोगना ही पड़ेगा। योगी तो वह है नहीं। जपिया भी नहीं जो पाप दग्ध बीज हो जायें। दारुण दण्ड ही मिलेगा। **'अत्युत्कटपापपुण्यानां फलमिहैवाश्नुते'** अति उत्कट पाप पुण्यों का फल यहीं मिलता है। थोड़ी ही प्रतीक्षा में पता चल जाएगा। हाँ, यदि किसी पूर्वजन्म में आप ने उस का कोई ऐसा ही अनिष्ट कर रखा हो तो उस का आप को भी यह दण्ड विधान हो सकता है, जिसे आप ने प्रभु का आदेश मान प्रसन्नता से स्वीकार कर लिया है और साधना में अग्रसर हो रहे हैं। आप तो पाप से विनिर्मुक्त हो गए। पर घनिष्ठ मित्र की आत्मा को किसी आत्मा को दण्ड देने का अधिकार नहीं। उस ने व्यवस्था अपने हाथ में क्यों ली, भगवान् को दण्ड विधान में इस प्रकार सहायता देने का कोई औचित्य नहीं। दण्ड देने में भगवान् असमर्थ तो है नहीं, फिर उसकी न्याय-व्यवस्था को न समझ हस्तक्षेप करना भी अपराध ही माना गया है। प्रत्येक प्राणी दूसरे की न्याय-व्यवस्था करने का अधिकारी नहीं है, अपनी कर ले यही बहुत है। अतः आप ने जो मार्ग अपनाया है, वही प्रशस्ततम है।

गायत्री जाप का विधान तो उनके लिए हो सकता है जो ओम् का जाप करने में असमर्थ हैं, जिनका मन ओम् में टिकता ही नहीं। इस को इस प्रकार भी कह सकते हैं, बालक को भूख तो है नहीं, पेट खराब है, तो वह मां के दूध फल खाने के आदेश को तो मानता नहीं, मां को ही चूसे जाता है, खाये जाता है। ऋषि दयानन्द का **'ओं भूर् भुवः स्वः'** शीर्ष

गायत्री का अर्थ ३४ अध्याय यजुर्वेद में मन्त्र ३ का दिया है। इस का नाम या छन्द गायत्री नहीं है। इस का नाम ऋषि ने 'भूरिक् उष्णिक्' दिया है। गायत्री तो 'तत्सवितुर् · प्रचोदयात्' इसका नाम है। इसका जाप कोई नहीं करता। विश्वानि देव, अग्निमीळे' आदि २५०० मन्त्रों का छन्द गायत्री है, फिर गायत्री से किस गायत्री को लिया जाये।

ऋषि ने ३४वें अध्याय में यजुर्वेद में ओम् की व्याख्या 'भूर् भुवः स्वः सत्, चित् आनन्द की है। आगे विशेषण लगाकर देवस्य=ओं परमात्मा के भर्गः तेज का धीमहि=ध्यायेमहि—ध्यान करें।' ऐसा ऋषि ने अर्थ किया है तो बात साफ है, गायत्री मन्त्र कह रहा है ओम् के स्वरूप या ओम् का ध्यान करें। अब ओम् के ध्यान की बात को हम न मानें और भगवान् के वाक्य गायत्री को जपने लग जायें तो क्या यह गायत्री मां के साथ अन्याय नहीं। क्या हम ऐसे ही बच्चे नहीं हो गए जो दूध फल नहीं खाता और मां को ही खाने लग जाता है।

वैसे जाप के लिए मैं यह समझा हूं, जाप किसी का भी करें। लाभ होगा। चाहे अल्लाह, वाहे गुरु, सोऽहम् कुछ भी जपो, लाभ होगा, पर योग-साधना नहीं होगी। योगदर्शन में पतञ्जलि, व्यास ने भाष्य में, व्यास भाष्य के भाष्य में, शङ्कर, दयानन्द, सब ने ओं जाप की ही बात कही है। दयानन्द ने भी १३ जगह ओं जाप की बात कही है। गायत्री जाप की बात प्रायश्चित्त या यज्ञ में कही है, योग-साधना में नहीं। इसे ऋषि ने गुरु मन्त्र माना है। इत्यादि बहुत सा विचार है, कुछ विचार मैंने 'सत्यार्थप्रकाश के संशोधनों की समीक्षा' पुस्तक में दिये है। भिजवाऊंगा, पढ़ लेना। (ओं जाप के लिए पढ़ें समीक्षा पृ० १६० से १८५ तक)

आप ने दिनचर्या ठीक ही बनाई है। प्राणायाम के पश्चात् साधना को आगे पीछे कर सकते हैं। आलस्य दूर न हो तो पहले करने से आलस्य तन्द्रा हट जाएगी। स्वास्थ्यानुसार आप का समय-विभाग ठीक है।

संक्षेप में सब बातों का समाधान हो जाएगा। कुछ शेष रह गया हो तो पुनः पत्र आने पर। परिवार को आशीः—

आप का अपना
स्वामी सच्चिदानन्द योगी

□ □

मेरे पतिदेव

—श्रीमती लीलावती 'प्रभाकर'*

आचार्य श्री राजेन्द्रनाथ जी शास्त्री के गृहस्थ जीवन में पत्नी के रूप में साथ देना मेरा सौभाग्य था। इसके साथ ही गुरुकुल श्रीमद्दयानन्द वेद-विद्यालय का साहचर्य भी जैसे पूर्व-निर्धारित था। सम्भवतः इसीलिए इनके जीवन में गुरुकुल का और मेरा पदार्पण और दोनों से उनका संन्यास लगभग साथ-साथ हुआ।

गुरुकुल-स्थापना

गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर के मेधावी स्नातक आचार्य श्री अपने गुरु महाराज श्री शुद्धबोध तीर्थ के प्रिय शिष्य थे। जैसे गुरु विरजानन्द जी ने अपने योग्य शिष्य स्वामी दयानन्द से दक्षिणा में देश सेवा का व्रत लिया था। कुछ इसी प्रकार इनके गुरुवर ने भी आर्ष-पाठविधि का केन्द्रीय गुरुकुल खोलने की इच्छा प्रकट की थी। इन्होंने गुरु जी के समक्ष प्रतिज्ञा की थी कि ऐसा गुरुकुल मैं चलाऊंगा। इसी प्रण के अनुरूप २४ अगस्त सन् १९३४ में श्रावणी पर्व पर इन्होंने गुरुकुल का शुभारम्भ एक सामान्य यज्ञ से पंचकुइया रोड के एक क्वार्टर में कर दिया।

विदेश में नियुक्ति का त्याग

तब ये बेयर्ड रोड डी० ए० वी० स्कूल में संस्कृत के अध्यापक थे। आर्यसमाज के क्षेत्र में पौरोहित्य प्रवचन आदि द्वारा ये पहले ही कार्यरत थे। अपनी वक्तृता और ऋषि-भक्ति की धाक ये खूब जमा ही चुके थे। अंग्रेजी भी इन्होंने हाई स्कूल तक पढ़ी थी। उस समय इतनी कक्षा तक विद्यार्थी अंग्रेजी अच्छी पढ़ लेता था, और ये इसमें विशेष प्रवीण थे। इसलिए समाज के अधिकारियों ने इन्हें वैदिक धर्म का प्रचार करने के लिए विदेश भेजना चाहा। उस समय ये बड़े धर्म-संकट में पड़े कि जाएं या नहीं। अन्ततः गुरु वचन-निष्ठा विजयी हुई और इन्होंने स्वदेश में ही रह कर गुरुकुल चलाते रहने का निर्णय लिया। इस प्रकार देशान्तर के वैभव

---

* १५९५, हरध्यान सिंह रोड, करौल बाग, नई दिल्ली-५

पूर्ण जीवन और समस्त सुखों को त्यागकर गुरुकुल संचालन में ही सारी जवानी फक्कड़पन के साथ बिता दी।

हमारा विवाह

आचार्य जी ने गुरुकुल खोला ही था, तभी मेरे ताऊ जी, श्री राधे-लाल गर्ग इनके सम्पर्क में आये। पिता जी के अभाव में बाल्यकाल से वे ही मेरे अभिभावक रहे। उस साठ वर्ष की अवस्था में भी वह आचार्य जी से गुरुकुल में संस्कृत सीखने जाया करते थे। मैंने एक दिन ताऊ जी से कहा कि 'बुढ़ापे में क्या ऐसी कठिन संस्कृत भाषा पढ़ोगे?' तो ताऊ जी का उत्तर था 'क्यों नहीं, अगले जन्म के लिए तो मेरे संस्कार बन जायेंगे। और जिस विधि से आचार्य जी पढ़ाते हैं, मुझे संस्कृत कठिन नहीं लगती।'

आचार्य जी की सुबोध सरल पाठ्य शैली और आचार-विचार से ताऊ जी ऐसे प्रभावित हुए कि इनसे नाता जोड़ने का निश्चय कर लिया। इनका पहला विवाह सात आठ वर्ष पूर्व हुआ था। तीन चार वर्ष में ही ये विधुर हो चुके थे। और उस विवाह से कोई सन्तान भी नहीं थी। ताऊ जी ने इसमें कोई आपत्ति नहीं देखी। किन्तु ये अब पुनः ऐसा कोई बन्धन पालना नहीं चाहते थे। तो फिर न चाहते हुए भी इस विवाह के लिए ये कैसे तैयार हो गए, इसके पीछे एक मनोरंजक प्रसंग है।

इनके गांव नांगलोई से एक अत्यन्त स्नेही बन्धु चौधरी बहोड़ूमल जी इनसे मिलने आए। इन्होंने अपनी माता जी से उनके लिए भोजन बनाने के लिए कहा। माता जी तो ऐसे किसी अवसर की ताक में ही थीं। झट बोलीं—'अगर मेहमानों की आवभगत करवानी है तो बहू ले आ।' सब का भरपूर स्वागत हर प्रकार हर परिस्थिति में कैसे भी करने की इनकी भावना सदा बलवती रही है। ऐसा मैंने स्वयं अनेक अवसरों पर देखा है। अतः इनके मुंह से निकल गया कुछ ऐसा आश्वासन सा—'अच्छा बाबा, ले आऊंगा, अभी तो इनके लिए खाना बना दे।' और बस माता जी ने यह आश्वासन पूरा करवा के छोड़ा। दुर्दैव से मेरे ताऊ जी तो असमय में ही काल कलवित हो गए, किन्तु निश्चय के अनुसार फरवरी १९३५ में मेरा विवाह आचार्य श्री से हो गया।

आजीविका-त्यागना

जब मैं इनके घर आई, तब इनके साथ माता-पिता ही थे। बड़े भाई तो ९-१० वर्ष पहले ही से अलग रहते थे। गुरुकुल की ओर पूरा ध्यान

देने के लिए इन्होंने स्कूल की नौकरी छोड़ दी। हां अपने निर्वाह-हेतु लाला ज्ञानचन्द ठेकेदार के यहां बाराखम्बा रोड पर ट्यूशन पढ़ाने लगे थे। दो पौत्री एक पौत्र। श्री विजयकुमार को पढ़ाते थे। ट्यूशन की आय भी स्कूल की आय के बराबर सी ही थी, इसलिए स्कूल की स्थायी आजीविका को तो तिलांजलि दे दी, पर यह नहीं सोचा कि ट्यूशन की आय कितने समय तक चलेगी ?

मेरे श्वसुर मा० प्यारेलाल जी अध्यापक थे। वह रिटायर होकर एक प्राईवेट स्कूल में पढ़ा रहे थे। मेरे विवाह के एक वर्ष के बाद ही उन्होंने भी नौकरी छोड़ दी थी। लगभग दो वर्ष बाद इनका ट्यूशन पढ़ाना भी समाप्त हो गया। मैं विवाह पूर्व से ही दिल्ली बोर्ड में प्राथमिक कक्षाओं की अध्यापिका थी। घर का सारा व्यय मेरे ही मामूली से वेतन पर निर्भर रहने लगा। इसके अतिरिक्त परिवार में नये मेहमानों (हमारी सन्तानों) से धीरे-धीरे वृद्धि तो होती ही गई। शनैः-शनैः हाथ तंग होता गया।

पहला व्यापारिक प्रयास

गुरुकुल में जो विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करते थे, वे पूर्णतया निश्शुल्क रहते थे। न पढ़ाने की फीस और न भोजन-छादन आदि का व्यय। सब कुछ चन्दे से चलता था। उस चन्दे में से अपने लिए तो कुछ लेने का प्रश्न ही नहीं था। फिर परिवार की आय बढ़ाने के लिए क्या करें ? इसका समाधान करने के लिए इन्होंने परिवार की जमा पूंजी से जून १९३७ में एक छापाखाना 'आर्य प्रिंटिंग प्रेस' नाम से लगाया। व्यापार के क्षेत्र में यह इनका पहला कदम था। प्रारम्भ में तो कार्य कुछ चल निकला, किन्तु जो भी आय होती थी वह प्रेस में ही लग जाती थी। शीघ्र ही इन्हें लगा कि प्रेस के कारण गुरुकुल के लिए काम करने में कसर रह जाती है। गुरुकुलीय कार्य ही इनके जीवन का प्रमुख लक्ष्य था। अतः जब गुरुकुल को पूरा समय देने लगे तो प्रेस की ओर यथोचित ध्यान न दे पाने से उसका काम कम होने लगा, और घाटा बढ़ने लगा। माली हालत पहले ही पतली थी। घाटा कैसे सहते, और कब तक ? हारकर जुलाई १९४० में प्रेस बेचना ही पड़ा। इस प्रकार तीन वर्ष में पल्ले की पूंजी ही गंवाई। कमाई तो कुछ हो न पाई। हाँ प्रेस से "दयानन्द सन्देश" मासिक पत्रिका निकाल कर आर्य जगत् में धूम अवश्य मचा दी, जिसे प्रेस बेचने के बाद भी यथाशक्ति चलाते रहे। कालान्तर में यही नाम 'आर्ष-साहित्य-प्रचार ट्रस्ट' की

पत्रिका को इसलिए मिल गया कि उसके संस्थापक श्री दीपचन्द जी आर्य इनके पुराने प्रिय सहयोगी रहे थे।

अपना मकान नहीं चाहिए

सन् १९४० में ही मस्जिद मोठ निवासी पटवारी भद्रसेन जी से गुरुकुल के लिए चार बीघे जमीन मिली थी। तब ये गुरुकुल को और परिवार को भी यूसुफसराय ले आये। जब तक भूमि पर कुछ निर्माण होता तब तक हम लोग बाजार यूसुफसराय में एक मकान किराए पर लेकर रहे। पहले गुरुकुल अपने भवन में आया और बाद में हमारा परिवार। तब मुझे ज्ञात हुआ कि यूसुफ सराय का वह मकान तीन हजार रुपये में बिकाऊ है। उसमें चार दुकानें भी बाजार की ओर खुलती थीं। मैंने अपने गहने बेचकर उसे लेने की इच्छा प्रकट की, पर ये और इनके माता-पिता भी गहने बेचकर लेने को तैयार नहीं हुए। कुछ वर्षों के बाद गुरुकुल के साथ ही पीछे की ओर कुछ जमीन इन्हें दान में दी जा रही थी, वह भी नहीं ली। अपने परिवार के लिए तो किसी भी स्थायी प्रबन्ध से ये जैसे सदा बचते रहे।

परिवार से अधिक गुरुकुल की चिन्ता

ब्रिटेन व जर्मनी का युद्ध छिड़ चुका था। दिल्ली में बम गिरने की सम्भावना थी। गुरुकुल के विद्यार्थियों को सुरक्षित रखने के लिए तांगों, बैलगाड़ियों से इन्होंने सिम्भावली (मेरठ की ओर) प्रस्थान किया—बारह मई १९४२ की शाम को। मेरा स्कूल दो दिन बाद ग्रीष्मावकाश के लिए बन्द होना था। दो दिन की भी प्रतीक्षा इन्होंने नहीं की और मुझे, मेरे छोटे पुत्र ब्रह्मव्रत (९ मास) तथा माता-पिता को छोड़कर चले जाने में भी इन्होंने संकोच नहीं किया। इन्हें हम से भी अधिक अपने प्रिय शिष्यों की सुरक्षा की चिन्ता थी।

दो दिन बाद हम भी सिम्भावली चले गए। दो माह की छुट्टियों के बाद मेरा स्कूल खुला। मुझे अपने छोटे लड़के को लेकर दिल्ली आना पड़ा। छः सात महीने 'ब्रह्म' के साथ मैं कभी माँ के घर और कभी बड़ी बहन के पास रही, पर ये मेरे दो बड़े बच्चों आशारानी व वेदव्रत तथा माता-पिता के साथ गुरुकुलीय शिक्षा का निर्बाध वितरण करते हुए सिम्भावली, फिर बुकलाना में, निश्चिन्त रहते रहे। फिर जनवरी १९४३ में देहली वापस गुरुकुल को ले आए।

नन्हा ब्रह्म हमें छोड़ गया

हमारा वह अत्यन्त सुन्दर, प्यारा शिशु 'ब्रह्मव्रत' अगस्त १९४१ में जन्मा था। प्रारम्भ से ही अत्यन्त व्यस्तता के कारण उसकी देख-रेख व खान-पान में कुछ गड़बड़ी रही। पांच छः मास तक यूसुफसराय से पुरानी दिल्ली हौज काजी, चावड़ी बाजार तक उसे स्कूल अपने साथ प्रतिदिन ले जाती रही। स्कूल में उसके लिए माई रखी। वहां से घर आकर बहुत रोता था। शायद उसकी माई ठीक नहीं थी। फिर साथ ले जाना बन्द कर दिया। घर में भी देखभाल ठीक न होने के कारण वह गुरुकुल में कंकर, पत्थर खा जाता था। धीरे-धीरे उसका जिगर बिगड़ता गया, और इतना बिगड़ गया कि असाध्य हो गया। अन्ततः मई १९४३ में वह हमें छोड़ गया। उसके दाहसंस्कार के समय कौन सन्तप्त न हुआ था? इन्होंने भी मन ही मन अपने को दोषी समझा होगा। किन्तु फिर भी परिवार को ये अधिक समय नहीं दे सकते थे, न दे सके।

साईकिल सीखने का यत्न

मेरा स्कूल चावड़ी बाजार के मौहल्ला दस्सां में था गुरुकुल से यूसुफसराय तक पैदल फिर तांगे से अजमेरी गेट तक; और आगे फिर पैदल। इस प्रकार आने जाने में पर्याप्त श्रम और समय का अपव्यय होता था। इसे वचाने के लिए इन्होंने मुझे साईकिल चलाना सिखाने का प्रयास किया। किन्तु वय की परिपक्वता के कारण मैं सीख न सकी। यह उन दिनों की बात है जब यूसुफसराय से लेकर सफदरगंज हवाई अड्डे की सड़क प्रायः सुनसान हुआ करती थी और गांवों से आने वाले दूधिये भी चोर डाकुओं के डर से झुण्डों में ही पुरानी दिल्ली जाया करते थे। लगभग साढ़े-छः वर्ष तक ऐसे ही कठोर तपस्या पूर्वक अपनी आजीविका हेतु मैं ये दूरियां नापती रही।

लोधी रोड स्कूल में नई दिल्ली नगरपालिका का स्कूल खुला था। वहां के लिए प्रयत्न किया। और पुरानी दिल्ली से त्याग-पत्र देकर लोधी रोड के स्कूल में मेरी नौकरी १५ अक्टूबर १९४६ में लग गई। वहां मुझे दो छोटे कमरों का क्वार्टर भी अलाट हो गया। तब से हमारा परिवार गुरुकुल छोड़कर उसी में लोधी रोड रहने लगा। और मैं दूर जाने-आने के परिश्रम से वच सकी।

पुनः प्रेस कर्ज में डूबे

केरल निवासी श्री वेदबन्धु शर्मा इनके बाल सखा थे। दोनों ने

मिलकर कोई व्यापारिक काम करने की सोची । श्री शर्मा अपने परिवार सहित दिल्ली आ गये। पहले हमारे ही निवास पर रहे, फिर लोधी रोड में दूसरा किराये का कमरा लेकर रहे। डेढ़ वर्ष तक कोई योजना न बनी। उनका अपना पैसा भी समाप्त हो गया तो हारकर वे वापस केरल ही लौट गये। पर उनके साथ सोची योजनाओं में से प्रेस ही दुबारा खोलने की धुन इन पर सवार हो गई। सब ने बहुत रोका। परंतु जो इन्होंने मन में ठान लिया उसे करके ही छोड़ा। अब भी कैसे रुकते ? रिश्तेदारों से पैसा उधार लिया। दिल्ली के एक व्यक्ति श्री पहलादराय के साथ उसी के घर पुरानी दिल्ली में छापे की मशीन लगाकर "नवजीवन प्रेस" का कार्य सन् १९४८ में साझेदारी में प्रारम्भ कर दिया।

साझेदारी में कार्य तथा लाभ-हानि बराबर बांटना, परस्पर-विश्वास करना और निभाना दोनों ओर से आवश्यक है। पर इनके प्रेस का यह साझी कुछ टेढ़ा आदमी निकला। न काम जुटाने में सहायता, न काम निकलवाने में। जब अलग होने की सोची तो उसने बंटवारा अपने हिसाब से किया। जिन शर्तों पर प्रेस इन्हें देने को तैयार था, उन पर स्वयं लेने को राजी नहीं हुआ। कुछ दिन काम बन्द रहा। मशीन उसके कब्जे में थी। हारकर उसकी शर्तें माननी पड़ीं।

उसका हिस्सा लौटाने के लिए भारी कर्ज लेकर मशीन उठाई और चावड़ी बाजार के अन्दर किराये पर स्थान लेकर फिर से काम चालू किया। पर इस बार अकेले और अपने भरोसे पर।

छापे की यह मशीन बड़ी थी और पुरानी भी थी, अपने किसी रिश्तेदार से ही खरीदी थी। इसके साथ कुछ ऐसा दुर्भाग्य रहा कि जब काम मिलता तो खराब रहती; और जब ठीक होती तो काम न होता, प्रायः बिगड़ी ही रहती। जब काम समय पर करके नहीं दे पाते थे तो बिलों का भुगतान भी देर-सवेर आधा-अधूरा होता। प्रेस का खर्च और कर्मचारियों का वेतन उधार लेकर चुकाना पड़ता। घर के गहने जो मकान खरीदने के लिए नहीं निकाले गए, अब वे ही गिरवी रखे गये, और फिर बेचने पड़े। ऊपर से कर्ज सीमा से बाहर होता जाता था। प्रेस का खाता-लेखक (अकाउण्टेण्ट) अपना परिचित विद्यार्थी ही था। वह भी विश्वास दिलाता रहा कि काम चल जायेगा। इसीलिए साढ़े तीन वर्ष तक घाटे में भी कर्ज ले-लेकर प्रेस चलाने का यत्न करते रहे। किन्तु अन्ततः जब केवल हानि ही होती दिखाई दी, और बाजार के ऋणदाता सताने लगे तो हार कर प्रेस को बेचने का ही निर्णय लेना पड़ा।

बाजार में सब जानते थे कि मजबूरी में प्रेस बिक रहा है। जो मूल्य मिला उससे तो बाजार का कर्ज भी पूरी तरह नहीं निबटा। मशीन उठाने के लिए तब भी कुछ और कर्ज लेना पड़ा। उस समय सन् १९५१ में सब कुछ खोकर जो कर्ज शेष रहा, वह था लगभग बीस हजार। उस समय के एक पैसे को यदि आज के ५० पैसे के बराबर भी माना जाए तो आज के हिसाब से यह कर्जा दस लाख के बराबर होता है। किसी हितैषी ने उस समय सलाह दी थी कि "कर्ज कहां से चुकाओगे ? दिवाला घोषित कर दो।" किन्तु इन्होंने ऐसा इसलिए नहीं किया कि कर्ज रिश्तेदारों का ही अधिक था। उसे पूरी तरह से न लौटाना इनकी भावना और प्रतिष्ठा के प्रतिकूल होता।

कर्ज कैसे उतरा ?

अब यह चिन्ता सवार रहने लगी कि "ऋण का यह विशाल अन-चाहा भार कैसे उतरे। आपत्तियां कितनी भी आएं, गुरुकुल छोड़ना नहीं है। आजीविका कोई है नहीं, नौकरी कोई करनी नहीं। न उससे यह भार उतारा जा सकता है तो फिर क्या करें ?" जिन बन्धुओं का ऋण था, उनमें से कुछ प्रकाशक थे। उन्होंने ही सुझाया कि "बिकने योग्य पुस्तकें लिखो, शास्त्रीय नहीं।" बात कुछ समझ में आई। तब मैंने और इन्होंने मिलकर स्कूलों के लिए पुस्तकें लिखनी प्रारम्भ कीं।

प्रभु ने मुझे सहन शक्ति धैर्य व साहस दिया कि मैं उन कष्टप्रद दिनों को पार कर सकी। नौकरी पर जाना, घर का सारा काम करना, कमाई बढ़ाने के लिए दस-दस रुपये प्रतिमाह के ट्यूशन करना, अनेक बार देर रात तक दो-दो बजे तक जाग कर पुस्तकें लिखना, घर का पूरा खर्च और उत्तरदायित्व उठाते हुए पांच बच्चों के साथ उस छोटे से क्वार्टर में गुजारा करना आदि न जाने क्या-क्या कष्ट सहे। कुछ उतावले, अविश्वासी ऋणदाताओं के लिए उसी सीमित आय में से किश्तें भी बांधनी पड़ी थीं। ऐसे विषम आर्थिक संकट में अपने एकमात्र पुत्र को गुरुकुल से उठाकर स्कूली शिक्षा दिलाने के लिए मैंने ही आचार्य श्री को जैसे तैसे मनाया।

इस बीच हमारी कठोर तपस्या भी फलीभूत होने लगी। प्रभु कृपा से **"हिन्दी पाठावली"** पहली से चौथी तक की कक्षाओं के लिए स्वीकृत हो गई। तीन-चार वर्ष तक दिल्ली के स्कूलों में चली। फिर पहली (अ) कक्षा के लिए एक अच्छी पुस्तक **"पढ़ो मेरे लाल"** पाँच वर्ष तक स्वीकृत रही। इन पुस्तकों की बदौलत पर्याप्त कर्ज उतरा। साथ ही हम सभी ने

अत्यन्त सादा जीवन बिताया; और मैंने पैसा-पैसा दांत से पकड़ा। तभी धीरे-धीरे लगभग दस वर्षों में जाकर ऋण-भार से मुक्त हो पाये। पासा पलटा और अब वह ऋणदाता प्रकाशक ही हमारा देनदार हो गया था। पर उस देनदारी को वह यह कहकर पचा गया कि "मैंने तो अपने पास से पैसा निकाल कर दिया था। तुम्हारे कौन से ये अपने पैसे हैं, और फिर मैंने तुम्हें कुछ कर्ज का व्याज भी तो माफ किया था।" इत्यादि। सन् १९६२ में उसकी ओर हमारे दस एक हजार रु० निकलते थे। किन्तु उसने कुछ भी देने से इन्कार कर दिया। न इन्होंने और न मेरे पुत्र ने एक बार कहने के बाद दुबारा तकाजा किया। जो हुआ, सो हुआ। जैसे भी हुआ, अन्ततः वह दुःखद अध्याय समाप्त हो गया। इसके लिए हम अपने प्यारे प्रभु पिता को सदा धन्यवाद देते हैं कि उसके बाद किसी का एक पैसा भी देना नहीं बचा, न कभी किसी से कुछ मांगना पड़ा।

बच्चों की शिक्षा : आर्थिक दशा

हमारी बड़ी बेटी आशा ने १९५२ में दिल्ली बोर्ड से हाई स्कूल पास किया; और प्रथम बीस बच्चों की मैरिट लिस्ट में स्थान पाया था। परन्तु तब हमारे पास इतने साधन नहीं थे कि उसे कालेज में नियमित शिक्षा दिला पाते, यद्यपि उसे स्कालरशिप मिलता। फिर भी आने-जाने का किराया, पुस्तकों की फीस आदि का भार उठाने के स्थान पर उसे पंजाब से प्रभाकर कराके बाई पार्ट्स बी० ए० कराना पड़ा। लगभग एक वर्ष बाद वह भाषा-अध्यापिका का कार्य सतभ्रावां हाई स्कूल आर्यसमाज करोल बाग में करने लगी। पश्चात् सन् १९५७ में रिवाड़ी से बी० टी० किया और इसी स्कूल में कार्य करती रही।

हमारी यह प्रथम पुत्री आशा सचमुच अत्यन्त प्रबुद्ध थी। पहले प्रेस में हुए घाटे की इसे कुछ जानकारी थी। इसीलिए तब केवल १२ वर्ष की वय में भी इसने अपने पिता जी को दुबारा प्रेस न खोलने और कर्ज न लेने को सही सलाह दी थी। अपने परिश्रम को सही दिशा में रखकर, इसने शादी के बाद भी हिन्दी एम० ए० और पी-एच० डी० किया। रोहतक में अब यह हिन्दी की अत्यन्त लोकप्रिय प्रवक्ता का कार्य कर रही है।

इसी प्रकार अपने इकलौते पुत्र वेदव्रत को भी नियमित स्कूल की शिक्षा के स्थान पर पंजाब से प्राइवेट मैट्रिक कराया। फिर प्रभाकर भी पुत्री आशा के साथ इसीलिए कराया कि इसे भी बाई पार्ट्स बी० ए० करा देंगे। परन्तु भविष्य की सोच कर पुत्र को तो जैसे तैसे श्रीराम कालिज

में प्रविष्ट कराया। विषय दिलाए कामर्स इकनोमिक्स आदि। इस विचार से कि हमारे जीवन की न्यूनता उसे न खले, हम उसका आन्तरिक झुकाव नहीं जान पाये। वह भी अपने पिता-श्री जैसा निकला। ये नए विषय उसे कुछ अधिक नहीं रुचे।

आचार्य जी भी उसकी शिक्षा के दौरान उससे गुरुकुल का हिसाब-किताब तो संभलवाते ही थे, साथ ही वे उसे अपनी संस्कृत विद्या को आगे बढ़ाने की प्रेरणा भी प्रायः देते रहते थे। सन् १९५७ में वह वाणिज्य-स्नातक हो गया, और एक बैंक में सर्विस पाकर परिवार के लिए कुछ आर्थिक सहयोग करने लगा। पिता की प्रेरणा का और मनोवृत्ति का उस पर कुछ ऐसा प्रभाव हुआ कि उसने अर्थोपार्जन को जीवन में कभी महत्त्व नहीं दिया। कॉमर्स ग्रेजुएट होने पर भी उसने बैंकिंग की परीक्षाएं नहीं दीं। इसके स्थान पर फिर से संस्कृत अध्ययन की ओर लौट आया। १९६२ में उसने पंजाब विश्वविद्यालय से चौथा स्थान पाते हुए प्रथम श्रेणी में संस्कृत एम० ए० किया। फिर पी-एच० डी० के लिए कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय में छात्रवृत्ति पाई। अब दिल्ली के स्वामी श्रद्धानन्द कालिज में संस्कृत का प्रवर-प्रवक्ता है। यदि हम उसके विषयों के चयन में पहले से ही सही दिशा ले पाते तो उसका भविष्य और उज्ज्वल हुआ होता।

हमारी दूसरी व तीसरी बेटियों को, कुछ उनकी कम रुचि के कारण किन्तु मुख्यतया अपनी परेशानियों के कारण, हम अधिक नहीं पढ़ा सके। दोनों का विवाह भी शीघ्र हो गया। परन्तु आचार्य श्री के पुण्य प्रभाव से उन्हें योग्य वर प्राप्त हुए और वे सद् गृहस्थ का सुखी जीवन बिता रही हैं। चौथी पुत्री ने संस्कृत में ही एम० ए० और शिक्षा-शास्त्री उत्तीर्ण किया। सर्विस की अपेक्षा न होने से वह भी केवल गृहिणी ही है। वैसे उसके व्यक्तित्व-विकास में पिता के संन्यस्त होने का कुछ न कुछ दुष्प्रभाव अवश्य पड़ा होगा।

आचार्य जी की योगाभिरुचि

गृहस्थ जीवन में मैंने अपने पतिदेव में प्रधानतया सदा सांसारिक वैराग्य के ही दर्शन किये थे। मात्र सामाजिक कार्यों में रुचि, और उनमें भी आत्म-बलिदान पूर्वक जुट जाने की लगन इनमें कभी क्षीण नहीं हुई। इन्हें केवल धवल यश की ही कामना थी; और वह इन्हें प्राप्त भी हुआ। दूसरी ओर इनकी बाल-सुलभ सरलता के कारण जीवन में इन्हें लोभी और स्वार्थी साथियों से वास्ता भी खूब पड़ा। इसीलिए धीरे-धीरे समाज के

कार्यों के प्रति ये विरत होते गए। अपने एक साथी आचार्य विश्वश्रवा जी को गुरुकुल सौंप कर आध्यात्मिक उन्नति के लिए ये महर्षि पतञ्जलि के योग-मार्ग का अनुसरण करने लगे। ऋण-मुक्ति के असम्भव से कार्य को सम्भव हुआ पाकर इनका ईश्वर-विश्वास तो दृढ़तर हो ही चुका था, अब पूरी तरह 'ईश्वर-प्रणिधानी' बनने की दिशा में अग्रसर हो चले।

जीवन भर शास्त्राध्ययन करते-करते इन्होंने यह निष्कर्ष प्राप्त कर लिया था कि मानव जीवन का सर्वश्रेष्ठ उपयोग योग-साधन द्वारा ही किया जा सकता है। साथ ही आर्ष पद्धति के ही सदा अनुयायी रहने से यह भी इन्हें निश्चय था कि महर्षि पतञ्जलि ने जो कुछ कहा है वही प्रामाणिक है। वैसे भी योगदर्शन के प्रथम प्रतिपादक तो वे ही हैं। हाँ, उनके सूत्रों को समझने और व्यवहार में उतारने के लिए भाष्यकारों, व्याख्याकारों या अभ्यासियों से सहायता ली जा सकती है। इसी विचार से ये योग-निकेतन के संस्थापक ब्रह्मचारी व्यासदेव जी के पास जाने लगे। भारतीय दर्शनों की शास्त्रीय व्याख्या में इन्होंने उनसे भी समझौता नहीं किया। यद्यपि उनकी पुस्तकों के लेखन में इनका पाण्डित्य ही काम आया था।

पहले से ही ये सन्ध्या दोनों समय लम्बे समय तक और मौन ध्यानस्थ होकर करते थे। घण्टों एक ही आसन पर बैठ ध्यान लगाने का अभ्यास बढ़ाने लगे। शारीरिक क्रियाएं, आसन, व्यायाम व प्राणायाम भी धीरे-धीरे कम करने लगे। ध्यान योग को ही प्रमुख मानकर उसे साधने लगे। तब **'अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः'** को दिशा-निर्देशक मानते हुए गृह-त्याग का विचार इनमें घर करने लगा।

पिता श्री का गृह-त्याग

आचार्य श्री की माता जी १५ अगस्त १९५३ को अपनी इहलीला समाप्त कर स्वर्ग सिधार चुकी थीं। इनके पिता जी पर्याप्त पहले, सम्भवतः १९४४-४५ के लगभग, संन्यास लेकर स्वामी प्रकाशानन्द नाम से प्रसिद्ध हुए। वे गुरुकुल में ही रहकर वहां का हिसाब किताब संभालते थे। इन्होंने (आचार्य जी ने) जब गुरुकुल पर आचार्य विश्वश्रवा जी का वर्चस्व स्थापित करवा दिया था, तब वृद्धावस्था में पिता जी को १९६२ में हमारे घर लोधी रोड आकर रहना पड़ा। अपनी पारिवारिक व्यस्तता, आजीविका की बाध्यता और गिरते स्वास्थ्य के होते हुए भी, मैं और बच्चे यथासम्भव उनकी सेवा-शुश्रूषा में उपस्थित रहते।

बाबा का पोते पर स्नेह तो सर्वविदित है ही; उनका भरोसा अपने पोते वेदव्रत पर कुछ विशेष ही था। किन्तु उसे सन् १९६४ में शोध छात्र-वृत्ति के लिए कुरुक्षेत्र जाकर रहना पड़ा। आचार्य श्री अपनी योग-प्रवृत्ति एवं स्वाध्याय के चलते, उनकी ओर विशेष ध्यान नहीं दे पाते थे। उधर मेरे श्वसुर (पिता जी) अपने घुटनों की पीड़ा से बहुत हताश रहने लगे थे। उन्हें गर्मी, सर्दी दोनों ही बड़ी असह्य हो जाती थीं। उनकी आवश्यकता के अनुरूप एक कुटिया हम ने खुली जगह में बनवा दी थी। गुरुकुल में अब वह जा नहीं सकते थे। वहां सेवा कौन करता? इन सब कारणों से परेशान होकर लगता है उन्होंने एक कठोर कदम उठाया, और २९ अप्रैल १९६४ को प्रातः बिना किसी को कुछ बताए घर छोड़कर चले गए। कहां गए? क्या किया? बहुत खोजने पर भी कुछ पता न चला। इस पितृ-क्षोभ से आचार्य श्री बहुत सन्ताप एवं पश्चात्ताप का अनुभव करते रहे।

आचार्य जी का संन्यास

३० नवम्बर १९६७ को इन्होंने मुझ से ही अपने लिए गेरुए कपड़े रंगवाये। अगले दिन एक दिसम्बर, १९६७ को उठते ही प्रातः घर छोड़कर चले गए। मेरे मन में उस समय यह भाव तो घूम रहा था कि लो, अब इनसे सदा के लिए नाता समाप्त हो जाएगा। फिर भी कोई विशेष दुःख नहीं हो रहा था। कुछ ऐसा ही लग रहा था, जैसे कि कुछ लम्बे समय के लिए दूसरे गुरुकुल की ओर प्रस्थान कर रहे हों।

घर से जाकर पहले ये वैदिक भक्ति साधना आश्रम रोहतक में रहे। फिर अप्रैल १९६८ के प्रारम्भ में श्री स्वामी योगेश्वरानन्द जी महाराज का पत्र मुझे प्राप्त हुआ। उन्होंने लिखा था। "बेटी तुम्हारे पति १३ अप्रैल वैशाखी के दिन संन्यास लेना चाहते हैं। तुम्हारी अनुमति तो पहले ही मिल चुकी है इसलिए अब तुम से पूछने का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। उनके संस्कार में सम्मिलित होने के लिए तुम भी योग-निकेतन (ऋषिकेश) आ जाओ।" मैं यथासमय पहुंच गई।

योग-निकेतन, मुनि की रेती ऋषिकेश में १३ अप्रैल १९६८ वैसाखी के दिन अपने योग गुरु स्वामी योगेश्वरानन्द जी सरस्वती से इन्होंने विधि-वत् संन्यास ले लिया। महात्मा प्रभु आश्रित जी के उत्तराधिकारी स्वामी विज्ञानानन्द जी ने इन्हें गेरुए वस्त्र प्रदान किए। संस्कार के अवसर पर ये बड़े उत्साहित और प्रसन्न दिख रहे थे। इनका नाम स्वामी सच्चिदानन्द

रखा गया।

इनके सर्वस्व त्याग के अवसर पर भी मेरा मन बिल्कुल दुःखी न हुआ। यह देखकर वहां माता रामप्यारी देवी ने मेरी स्थिरता पर आश्चर्य प्रकट किया और कहा कि "आप को तो कुछ दुःख महसूस ही नहीं हो रहा। महात्मा खुशहाल चन्द जी जब 'आनन्द स्वामी' बने तब उनकी पत्नी तो बाल बिखेर कर जार-जार रो रही थी। वे तो अपने पति को संन्यासी बनने देना नहीं चाहती थीं।" मैंने उत्तर दिया—"जब इनकी ऐसी ही इच्छा है तो मैं क्यों रोकूं? कोई अशुभ कार्य तो कर नहीं रहे। यह इनके लिए श्रेय मार्ग ही तो है न? "मैं बाधक क्यों बनूं?"

अगले दिन दिल्ली लौटने के लिए मैं महाराज योगेश्वरानन्द जी के कमरे में प्रणाम-निवेदन करने गई। महाराज जी ने खड़े होकर भाव-विह्वल वाणी से जो मुझे आशीर्वचन कहे वे शब्द और वह दृश्य आज भी मेरी आंखों के सामने साकार हो उठता है। उन्होंने अत्यन्त स्नेहपूर्वक मेरे सिर और कन्धों पर हाथ रख कर कहा—"बेटी, तुमने तो सदा हिम्मत से काम लिया। घर का पालन-पोषण भी तुम्हीं ने किया है। ये तो सदा से ही संन्यासी जैसे रहे। पहले भी तुमने घर सम्भाला था, आगे भी तुम संभालोगी। कोई चिन्ता मत करना। इनके संन्यास लेने का तुम्हें कोई दुःख नहीं होना चाहिए। ईश्वर पर भरोसा रखो, वही तुम्हारा कल्याण करेगा।"

यह पवित्र आशीर्वाद आज भी मेरा विशेष सम्बल है। गुरुवर द्वारा निर्दिष्ट ईश्वर-विश्वास मुझ में पक्का होता गया। सचमुच ईश्वर अत्यन्त कृपालु है। उसी की दया से मेरे सारे कार्य समय-समय पर बनते रहे।

स्वामी सच्चिदानन्द जी योगी ने सारा जीवन समाज सेवा में त्याग-तपस्या पूर्वक अपने सुख बिसराते हुए बिता दिया। अपने गृहस्थ जीवन को भी उन्होंने अपनी लोक-यात्रा के लिए धन-सम्पत्ति-संचय का साधन बनाने के स्थान पर लोकहित पर न्यौछावर कर दिया। जिन साथियों पर सर्वाधिक विश्वास किया, उनसे भी अनेक बार धोखा और असहयोग मिला। इसी-लिए भारी हानियां भी उठाईं। उनके साथ-साथ पूरे परिवार ने भी आर्थिक पीड़ाएं झेलीं। तथापि ये सब कष्ट सहकर हमारा परिवार कुछ और निखरा ही। उनकी पुण्यात्मा के बल से और ईशानुकम्पा से मैं भी अपने सब कर्त्तव्य पूरे कर सकी, यही मुझे प्रसन्नता है। अब तो मैं अपने पिछले सारे कष्टों परेशानियों और चिन्ताओं को भुला चुकी हूं। बस अब यही कामना है कि मानव जीवन के वास्तविक लक्ष्य प्रभु प्राप्ति की ओर बढ़ सकूं। □

मेरे जनक, मेरे गुरु

—वेदव्रत 'आलोक'*

कोई भी पुत्र अपने पिता को अपना आदर्श पुरुष मानकर जीवन प्रारम्भ करता है, और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसका अनुसरण भी जाने-अनजाने करता ही रहता है। किन्तु अत्यन्त सामीप्य के कारण उसके गुण-दोषों से बार-बार दो चार होकर, तथा ममत्व के प्रभाववश व्यक्ति निष्पक्ष समीक्षक कम, आकृष्ट या विकृष्ट अथवा प्रशंसक या निन्दक अधिक हो जाता है। इस लघु लेख में मैं यत्न करूंगा कि आचार्य श्री राजेन्द्रनाथ शास्त्री के साथ मेरा आनुवंशिक अपनत्व भी मुझे असन्तुलित न करे।

मेरे समक्ष अपने पिताश्री का व्यक्तित्व अनेकधा नाना रूपों में उभरा है। उनके प्रति बहुधा जहाँ मैं श्रद्धा से नतमस्तक हुआ हूं, वहीं अनेकश: प्रेम, करुणा, उपेक्षा या आक्रोश के अच्छे और बुरे भावों से भी ओत-प्रोत हुआ हूं। जैसा-जैसा जब-जब मैंने अनुभव किया प्राय: उन पर प्रकट करने का अवसर भी पाता रहा हूं। अपनी धृष्टतावश और अपने दौर्भाग्य से मैंने उन पर अपने दुर्भाव ही मौखिक या लिखित रूप में अधिक मुखर होकर व्यक्त किये हैं। यह उनके अन्तेवासी शिष्य-शिष्याएँ भलीभाँति जानते भी हैं। ऐसा करके उनकी बाध्यताओं को पहचाने बिना जो मर्मान्तक वेदना मैंने उन्हें पहुंचाई है, उसके लिए मैं स्वयं ही खिन्न भी अवश्य हुआ हूं, और क्षमार्थी भी। आज सौभाग्य से जब यह संस्मरण-लेखन का सुअवसर उपलब्ध हुआ है, तो अपनी कटु-आलोचनापूर्ण छिद्रान्वेषी दृष्टि पर अंकुश रखकर अपने जन्म और दीक्षा दोनों के गुरु आचार्य-श्री का वह पुण्य स्मरण करना ही मेरे लिए अधिक उपयुक्त होगा, जिसका संकेत मैं अब तक अन्यत्र नहीं कर पाया हूं।

मेरा शैशव :

अपने बाल्यकाल का ऐसा कोई दृश्य मुझे स्मरण नहीं आता, जब पिताश्री ने मुझे गोदी में उठाया हुआ हो, किसी तरह से लाड़-लड़ा रहे हों या मेरा पक्ष लेते हुए किसी दूसरे से लड़-झगड़ रहे हों। इसके विपरीत,

---

* १५६५, हरध्यानसिंह रोड, करोलबाग

सदा अनुशासन का दृढ़ता-पूर्वक पालन करना-कराना ही उनके लिए आदर्श रहा है। यद्यपि वे मेरे लिए कोई हौआ नहीं थे, फिर भी प्रमुखतया एक भय-मिश्रित आदर का भाव प्रायः मेरे मन में उनके लिए बना रहता था। मुझे किन्हीं ऐसे अवसरों का भी ध्यान नहीं आता जब मेरी पिटाई हुई हो। वस्तुतः मैं कुछ दब्बू और झेंपू किस्म का बच्चा था, जो हल्की सी डांट से ही वश में हो जाता है। इसीलिए कभी ऐसा भी अवसर नहीं आया जब मैंने अपनी जिद पूरी कराई हो। और आज मैं खूब जानता हूं कि उनके आगे किसी का भी हठ चल ही नहीं सकता। उनकी इस विशिष्टता को मेरे भावुक बाल-मन ने भी अतिशीघ्र भांप लिया होगा, और इसलिए बाल हठ की भावना कभी जन्मी ही न होगी।

सत्य की सीख :

असत्य से उनको कितनी घृणा थी, इसका संस्कार मेरे शैशव में ही गहरा पैठ गया था। मेरी चार एक वर्ष की अवस्था में घटी एक छोटी सी घटना मेरे अन्तर्मन पर सैकड़ों बार बिजली की तरह कौंधती रही है। हमारा परिवार पिता जी के गुरु महाराज के यहां ऋषिकेश में ठहरा था। उस पर्वतीय प्रदेश में पिता जी के साथ घूमने और नदी स्नान आदि करने में बड़ा आनन्द आता था। सरिज्जल, मछलियां और पर्वत-रेखाएँ सब ने मिल कर मेरे उस बालमन में मस्ती भर दी थी। एक शाम अपने छोटे भाई दिवंगत ब्रह्मव्रत के एक छोटे से खिलौने से मैं खेल रहा था। वह काठ का रंगा हुआ गोल सा पात्र था। बालसुलभ जिज्ञासा से मैं उस पर अपना शक्ति-परीक्षण करने लगा और वह टूटकर दो खण्डों में विभक्त हो गया। मुझे कुछ भय लगने लगा तो मैंने एक चाल चली। दोनों टुकड़ों को मिला-कर पकड़ा और सब को बताने लगा—"देखो, यह कटोरा एक है न। मैं इसके दो टुकड़े कर के दिखाऊँ।" और इस घोषणा के साथ वे दोनों टुकड़े पृथक् पृथक् कर के दिखा दिये। सोचा था कि शायद मेरी शक्ति की प्रशंसा की जाएगी। किन्तु मेरी हाथ की सफाई कुछ काम न आई। भेद खुल ही गया कि खिलौना तो मैं पहले ही अपनी गलती से तोड़ चुका था, और अब झूठा प्रदर्शन कर रहा हूं। इस झूठे दिखावे पर पिता जी से ऐसी डांट पड़ी कि सिट्टी-पिट्टी गुम। वे बहुत नाराज रहे और अगले दिन भी इस चालाकी के लिए टोका। तभी से झूठ के प्रति मन में भय का ऐसा भाव बैठ गया कि मजाक के लिए भी आज तक झूठ नहीं बोल पाता। और कभी बोलने का साहस जुटाऊँ भी तो तत्काल धर लिया जाता हूं। असत्य से पिता जी को

इतनी चिढ़ रही है कि किसी का छोटा सा भी झूठ या बातों को घुमाना-फिराना उनके लिए असह्य हो जाता हैं।

सादगी और अनुशासन :

पिताजी स्वयं सदा से बहुत सादगी-पसन्द रहे हैं। प्रभु से उन्हें सुदर्शन आकृति और स्वस्थ शरीर प्राप्त हुआ था। हमारी दादी भी उनकी 'सुग्गा सी नाक' पर मुग्ध-भाव से बहुत गर्व अनुभव करती थीं। रंग-रूप तो आकर्षक था ही, आचरण, व्यवहार और वार्तालाप में एक धीर-गम्भीर भाव स्थायी रूप से बना रहता था। आत्मविश्वास तो उनमें सर्वदा गजब का रहा है। इस सब वैशिष्ट्य के होते हुए उन्हें बाहरी दिखावे की या वेशभूषा पर विशेष श्रम करने की आवश्यकता अनुभव नहीं होती थी। न उनके शरीर पर कभी आडम्बर देखा, न मन में। जैसा सोचा, वैसा ही कहा, और जैसा कहा वैसा ही किया। मन, वचन, कर्म की एकरूपता का वे आदर्श उदाहरण थे। ऐसा ही वे हमें भी वनाना चाहते थे। 'सादा जीवन उच्च विचार' का आदर्श वाक्य केवल मौखिक रूप से दुहरा कर नहीं, अपितु अपने जीवन में क्रियान्वित कर के वही हम में प्रतिष्ठित करने का सतत प्रयत्न उन्होंने किया।

मुझे वे सदा सादे ब्रह्मचारी के वेष में देखना ही पसन्द करते थे। लोधी रोड में आने के बाद, शहरी लड़कों की देखा-देखी मेरा मन भी नई तरह के वस्त्र पहनने को करता था। एक बार माता जी मेरे मौसेरे भाई की एक मखमली निक्कर मेरे लिए ले आयीं। पहनकर देखा तो उतारने का मन ही न किया। उसकी कोमलता और पहनने पर चुस्त अनुभूति बहुत भाई थो, पर पिताजी का भय था। सो निक्कर के ऊपर से कटि-वस्त्र वांध लिया। पिताजी के सामने ऐसे रहा, और उनके जाने पर ऊपरी आवरण हटाकर मस्ती से निक्कर में ही घूमता रहा। दो तीन दिन ही इस प्रकार इस निक्कर को पहनने का आनन्द ले पाया था कि एक दिन पकड़ा गया। अपने प्रिय वस्त्र से तो वंचित हुआ ही, डांट पड़ी सो अलग। माता जी की कृपा से बस पिटाई नहीं हुई।

नियमित दिनचर्या :

आत्मसंयम और अनुशासनपूर्वक नियमपालन करना-कराना पिताश्री का आदर्श था। उनकी अपनी दिनचर्या तो नियमित होती ही थी, हम से भी अपनी दैनन्दिन गतिविधियों को संयत करने के लिए प्रातः से सायंकाल

तक की समय-सारिणी बनवाते थे। हमें बार-बार उसमे रद्दोबदल अवश्य करना पड़ता था, क्योंकि बनाते समय तो हम भी एक आदर्श उपस्थित करना चाहते थे, किन्तु बाद में अन्य आकर्षणों में फंस कर उस पर खरे नहीं उतर पाते थे। फिर भो हमारे सामने एक दिशा-निर्देशन सा सदा बना रहता था। आधुनिक दूरदर्शन की 'उदारता' से अपने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समय को अकाल कवलित होने से न बचा पाने वाले भारत के भावी कर्णधारों के लिए अपनी दिनचर्या की ऐसी समय-सारिणी बनाना आज और अधिक आवश्यक हो गया है। आज के अभिभावकगण बच्चों के लिए ऐसी समय-सारिणी का महत्त्व कब समझेंगे ? आचार्य श्री ने तो इस की उपयोगिता भी भांप ली थी जब हम जैसे साधन-हीन बच्चों के पास आकर्षण और भटकाव के इतने माध्यम ही नहीं होते थे।

मेरी चोरी उनका दण्ड :

बचपन में एक बार छोटी सी चोरी करके मैंने हाथ की सफाई दुबारा दिखा डाली। तब मैं ८-१० वर्ष का था। अवसर था दीपावली का। आर्थिक स्थिति के अनुरूप माता जी से हमें कुछ पैसे मिले। दीदी तथा मैं बाजार से पटाखे खरीदने गये। उन थोड़े से पटाखों से मुझे सन्तोष नहीं हो रहा था। लोधी रोड में मेहरचन्द खन्ना मार्केट की पटरी पर हम दोनों खड़े थे और मैं ललचाई निगाह से पटाखे देख रहा था। एक दुकान पर काफी भीड़ थी। मैं भी उसमें शामिल होकर पटाखों का निरीक्षण करने लगा। दुकानदार की नजर बचाकर एक जलेबी विच्छू(जो उस समय एक टके का आता था,) मैंने सरका ही तो लिया, और चुपके से खिसकता बना। घर आकर मैंने स्वयं अपनी चतुराई का वर्णन सब के सामने करना प्रारम्भ किया। मैंने सोचा भी न था कि पिता जी सुनकर स्तब्ध रह जाएंगे ! झट से मेरे कान पकड़ कर झिड़का और धिक्कारा। उन्होंने कहा-ऐसे ही अपने कुल का नाम ऊंचा करोगे ?

मेरे लिए यह प्रायश्चित्त निश्चित किया गया कि मैं अकेला उल्टे पैरों वापस जाऊं, उसी दुकानदार को क्षमा याचनापूर्वक वह पटाखा लौटाऊं, और वह जो दण्ड दे उसे स्वीकारूं। अब घर से वापस मैं चल तो पड़ा, किन्तु उस दुकानदार के सामने जाने का साहस और आत्मदण्ड पाने की सहनशीलता कहां से लाऊं ? स्वयम् उससे कैसे कहूं कि "भाई मुझे मार, जो सजा देनी है दे।" दूसरी ओर इतना झूठ भी नहीं बोल सकता था कि उस पटाखे को तो सड़क पर ही फैंक जाऊं, और देर से घर लौटकर कोई

झूठी कहानी घड़कर सुना दूं। सो डरता-डरता फिर उसी दुकान पर जा खड़ा हुआ। जिस तरह चोरी से वह बिच्छू उठाया था, उसी चोरी से उसे वहां फेंककर वापस मुड़ लिया। अब जाकर जान में जान आई। गहरी सांसें भरता हुआ जब घर लौट रहा था तब उस दुष्ट 'बिच्छू' का दंश मन में फैलकर बार-बार यही प्रतिज्ञा करवा रहा था—"हे भगवान्! ऐसी शर्मिन्दगी वाला कोई काम आगे से कभी न करूं।"

घर आकर मैंने अपने प्रायश्चित्त-प्रकार और प्रण से पिता श्री को अवगत कराया। तब उन्होंने भी सदा सावधान रहते हुए अपने ही 'स्व' से सन्तुष्ट रहने का जो निर्देश दिया, वह अब गहरा संस्कार बन कर हृदय में उतर चुका है। **'पर-द्रव्येषु लोष्ठवत्'** और **'मा गृधः कस्यस्विद्धनम्'** का सिद्धान्त उनके जीवन में और फलतः हमारे लिए भी शास्त्र वचन नहीं, वस्तुतः व्यवहरणीय जीवन-निर्देशक मूल्य रहा है।

आदर्शों से बंधे भावुक पिता :

बारह वर्ष की अवस्था तक मेरी शिक्षा-दीक्षा गुरुकुल श्रीमद्दयानन्द वेद विद्यालय में ही हुई। यह कैसे सम्भव था कि जिस शिक्षा को वे पूरे भारत के नौनिहालों के लिए अपरिहार्य समझते हों, उससे अपनी सन्तति को वंचित रखते। मेरे साथ-साथ दीदी भी उसी गुरुकुल की छात्रा थीं। नहीं, मुझे कहना चाहिए 'छात्र' थीं। हां, मेरी तरह उन्हें भी ब्रह्मचारियों जैसी वेशभूषा ही धारण कराई गई थी। उन का नाम भी शिक्षा के समय भिन्न होता था 'ब्रह्मचारी वीरेन्द्र'। उनकी दस वर्ष की वय में, जब माता जी को लोधी रोड में क्वार्टर मिल गया, तव गुरुकुल छोड़कर ब्रह्मचारी वीरेन्द्र बनी मेरी दीदी पास के एक स्कूल में पढ़ने लगी थीं।

गुरुकुल के छात्रावास में अन्य छात्रों के साथ मैं भी एक अन्तेवासी शिष्य की भांति रहता था। ऐसा कोई प्रसंग स्मरण नहीं आता जब मुझे आचार्य-पुत्र होने के नाते कोई विशेष छूट मिली हो। अवश्य यह आभास कभी-कभी कोई साथी छात्र ही मुझे करा देता था कि—"तुम तो आचार्य जी के पुत्र हो, अर्थात् विशिष्ट हो।" इस संकेत से एक उत्तम पिता की सन्तान होने का आत्मगौरव तो मैं अवश्य अनुभव करता था, किन्तु ऐसा कभी नहीं लगा कि इस नाते कुछ विशेष अधिकारों या अन्यों से विशिष्ट व्यवहार की अपेक्षा मैं कर सकता हूं।

गुरुकुल में मेरा खान-पान भी औरों की ही तरह सामान्य होता था। घर से या गुरुकुल से कोई विशिष्ट पदार्थ मुझे प्राप्त नहीं हो सकता था।

अन्य अनेक विद्यार्थी अपने पास घृत, गुड़ आदि अतिरिक्त रखते थे। कुछ जो सम्पन्न थे, दुग्ध-पान भी करते थे। किन्तु मैं ऐसे तत्त्वों से वंचित ही रहा। बाद में होश संभालने पर मैंने पिताश्री को ऐसा पश्चात्ताप अभिव्यक्त करते देखा था कि—"मैंने दूसरे बच्चों के लिए तो छात्रवृत्तियां बंधवाईं किन्तु अपने पुत्र के लिए कभी ऐसा प्रयास नहीं किया।" उनकी इस अनुभूति में एक निष्पक्ष आचार्य के भीतर से एक मर्माहत पिता की करुणा प्रवाहित होती दिखाई देती है। एक ओर वे सावधान थे कि आचार्य होते हुए कोई पक्षपात अपने पुत्र के प्रति न कर बैठें। दूसरी ओर, उनमें छिपे हुए भावुक पिता को यह भान भी था कि उनके पुत्र के साथ पूरा न्याय नहीं हो रहा है। ऐसी दुविधा में होने पर भी वे मुझे अपने गुरुकुल में देखकर सन्तुष्ट ही होते थे।

एक उत्तम शिक्षक :

आचार्य श्री की अध्यापन-शैली में एक आदर्श अध्यापक के सभी सद्‌गुण सन्निहित थे। स्वयं वे तो अध्यापन के समय समग्रत: एकाग्र हो ही जाते थे, अपने छात्रों से भी अपेक्षा रखते थे कि वे भी पूर्णत: एकाग्रचित्त हों। किसी का इधर-उधर ध्यान बंटना उन्हें असह्य था। वैसे, सुबोध शिक्षण-शैली के फलस्वरूप प्राय: सभी छात्रों की एकाग्रता बनी ही रहती थी। समझाने में, बार-बार दोहराने में, विद्यार्थियों द्वारा प्रश्न करने पर प्रसन्न होकर समाधान करने में उन्होंने कभी कोताही नहीं की। विद्यार्थी में शंका जागना, उनके अनुसार शुभ लक्षण होता है। इस सन्दर्भ में एक उदाहरण वे प्राय: सुनाया करते थे।

एक गुरुदेव ने अपने शिष्य को अष्टाध्यायी पढ़ाई। पूरी पढ़ाकर पूछा—"समझे या नहीं ?" शिष्य ने कहा—"हां जी, समझ गया।" गुरुदेव बोले—"नहीं कुछ नहीं समझे। दुबारा पढ़ो।" शिष्य ने दुबारा पढ़कर बताया –'गुरुवर ! समझ तो गया, किन्तु कुछ-कुछ शंकाएं भी हैं।' गुरु जी ने फिर कहा—'हे तात ! अभी तीसरी बार फिर पढ़ो।' इस बार पढ़कर शिष्य का कहना था—'हे गुरुदेव ! अब तो शंकाएं ही शंकाएं उत्पन्न हो रही हैं।' गुरु जी ने समाधान यह सुझाया—'ठीक है, अब तुम विषय को समझने लगे हो। अत: स्वयं पढ़ो और शंकाओं के उत्तर भी स्वयं खोजो।' इस प्रकार पुनरावृत्तियां करते-करते वह शिष्य स्वयं ही उन शंकाओं का समाधान करने योग्य भी हो गया। इस दृष्टान्त पर आचार्य श्री का निष्कर्ष था—"जब तक न समझो, झूठी हां मत करो। और जब समझने

लगो, तब बार-बार अभ्यास करके परीक्षा में खरे उतरो।"

आचार्य श्री के सान्निध्य में हम ने यह साक्षात् अनुभव किया कि अध्यापन द्वारा शिक्षक स्वयं को बखूबी प्रतिबिम्बित किया करता है। यूं तो गुरुकुल में अन्य अध्यापक भी थे, किन्तु आचार्य श्री से पढ़ी हुई 'वर्णोच्चारण शिक्षा और अष्टाध्यायी' हमें जैसी रुचिकर और स्पष्ट प्रतीत होती थी, वैसे अन्य विषय नहीं। कहना न होगा कि व्याकरण में आचार्य श्री की अपनी निजी अभिरुचि और विशेषज्ञता का प्रतिफलन ही शिष्यों में भी होता था।

संस्कृत पठन-पाठन ही पिताश्री का सर्वप्रिय कार्यक्षेत्र था। भाषा पर अधिकार कराने के लिए गुरुकुल में संस्कृत-संभाषण अनिवार्य था। नव-प्रविष्ट-छात्रों को कुछ छूट के बाद यथाशीघ्र शुद्ध-अशुद्ध संस्कृत-प्रयोग के लिए तैयार कर दिया जाता था। तब संस्कृतोच्चारण में हम सभी छात्रों के मन-मस्तिष्क में एक स्वस्थ प्रतिस्पर्धापूर्ण आनन्द और गौरव की अनुभूति संस्कृत-प्रेम के संस्कार सुदृढ़ करती थी। हमें संस्कृत-साहित्य भी पढ़ाया जाता था, किन्तु ध्यान पूर्वक छांटकर केवल वे ही ग्रन्थ पढ़ाए जाते थे, जो महर्षि दयानन्द द्वारा सत्यार्थप्रकाश में स्वीकृत हैं।

संस्कृत-भाषा में प्रवीणता के लिए अनुवाद का अभ्यास आचार्यवर एक विशेष ढंग से कराते थे। 'जो साहित्य पढ़ा है, उसी के भाषानुवाद को अपनी संस्कृत में लिखना और फिर मूल संस्कृत से मिलाना। इससे साहित्य-स्रष्टा और अनुवाद का अन्तर हमें स्वयं समझ आने लगता था। आगे चलकर जब मैंने उनसे अनुवाद सीखा तब उन्होंने कुछ और सूत्र भी दिये। वे भी यहां उल्लेखनीय हैं। 'समासों का प्रचुर उपयोग विभक्तियों में अटके रहने की अपेक्षा सरलतर है, और अधिक प्रभावशाली भी। अनुप्रासमय पर्यायवाची शब्दों को खोजकर प्रयोग करना चाहिए, और किसी भी शब्द को दुबारा नहीं आने दें तो भाषा पर अधिकार द्योतित होता है। एक और आसान सा रहस्य भी उन्होंने बताया कि प्रवाहमयी भाषा के लिए वाक्य की क्रिया को आगे पीछे सरकाकर कहीं-कहीं गुप्त रखकर और कहीं निष्ठा-प्रत्ययों द्वारा व्यक्त करके गद्यकवि बाणभट्ट की रीति का अनुसरण किया जा सकता है।'

मेरा गुरुकुल छोड़ना :

बारह वर्ष की अवस्था में गुरुकुल छोड़कर मैंने दो वर्ष की प्राइवेट पढ़ाई करके मैट्रिक पास किया। पर मैं चौदह वर्ष की अवस्था में ही कालेज

में प्रवेश ले लेता तो अन्तिम परीक्षा के समय एक वर्ष रुकना पड़ता। इस दृष्टि से गुरुकुल में ही लौटकर पढ़ता रहा और प्रभाकर की परीक्षा उत्तीर्ण की। १९५२ में गुरुकुल में इस तरह की कुछ प्राइवेट परीक्षाएं प्रारम्भ की गई थीं। इसके पश्चात् चार वर्ष तक कालिज की शिक्षा द्वारा कॉमर्स-ग्रैजुएशन करके एक बैंक में आजीविकोपार्जन प्रारम्भ कर दिया। घर की आर्थिक स्थिति और ऋण-भार को देखते हुए यह अनिवार्य हो हो गया था।

पिताश्री की स्वाध्यायशीलता :

पिता जी माता जी मिलकर इन दिनों पुस्तकें लिखा करते थे। इस से पहले भी पिता जी सदा स्वाध्याय में डूबे रहते थे। लोधी रोड के क्वार्टर में कुल दो ही तो कमरे थे। एक में उनकी किताबें फैली रहती थीं। इन्हें कोई बच्चा छू नहीं सकता था। दीदी को फैला हुआ कमरा बुरा लगता था, और वे कभी-कभी उनके ग्रन्थों को भी समेट देती थीं, तब पिता जी बहुत परेशान हो जाते। गुस्सा करते—"कौन छेड़ता है मेरी पुस्तकें ?" जब पता चलता कि किस ने छेड़ा है तो क्रोध के स्थान पर अनुनयपूर्वक कहते 'मेरी पुस्तकें पसन्द नहीं हैं, तो बाबा मैं इन्हें लेकर कहीं और चला जाता हूं।' और फिर दुबारा उनका शास्त्रागार अपनी उसी दशा में पहुंच जाता। दीदी भी ध्यान रखतीं कि उन्हें फैलने तो दिया जाए, किन्तु कम से कम स्थान में। जिस वर्ष मेरी आजीविका प्रारम्भ हुई उसी वर्ष दीदी का विवाह हो गया। पिताजी का पुस्तक-प्रसार फिर से निर्बाध हो गया।

मेरा पुनः संस्कृताध्ययन :

ईश्वर-कृपा से घर का ऋण-भार कुछ कम होने लगा। किन्तु आर्थिक ऋण हटने लगा तो उसके स्थान पर ऋषि-ऋण का भार पिताश्री को अधिक अनुभव होने लगा। संस्कृत-शिक्षा से मेरा हटना उन्हें पहले भी नहीं रुचा था, वह अब और अधिक खलने लगा। उनके मर्मस्पर्शी उद्‌गारों का भाव कुछ इस प्रकार का प्रायः होता था—'वेद ! पारिवारिक बाध्यतावश तुम्हें गुरुकुल से उठाना पड़ा था। यह तथ्य मुझे बहुत दुःख देता है। अब यदि तुम संस्कृत में एम०ए० कर लो तो मुझे बहुत प्रसन्नता होगी। गुरुकुल छोड़ने का कुछ प्रतिकार भी हो जाएगा। और ऋषि-ऋण से कुछ उऋण हो सकेंगे।'

मेरा संस्कृत से सम्बन्ध लगभग सात वर्ष तक टूटा रहा था। अब

वाणिज्य-स्नातक को एम०ए० में यह विषय मिलता भी कैसे ? परन्तु मेरे भविष्य को तो यही स्वीकार था। उन दिनों दिल्ली में मन्दिर मार्ग पर पंजाब विश्वविद्यालय का कैम्प कालिज हुआ करता था। उसमें एम०ए० का फाँर्म भरा और विषयों की प्राथमिकता-सूची में संस्कृत को प्रथम स्थान दे दिया। प्रवेश-निरीक्षक थे पं० भगवद्दत्त जी बी०ए० रिसर्च-स्कालर। पूछा—"तुमने स्नातक परीक्षा में संस्कृत विषय भी नहीं लिया। अब एम० ए० कैसे कर लोगे ?" मैंने पूरे विश्वास से कहा—"मैं गुरुकुल का छात्र रहा हूं। संस्कृत मेरे लिए मातृभाषा जैसी है।" और शेष साक्षात्कार संस्कृत में ही हुआ। ऐसे संस्कृत-भाषी विद्यार्थी को उन्होंने स्वीकार कर ही लिया। इस प्रकार मेरे जीवन की गाड़ी जो अपने सु-संस्कृत-गुरुमार्ग से भटक गई थी, फिर से अपनी राह पर लौट आई।

पिताश्री अपने प्रेस के भारी ऋणाभार से जैसे-जैसे मुक्त होते गये, वैसे-वैसे मैं भी अपने अनचाहे विषय 'काँमर्स' और उसकी व्यावसायिकता से पृथक् होता गया। प्रतीत होता है, जैसे वे परिवार को आर्थिक आधार देने के लिए नहीं जन्मे थे, वैसे ही मैं भी व्यापार-व्यवसाय के लिए नहीं बना था। हां **'अव्यापारेषु व्यापारम्'** की भागदौड़ ने हम दोनों को लगभग एक-एक दशाब्दी का समय अवश्य हड़प लिया। कभी-कभी मुझे लगता जैसे मेरे साथ नियति ने बड़ा अन्याय किया है। प्रारम्भ से एक ही दिशा रही होती तो विशेषज्ञता अधिक आती। कभी पिताश्री का भी दोष दिखता कि उन्होंने मेरा रुझान देखे बिना एक नये विषय में क्यों फंसा दिया। किन्तु दूसरी ओर जब मैं इस का अच्छा प्रभाव सोचता हूं तो यह ग्लानि निश्शेष भी हो जाती है। विविध विषयों की जानकारी से और गुरुकुल तथा काँलेज में दो विरोधी प्रकार की जीवनशैली के प्रत्यक्ष साक्षात्कार से कट्टरता चली गई, कूपमण्डूकता का शिकार न हुआ, अनुभव बढ़ा और दृष्टिकोण में सन्तुलन तथा समन्वय-शक्ति का प्रवेश हुआ। बिना भटके यह औदार्य सम्भवत: न आया होता। इसलिए यह विषयान्तर भी मेरे मंगल के लिए ही हुआ था।

संस्कृत एम०ए० करते हुए तथा बाद में पी-एच०डी० के लिए शोध-प्रबन्ध लिखते समय पिताश्री का पुष्कल सहयोग और मार्गदर्शन समय-समय पर उपलब्ध हुआ और मैं यथेष्ट लाभान्वित हुआ। इसके अतिरिक्त, शोध-छात्रवृत्ति तथा आजीविका हेतु नियुक्तियां प्राप्त करने में उनका पुण्य और ख्याति दोनों मेरे सहायक हुए। ऐसा मानते-जानते हुए मैं उनके प्रति अनेकश: कृतज्ञता अनुभव किया करता हूं।

आचार्यश्री का संस्कृतानुराग :

संस्कृत के प्रति पिताश्री का विशेष अनुराग सर्वथा बद्धमूल एवम् अकम्पनीय था। कैसी भी परिस्थितियों की ज्वाला उसे झुलसा न पाई थी। चौधरी देशराज के यहां उन्होंने ब्रिटिश इन्स्टिच्यूट की पोस्टल ट्यूशन स्कीम के अन्तर्गत अंग्रेजी के पाठ देखे थे। उसी तरह उन्होंने भी **'घर बैठे संस्कृत सीखो'** को योजना पर बहुत समय तक कार्य किया और तदर्थ 'पाठ' तैयार किए थे। १९६०-६२ में जब मैंने संस्कृत एम०ए० किया, तब वे संस्कृत-प्रसार की इस योजना को क्रियान्वित करने की धुन से भरे हुए थे। दिल्ली के रामलीला मैदान में आयोजित सार्वदेशिक के एक वार्षिकोत्सव (सम्भवत: १९६१ में) मैंने एक स्टाल लगाकर उनकी पत्राचार द्वारा संस्कृत-शिक्षण की इस योजना के विज्ञापन वितरित किये थे। इसके प्रति जनरुचि की पराङ्मुखता का भान और अत: इसके सफल न हो पाने का पूर्वानुमान भी मुझे तभी हो गया था जो स्वाभाविक था। बाद वही सही सिद्ध हुआ।

मेरा विवाह, उनका संन्यास :

अपने 'नवजीवन प्रेस' से एक बार पिता जी ने मेरे और दीदी के नाम वाले पैड छपवाकर हमें उपहार में दिये थे। मेरे पैड पर मेरे नाम से पूर्व उन्होंने ('ब्र०' ब्रह्मचारी) शब्द टंकित करवाया था। उस समय तो इसका भाव कुछ ऐसा था कि मुझे ब्रह्मचर्य का पालन करना है। घर में रहते हुए भी ब्रह्मचारी के यम-नियमों का उल्लंघन नहीं करना है। तथापि कभी-कभी मुझे ऐसा भी लगता है कि वे शायद मुझे आजीवन ब्रह्मचारी ही देखना चाहते थे। यही कारण है कि मेरे विवाह के लिए उन्होंने कभी क्षिप्रता नहीं दिखाई। सच तो यह है कि मुझे अपनी बहनों के माध्यम से ही उन तक अपनी विवाहेच्छा प्रेषित करनी पड़ी थी। फिर यथासमय मेरा विवाह हुआ और उससे बनका गृह-त्याग कुछ सुगम ही हो गया। मनु के निर्देश **'अपत्यस्यैव चापत्यं दृष्ट्वा वनमुपाश्रयेत्।'** को अपनाते हुए मेरी पहली सन्तान के एक वर्ष बाद उन्होंने घर छोड़ दिया। यह पौत्री थी, पौत्र नहीं था। तब उन्होंने 'अपत्य' शब्द से दोनों का संकेत मानते हुए शास्त्र-विरुद्ध कुछ न करने का सन्तोष प्राप्त कर लिया था।

घर से वे पहली दिसम्बर १९६७ को गये थे। तब मैं नारनौल के गवर्न्मेंन्ट कालेज में अस्थायी रूप से नियुक्त हुआ था। मुझे माताजी के पत्र से पिता जी के गृहत्याग की सूचना प्राप्त हुई। उस समय मेरी मनोदशा

अपने आर्थिक एवं पारिवारिक कारणों सें असन्तुलित सी थी। स्वयं भी एकाकी जीवन यापन कर रहा था। फिर पिता जी नें पिछले सात एक वर्ष से विभिन्न समयों पर दीर्घकाल तक योग-साधना हेतु श्री स्वामी योगेश्वरानन्द जी के पास रहना प्रारम्भ किया हुआ था। इन कारणों से किसी आश्चर्य या दु:ख-विशेष का अनुभव तो नहीं हुआ। किन्तु ऐसा कुछ अवश्य लगा जैसे मेरे अपरिपक्व कन्धों पर भार बढ़ गया है। कारण, मेरे अपने परिवार के अतिरिक्त अभी एक अविवाहित छोटी बहिन १६ वर्ष की थी, जो हायर सैकण्डरी में पढ़ रही थी। पिता जी का गृहत्याग उसी को सर्वाधिक खला भी था। उसके प्रति मेरा भी उत्तरदायित्व बढ़ गया था। स्वभावत:, मुझे इसी चिन्ता-विशेष ने अधिक सताया होगा।

मुझे आर्थिक स्थिति से व्यवस्थित होने में पर्याप्त समय लगा। एक सम्बन्धी भी हमें ऐसा मिल गया था जो हमारे लिए समय-समय पर आर्थिक क्षति का कारण बनता था। उसके द्वारा विश्वास-वंचित होने पर भी फिर-फिर हमें उसकी सहायता करनी पड़ती थी। इस कारण मनो-मालिन्य सा प्राय: बना रहता था।

'योगी का आत्मचरित्र' से मेरा असहयोग :

ऐसी परिस्थितियों में स्वामी जी ने बताया कि वे महर्षि दयानन्द की कलकत्ते वाली **'अज्ञात जीवनी'** का परीक्षण करके पुस्तकाकार छापना चाहते हैं। मुझ से शोधात्मक सहयोग उन्हें अपेक्षित था। आज जब मैं उनका पुण्य स्मरण कर रहा हूँ तो अपने पाप को कैसे भूल सकता हूं। इस संस्मरण में आत्मस्वीकृति द्वारा मैं उसका कुछ प्रायश्चित्त भी करना चाहता हूं। उस समय मेरे लिए अपनी परेशानियां प्रमुख हो गई थीं। मैंने किसी भी प्रकार के लेखन, सम्पादन या वितरण से असहयोग की ठान ली। उन्हें मैंने स्पष्ट परामर्श दिया—"आपको ऐसे किसी प्रकार के पचड़े में नहीं पड़ना चाहिए, जो योग-साधना-पथ से भटकाये। आपने जिस कार्य के लिए गृह त्यागा है, उसे पूरा कीजिए। केवल योग-साधना कीजिए। यह प्रकाशन का भूत आपको फिर से क्यों चिपट रहा है ?"

उन्होंने मेरे इस आक्षेप के समाधान में जो कारण तब बताया, वह मेरे गले न उतरा। किन्तु जब १२-१३ वर्ष बाद स्वयम् उसी ऋषि-ग्रन्थ पर कार्य करने का मेरे जीवन में सु-अवसर आया, तब मुझे उनके उस कारण और बाध्यता की सच्चाई का साक्षात् अनुभव हुआ। उन्होंने कहा था — "अपने योगमार्ग की सम्पुष्टि और स्पष्टीकरण के लिए मैं इस 'अज्ञात

जीवनी' के प्रति आकृष्ट हुआ हूं। इसमें संकलित योग-साधना के सिद्धान्त और क्रियात्मक पद्धति महर्षि दयानन्द की विशद, निर्द्वन्द्व और और संशयच्छेदी शैली में है। इसी से महर्षि पतञ्जलि के योगदर्शन-विषयक मेरी सब शंकाओं का समाधान हुआ है। अपने ऋषि-ऋण को चुकाने के लिए इस जीवनी पर उठने वाले अवांछित विवादों का प्रतिकार करना मेरा कर्त्तव्य है।"

१९७१ में वे इस ऋषि-रचना को छपवा रहे थे। उन दिनों मैं कुछ ऐसे अनिर्वचनीय पारिवारिक आक्रोश से बेचैन था कि उनसे सहयोग न करना ही मुझे उचित लगा। ऐसा करके मैंने पिता श्री के प्रति अपराध तो किया ही, स्वयं को भी 'ऋषि-जीवनी' से सम्बद्ध अनेक तथ्यों से वंचित कर लिया। यदि उस समय मैं भी उनके साथ जुड़ पाता तो उनके अकेले पड़ जाने से 'योगी का आत्मचरित्र' में आई छापे की अशुद्धियां कुछ कम हो जातीं। सम्भवत: उनके अनुसन्धान भाग में आये चमत्कारपूर्ण प्रसंगों पर भी मैं कुछ अंकुश रख पाता। इससे विद्वानों के बीच अवांछनीय कटुता भी शायद कुछ कम हुई होती, किन्तु ऐसा न हो सका, और उसके लिए मैं कहीं न कहीं दोषी हूं। अपने इसी दोष के परिमार्जन-हेतु मैंने 'महर्षि का अपना जन्मचरित्र' के अनुसन्धान, सम्पादन, प्रकाशन और वितरण में श्री आदित्यपाल सिंह जी आर्य के साथ पूर्ण सहयोग किया है। पर मैं स्पष्ट देखता हूं कि जिस प्रखरता से स्वामी जी ने वितरण किया करवाया, हम नहीं कर पा रहे।

'योगी का आत्मचरित्र' का प्रकाशन जब परिणति पर था तब दिसम्बर १९७१ से मैंने कुछ सहयोग दिया, और स्वामी जी ने उसी को बहुत मानकर मेरी भूरि-भूरि प्रशंसा की। फिर वितरण और बिक्री का हिसाब रखने का काम मुझ पर ही आ गया। हम सभी ने हाथ बंटाया और कुछ ही वर्षों में वह ग्रन्थ भी दुर्लभ हो गया। स्वामी जी की इच्छा थी कि उसके पैसों से सत्साहित्य का प्रकाशन-वितरण आगे भी चलता रहे। यह सब कौन करता? अत: वह सारा पैसा स्वामी जी को 'योगधाम' ज्वालापुर तथा 'योगमठ' हैदराबाद में कुटी-निर्माण जैसे कार्यों में विनियुक्त करना पड़ा।

स्वामी जी की अटूट ईश्वर-भक्ति :

अपने जीवन के प्रचण्ड संघर्षों और तूफानी उतार-चढ़ावों में पिताश्री ने ईश्वर-विश्वास से सदा सम्बल प्राप्त किया। सन्ध्या-हवन और भजन उन्हें सब से प्रिय लगते थे। इन्हें वे ईश्वरोपासना का ही माध्यम

मानकर स्वीकार करते थे, अन्यथा नहीं। जिस प्रकार सन्ध्या-हवन के लिए ऋषि-निर्दिष्ट पद्धति के प्रति उनमें कट्टरता थी, उसी प्रकार भजन-संगीत में भगवद्-भक्ति का अभाव भी उन्हें अखरता था। इस सम्बन्ध में मेरी एक बाल-स्मृति यहां अन्तःप्रान्त पर उभर रही है।

गुरुकुल के वार्षिकोत्सव पर भजनीक भी आया करते थे। उनमें एक अत्यन्त लोकप्रिय गायक थे श्री शीतल चन्द जी 'शीतल'। उनका एक बड़ा प्यारा भजन गुरुकुल में और हमारे घर में भी खूब गाया-बजाया जाता था—"अन्तर्यामी स्वामी तुम को बारम्बार प्रणाम है।" आज तक भी उसे गाते हुए हमारा पूरा परिवार रस-विभोर हो उठता है। इन्हीं कविवर ने एक बार गुरुकुल के उत्सव पर एक गाना गाया, जिसमें विदाई के अवसर पर पुत्री को शिक्षा निहित है—"कुल की परम्परा-मर्याद निभाये जइयो बेटी!' उनकी अपनी स्वर-लहरी तो मधुर-गम्भीर होती ही थी, जो कानों में गूंजती रहती थी। इस गाने की धुन और भाव भी मुझे कुछ विशेष प्रिय लगे थे, और यह मेरी जुबान पर चढ़ गया। एक दिन पिता जी के साथ गुरुकुल के कूप पर स्नान करते हुए मेरे मुख से यही गाना फूट पड़ा। पिताजी झट से डांटकर बोले—'बड़ा आया गवैया। भजनीक बनेगा क्या? ऐसे गाने नहीं गाते ब्रह्मचारी।'

समझ नहीं आया कि—'क्या बुराई हो गई? अपने गुरुकुल के उत्सव पर ही तो गाया हुआ गाना है। फिर क्यों रोका गया हूं? गाना अगर बुरी बात है, तो गुरुकुल में क्यों गाते हैं? सायंकालीन भोजन के बाद श्लोक-गायन करते हुए क्यों टहलते हैं? इसी गाने में ऐसी क्या निषिद्ध बात है? यह भी तो शिक्षाप्रद ही है।' इत्यादि अनेक प्रश्न बाल-मन में कौंधते रहे। पर न मुझे पूछने का साहस हुआ, न समाधान ही मिल पाया।

परन्तु आज समझ में आता है। एक तो उस गाने में परिवार व विवाह से सम्बद्ध बात थी जो ब्रह्मचारी को वर्जित हैं। दूसरे, सामान्यतः दैनिक कृत्यों को भी मौन-साधनापूर्वक करना उन्हें अधिक भाता था। तीसरे उन्हें केवल भगवद्-भक्ति के ही गीत प्रिय थे हर प्रकार के नहीं। चाहे फिर उन्हें आर्य भजनीकों ने ही क्यों न गाया हो। संगीत का रस भी यदि सांसारिकता उत्पन्न करता है तो उनकी दृष्टि में हेय है। अब स्पष्ट होता है, प्रारम्भ से ही वे ईश्वर-प्रणिधानी थे। उस प्रणिधान में कोई बाधा या भटकाव उन्हें असह्य था। यदि ऐसा नहीं होता तो नन्हे से पुत्र को किसी अश्लीलता रहित गायन पर उन्होंने ऐसे न झिड़क दिया होता।

दूसरी ओर, भगवद्-भक्ति के गीतों से उन्हें सचमुच प्यार था। चाहे वे स्वयं लय को न पकड़ पाते हों, किन्तु जब-जब घर में माता जी की ईश-स्तुति-संगीत-धारा प्रवाहित होती, तब-तब वे भी उसमें अवश्य अवगाहन करते थे। मेरे स्मृति-पटल पर अमिट छाप है ऐसी अनेक मधुपूरित पारिवारिक संगीत-गोष्ठियों की। एक दृश्य तो कभी नहीं भूलता, जब गुरुकुल से लोधी रोड के मार्ग में बनी एक वीरान सी मस्जिद के चबूतरे पर सांझ के झुटपुटे में किसी दिन बैठा हमारा परिवार ईश्वर-भक्ति के भजनों में सराबोर हो रहा था, और तब पिता जी भी पूरे मन से साथ दे रहे थे। भक्ति-संगीत के सौष्ठव द्वारा कुछ-कुछ ध्यानस्थ की सी अनुभूति सम्भवतः मुझे भी उनसे विरासत में प्राप्त हुई प्रतीत होती है।

मेरा योग-प्रवेश :

पिता जी ने संन्यास लेकर तीनों एषणाएं त्यागने का व्रत लिया था। इसमें पुत्रैषणा भी त्याज्य है। 'मैं यदि अब भी उन्हें 'पिता जी' कहकर सम्बोधित करूं तो क्या उस त्याग में बाधा न आयेगी ?' इस चिन्तन से प्रेरित होकर मैं ध्यानपूर्वक उन्हें 'स्वामी जी' ही सम्बोधित करने लगा था। मेरी बहिनों ने भी सम्भवतः इसे मेरी कठोरता माना है। तथापि क्या इसमें कुछ अनौचित्य है ? स्वामी जी ने तो सदा इसे सहर्ष ही स्वीकार किया। वैसे भी मेरे मन पर जनक से अधिक वे सदा गुरु के रूप में प्रतिष्ठित रहे हैं। अतः जैसे संस्कृताध्ययन में मेरे पहले से ही दिग्दर्शक थे, वैसे ही अब योगमार्ग के लिए भी उनके अतिरिक्त मैं किसका आश्रय लेता ?

योग-दर्शन का मेरा अध्ययन नहीं के बराबर था। और इधर स्वामी जी शास्त्रीय स्वाध्याय से भी बढ़कर योगाभ्यास को अधिक मेधाविकास, विवेकजनक और जीवनोपयोगी बताने लगे थे। महर्षि पतञ्जलि के प्रतिपादन को वे कुछ इस प्रकार व्याख्यायित करते थे, "पञ्चतयी वृत्तियों में प्रमाण के अन्तर्गत शब्द अर्थात् शास्त्र भी सम्मिलित हैं। नियमों में जिस 'स्वाध्याय' का संकेत है, वह मुख्यतः 'प्रणव-जप' का वाचक है। अध्ययन करना ही हो तो व्यासभाष्य के अनुसार मोक्ष-शास्त्रों का ही करना चाहिए। शेष सब तो योग को 'व्युत्थान दशा' से बांधने वाली प्रवृत्तियां हैं।" इस मार्ग को समझने के लिए और स्वामी जी की योग-साधना का सार ग्रहण करने के लिए मैंने अपने महाविद्यालय से स्वाध्यायावकाश (स्टडी लीव) लेकर उनके सान्निध्य में योगदर्शन का पारायण प्रारम्भ किया।

स्वामी जी ने 'योग-सूत्र' पर 'व्यास-भाष्य' और अन्यान्य दर्जनों टीकाएं, वार्तिक व व्याख्याएं पढ़ी-समझी थीं। उनके अनुसार "योग की सर्वश्रेष्ठ व्याख्या महर्षि दयानन्द के 'योगी का आत्मचरित्र' में है। या फिर जगद्‌गुरु शंकराचार्य का 'पातञ्जल-योग-सूत्र-भाष्य-विवरणम्' इस दर्शन का सर्वोच्च शास्त्रीय ग्रन्थ है। दोनों में अद्‌भुत साम्य है, और अद्वैत-वादी शंकर भी इस ग्रन्थ-रत्न में त्रैतवादी विवरण देते हैं।" स्वामी जी की इस विशिष्ट स्थापना पर शोध करना मुझे उपयोगी और महत्त्वपूर्ण कार्य लगा।

मैंने पाया कि स्वामी जी में प्राचीन 'आर्ष'-वचनों के प्रति निष्कम्प श्रद्धा है। वे उनकी आलोचना या विरोध सहने के लिए कभी तैयार नहीं। मानव-बुद्धि के तर्क की कसौटी को साक्षाद्‌द्रष्टा ऋषियों के आप्तत्व का स्थान वे कभी नहीं दे सकते। और उन ऋषियों के वचनों में परस्पर विरोध होने पर **'ऋषीणाम् उत्तरोत्तरं प्रामाण्यम्'** के अनुरूप महर्षि दयानन्द को सर्वोपरि स्वीकारते हैं। इसे मैं अन्धश्रद्धा की श्रेणी में समझता था। अतः इस सम्बन्ध में मेरा उनसे मतैक्य नहीं हो पाता था। मैं तो उन्हें कैसे झुका सकता था, जब इस विषय में उन्होंने अपने गुरुवर श्री स्वामी योगेश्वरानन्द जी महाराज की मतभिन्नता को भी अस्वीकार दिया था। इसी कारण उनसे खूब विवाद होता था और बुद्धि को पर्याप्त नवजीवन प्राप्त होता था। जो हो इससे योगदर्शन के 'विभूतिपाद' की व्याख्या में विशेष बाधा रही।

शास्त्रीय वैमत्य होने पर भी साधना की क्रियात्मकता पर मैंने उनसे बहुत कुछ सीखा। आसनों में वे शारीरिक भंगिमाओं को योग-बाह्य बताते थे तो समझ में नहीं आता था। फिर अभ्यासपूर्वक ध्यानयोग को समझना प्रारम्भ किया तो ज्ञात हुआ कि वे ठीक हैं। **'स्थिर-सुखम् आसनम्'** की उपलब्धि **'अनन्त-समापत्ति'** या उस विभू में ध्यानस्थ हुए बिना हो ही कैसे सकती है? इसी प्रकार प्राणायाम का अर्थ श्वास-प्रश्वास का विशिष्ट आदान-प्रदान न होकर दोनों का 'गतिविच्छेद' है। और यह प्राण-स्थिति हठात् कुम्भक द्वारा नहीं होती, प्रत्युत 'देश-काल-संख्या के परिदर्शन' अर्थात् पांचों प्राणों के स्थान, समय और परिमाण(=मात्रा) की सतत अनुभूति के पश्चात् शनैः-शनैः स्वतः उपस्थित होने लगती है। यह समझ उनके साथ केवल योगदर्शन के मनन-लेखन से नहीं, वरन् साधना-क्रम चालू रखने से अधिक आसानी से आई। इस 'प्राण-परिदर्शन' से 'प्रत्याहार' का स्वाभा-विक सा अवतरण होने लगता है, और यम-नियमों का सामान्यतः पालन

करना इसमें अनिवार्यतः सहायक होता है, यह तथ्य धीरे-धीरे मेरे अनुभव का विषय बनता गया। स्वामी जी की कृपा से यहां तक तो पहुंच गया हूं उस परम चेतन तत्त्व की अनुकम्पा हुई तो आगे भी वढ़ सकूंगा।

स्वामी जी के सम्पूर्ण जीवन का निष्कर्ष है कि केवल मानव-जीवन में ही अनुभावनीय चरम लक्ष्य कैवल्य-प्राप्ति के लिए योग-साधना को अधिकाधिक अपनाने में ही जीवन की सार्थकता है।

'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति, नो चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।'

मानव को इस महाविनाश से वचाने के लिए उन्होंने मुख्यतः हरिद्वार और हैदरावाद में दो योग-केन्द्र स्थापित किए हैं—'योगधाम' और 'योगमठ'। मेरी सर्वात्मना यही मंगलाभिलाषा है कि उनके सच्छिष्य इन आश्रमों को माध्यम बनाकर आर्ष-योग-विद्या का क्रियात्मक प्रसार करें और स्वामी जी के परिनिष्ठत दिशा-निर्देशों को सम्मुख रखते हुए उनके अभीष्ट सर्व-जनकल्याण के लक्ष्य को पूरा कर सकें।

रत्नैरापूरितस्यापि मदलेशोऽस्ति नाम्बुधेः।
मुक्ताः कतिपयाः प्राप्य मातङ्गा मदविह्वलाः॥

विषभार-सहस्रेण गर्वं नायाति वासुकिः।
वृश्चिको बिन्दु-मात्रेण प्रोर्ध्वं वहति कण्टकम्॥

समुद्र चाहे रत्नों से भरा हो, फिर भी उसे गर्व का लेश भी नहीं होता, जब कि एकाध मोती पाकर ही हाथी मद से विह्वल हो उठता है।

सहस्रों गुणा विष का भण्डार रखते हुए भी वासुकि नाग गर्व नहीं करता। किन्तु विष की एक बूंद पाकर ही बिच्छू अपना कांटा ऊंचा उठाये घूमता है।

आचार्य-श्री की सहधर्मिणी माता लीलावती जी

—डॉ० वेदव्रत आलोक

आचार्य-श्री राजेन्द्रनाथ जी शास्त्री को समर्पित कोई भी अभिनन्दन तब तक अपूर्ण रहेगा जब तक उनकी सतत सहधर्मचारिणी 'देवी' का स्मरण न किया जाए। हां, वे इन्हें गृहस्थ-जीवन में प्राय: 'देवी जी' सम्बोधन से पुकारते थे। उनके संन्यस्त होने के बाद इनका मातृस्वरूप ही प्रमुख होने के कारण जहां ये सबके लिए मातृ-तुल्य हैं, उन के लिए भी 'माता' ही हो गई हैं। वस्तुत:, माता लीलावती जी के व्यक्तित्व में देवत्व और मातृत्व ही सदा अधिक सघन और सक्रिय रहे हैं। कविवर रवीन्द्र द्वारा संकेतित तृतीय नारी व्यक्तित्व 'प्रियत्व' का तो जैसे इनके जीवन में अवसर और स्थान ही नहीं रहा।

राजस्थान में भरतपुर के समीप 'कामा' रियासत में जून १९१६ में जन्मी बालिका 'लीला' के पिता श्री किशोरी लाल जी इन्हें ढाई वर्ष का ही छोड़कर दिवंगत हो गए। इनके ताऊ श्री राधेलाल जी ने सभी बच्चों का लालन-पालन स्व-सन्तानवत् किया। उन्होंने ही इन में ईश्वरभक्ति और धार्मिकता का बीजारोपण किया। पढ़ने बैठीं तो सदा प्रथम रहीं और अध्यापिकाओं की प्रिय छात्रा भी। आठवीं कक्षा तक पढ़कर सीनियर वर्नाकुलर प्रशिक्षण पाया। १७ वर्ष की अल्पीयसी किशोरावस्था में ही कुशाग्र-बुद्धि लीलावती जी ने ८ मई १९३३ ई० से दिल्ली में प्राथमिक कक्षाओं का अध्यापन प्रारम्भ किया। ३० अप्रैल १९७६ को रिटायर होने तक इन का सतत अध्यापन कार्य ४३ वर्ष तक निर्बाध चलता रहा।

आचार्यश्री ने सन् १९३४ में जब गुरुकुल दयानन्द वेद विद्यालय की स्थापना की थी तब इसकी कक्षाएँ पंचकुइयाँ रोड के एक सरकारी क्वार्टर में लगाई जाती थीं। उस समय लीलावती जी का परिवार पहाड़गंज में रहता था। संस्कृत सीखने की इच्छा ने इनके ताऊ श्री राधेलाल जी का सम्पर्क आचार्य श्री राजेन्द्रनाथ शास्त्री से कराया। धर्म और अध्यात्म के धरातल पर दोनों ने एक-दूसरे में आत्यन्तिक आत्मीयता का अनुभव किया।

इससे श्री राधेलाल जी आचार्यश्री के स्नेहपाश में तो बंध ही चुके थे, उसे और सुदृढ़ बनाने के विचार से उन्होंने इन्हें अपनी भतीजी लीलावती से विवाह करने के लिए मना लिया। दुर्दैववश वे स्वयं तो इस विवाह से पूर्व ही अपनी इहलोक लीला समाप्त कर चले गये, तथापि उनकी इच्छा पूरी करते हुए फरवरी १९३५ में यह विवाह सम्पन्न हुआ।

श्रीमती लीलावती जी का गृहस्थजीवन कठोरतम तपस्याओं की अनकही कहानी रहा है। पतिदेव आचार्य जी तो अपने फक्कड़ स्वभाव और समाज-सेवी वृत्ति के कारण अपने परिवार के लिए प्रारम्भ से ही कोई आर्थिक सहयोग दे नहीं पाये। विवाह होने पर अपनी पत्नी की जीविका के बूते पर अपनी आजीविका का एकमात्र साधन एक स्कूल की नौकरी छोड़कर पूरी तरह गुरुकुल की ओर दत्तावधान हो गए। यह केवल इन्हीं देवी की प्रचण्ड कर्तव्य-परायणता थी कि आचार्य-श्री परिवार की चिन्ता से पूर्णतः मुक्त रह सके। पति के अतिरिक्त वृद्ध सास-ससुर और बच्चों के लालन-पालन का सारा भार आर्थिक और शारीरिक दृष्टि से सफलता-पूर्वक वहन करते हुए इन्होंने भारतीय नारी की आदर्श बलिदान-भावना का परिचय दिया। अपनी सीमित आय से भरे-पूरे परिवार का पोषण कर एक कुशल गृहिणी होने का प्रमाण प्रस्तुत किया। तपस्विनी देवी लीलावती जी पर कार्य-भार भी इतना अधिक रहा कि पाठशाला में पढ़ाकर आना, घर का काम संभालना और फिर बाजार से गृहस्थी की आवश्यक सामग्री भी स्वयं जुटाना। ऐसी कठोर दैनिक तपश्चर्या यदि इस देवी ने न की होती तो आचार्य श्री राजेन्द्रनाथ जी शायद ही आर्यजगत् में अपने बहुविध योगदान का चमत्कार दिखा सकते थे। न गुरुकुल की ही धूम मच पाती और न आचार्य जी के 'दयानन्द सन्देश' की। परिवार से निश्चिन्तता पाए बिना सम्भवतः वे उतना उच्च चिन्तन-मनन और योगाभ्यास भी न कर पाए होते जो उनकी विचाराभिव्यक्ति को इतनी प्रखरता, स्पष्टता और दूरदर्शिता दे सका। इस प्रकार अपने पति का उन्नति-पथ प्रशस्त करके इस आर्य-महिला ने अत्यन्त श्लाघनीय तपस्या और पुण्य का संचय किया। गृहस्थी की भारी चक्की में पिसकर भी इस सन्नारी का ईश्वर-विश्वास अटूट रहा। ईशाराधन इनका विशेष सम्बल बना। प्रभु से सम्बद्ध भजन इन्हें विशेष प्रिय रहे हैं, और इसी समर्पण-भाव को इन्होंने अपने कतिपय गीतों में व्यक्त भी किया है। एक स्वरचित छन्द जो इन्हें सर्वाधिक प्रिय है, इनकी इस भावना और भक्ति को ही मुखरित करता है—

ओ३म् के रंग में रंग जाऊँ मैं, तज के सब संसार।
ओ३म् पिता है, ओ३म् ही माता, ओ३म् कुटुम्ब-परिवार॥
ओ३म् सखा है, ओ३म् ही साथी, ओ३म् मेरा आधार।
यह संसार दुःखों से भरा है, यह संसार असार॥
ओ३म् नाम दुःखों से छुड़ावे, ओ३म् ही सुख का सार।
ओ३म् नाम मेरा कभी न छूटे, हों चाहे कष्ट हजार।
ओ३म् सुधारस पी-पी करके; हो जाऊँ मस्त अपार॥
ओ३म् के रंग में रंग जाऊँ मैं, तज के सब संसार॥

अपने जीवन की नीरसता को भजनों के माधुर्य से भरने के लिए प्रभु ने इन्हें मधुर कण्ठ भी दिया है। जैसे-तैसे समय निकालकर अपने परिवार के साथ भजन-गाना इनका समय-यापन प्रकार है। वास्तविक तप के साथ ईश्वर-प्रणिधान को जोड़कर इन्होंने अष्टांग योग के नियमों को ही सहज रूप से अपना लिया है।

श्रीमती लीलावती जी में काव्य-प्रतिभा के साथ-साथ श्रेष्ठ लेखिका का सामर्थ्य भी है। अध्यापन-कार्य के सुपरिपाक के रूप में आप ने प्राथमिक कक्षाओं के लिए उत्तम पाठ्य-पुस्तकें लिखीं। पहली से पांचवीं कक्षा तक का सैट 'हिन्दी-पाठावली' नाम से दिल्ली के स्कूलों में तीन वर्ष तक स्वीकृत रहा। प्रारम्भिक अक्षर ज्ञान कराने वाली पुस्तक 'पढ़ो मेरे लाल' तो बहुत ही लोकप्रिय हुई और पांच वर्ष तक दिल्ली में लगी रही। आप की साहित्यिक प्रबुद्धता का एक प्रमाण यह भी है कि इतना व्यस्त जीवन जीते हुए ३७ वर्ष की वय में पञ्जाब विश्वविद्यालय से हिन्दी आनर्स (प्रभाकर) की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। बौद्धिक ग्राह्यता और स्मृति की धनी तो आप बचपन से ही रहीं, और प्रायः सभी परीक्षाओं में प्रथम स्थान पाती रहीं। गृहस्थी का झंझट आपके इस धन को छीन नहीं पाया, प्रत्युत इसी के सहारे, आपने अपने पति की ऋण-मुक्ति में भरपूर सहयोग दिया जो एक सद्गृहिणी के रूप में आप का अत्यन्त उल्लेखनीय कर्म था। यह पारिवारिक मर्म यहां स्पष्ट करने में कोई हानि नहीं है।

हुआ यूं कि परिवार की आर्थिक दुरवस्था दूर करने की इच्छा से आचार्य-श्री ने किसी के साथ साझे में एक छापाखाना चलाने का यत्न किया था। किन्तु यह उनके लिए पूर्णतः '**अव्यापारेषु व्यापार...**' ही सिद्ध हुआ। दो-तीन वर्ष में ही पल्ले की पूंजी चली गई, पत्नी के जेवर बिक गए और ऊपर से उस समय सन् १९५१ में बीसेक हजार का कर्जा सिर पर चढ़ गया। तब परिवार की मासिक आय पचास रुपये थी। ब्याज भी चुकाना

नामुमकिन था। तब पति-पत्नी ने मिलकर पुस्तकें लिखीं जो ईशानुकम्पा से स्वीकृत हुईं। तब भी पूरा कर्ज उतारने में एक दशाब्दी बीत गई। उस टूटन और घुटन के वातावरण में आचार्य-श्री के कन्धे से कन्धा मिलाकर चलने वाली यह सच्ची संगिनी न रही होती तो समाज को ऐसा 'योगी' कभी न मिला होता।

७३ वर्ष की परिपक्व वय में भी सदा कर्मशील श्रीमती लीलावती जी अपने आस-पड़ोस के लिए सतत प्रेरणा स्रोत रही हैं। न कोई सांसारिक अभिलाषा, न कोई मनोरंजन या व्यसन ही कभी आप ने पाला। अपनी १० वर्ष की वय में एक बार ताश न खेलने का प्रण ले लिया, सो आज तक निभाया है। ताश ही क्यों, समय गंवाने वाला कोई भी खेल या तमाशा देखना भी उन्हें नहीं रुचता। हर समय किसी उपयोगी कार्य में दत्तचित्त रहती हैं या फिर प्रभु के ध्यान में। इस अवस्था में भी नित्य-प्रति सन्ध्या-वन्दन के साथ आवश्यक योगासन करना उनका दैनिक और नियमित कर्म है। किसी कार्य के लिए शीघ्रतापूर्वक उठने में हम तो आलस्य कर सकते हैं, किन्तु उन्हें तो तमोगुण जैसे छू ही नहीं गया है। अपूर्व जिजीविषा और अदम्य उत्साह से आज भी छोटे से छोटे कार्य को बारीकी से देखने और संभालने में वे सब से आगे रहती हैं।

माता लीलावती जी का एक और विशिष्ट गुण हमारे लिए अनुकरणीय है। किसी भी पदार्थ के दुरुपयोग या व्यर्थ विनाश को वे परमात्मा की सृष्टि का अपमान और अतः असह्य मानती हैं। जिस समय संसार में विशाल मानवता दरिद्रता और अभाव में जी रही हो उस समय हमें अधिक संग्रह करने और उसे बिगाड़कर पहले से ही वंचितों को उससे वंचित करने का क्या अधिकार है ? सच है, अपनी लोभवृत्ति के कारण हम अधिकाधिक समेट लेना चाहते हैं, और भूल जाते हैं कि हम वस्तु का सदुपयोग कर रहे हैं, या केवल दूसरों से छीन भर रहे हैं। इसीलिए वे उपयुक्त मात्रा से अधिक भोगों के विरुद्ध हैं। वस्तुतः यदि हम पदार्थों का सही सदुपयोग करें, तो निश्चय ही संसार से अभाव दूर हो सकते हैं।

तड़क-भड़क, दिखावा या प्रदर्शन की प्रवृत्ति ने माता लीलावती जी को छुआ तक नहीं है। हृदय की सरलता, भोलेपन और सहज-विश्वास में वे छोटे बालकों जैसी अबोध हैं। छल-छद्म की बातें उनकी समझ में आ ही नहीं पातीं। धूर्त-नेताओं और उन्हीं जैसे भ्रष्ट सरकारी वेतनभोगियों के विषय में सोचने भर से उनका मन खिन्न हो उठता है। पर इससे स्रष्टा की न्याय-व्यवस्था पर उन की आस्था क्षीण नहीं हो पायी। 'देर है पर

अन्धेर नहीं' वाली कहावत उन्हें सदा स्मरण रहती है।

भारतीय ग्राम्य-जीवन में एवं लोगों की मान्यताओं पर भारतीय दर्शन और संस्कृति की छाप जिस सारगर्भित रूप में प्रतिफलित हुई है, वह उन की कहावतों में स्पष्ट परिलक्षित होती है। माता लीलावती जी ऐसी ठेठ कहावतों का यथाप्रसंग सटीक प्रयोग करती हैं, और इनमें उनकी ठेठ भारतीय आत्मा ही प्रतिविम्बित होती है। उदाहरणाथ, सुख को परिभाषित करते हुए वे इस छंद का प्रयोग करती हैं —

पहला सुख नीरोगी काया, दूजा सुख घर में हो माया।
तीजा सुख पतिवर्ता नारी, चौथा सुख सुत आज्ञाकारी ॥

इसी प्रकार ऋतु-अनुकूल आहार के लिए 'चैते गुड़ वैशाखे तेल। जेठे पन्थ असाढे बेल ॥' यह बारहमासी पथ्य की सूची उन्हें सदा कण्ठस्थ रहती है, और व्यवहार में ध्यान भी। 'काठ को हाण्डी बार-बार नहीं चढ़ती', 'सांच को आंच नहीं', 'जैसा बोओगे वैसा काटोगे', 'जब आवे सन्तोष धन सब धन धूरि समान' इत्यादि अनेक लोकोक्तियों को अपनाकर उन्होंने सत्य, सन्तोष, कर्मफल आदि भारतीय यम-नियमों और दार्शनिक विश्वासों को जीवन में उतारा हुआ है।

माता जी ने अपनी सन्तानों को योग्य बनाने और उच्च शिक्षा दिलाने में कोई कमी नहीं आने दी। उनके एक पुत्र और चार पुत्रियों में से तीन ने एम०ए० से आगे तक शिक्षा प्राप्त की। बड़ी पुत्री और पुत्र ने पी-एच० डी० की उपाधियां अर्जित की हैं और दोनों ही क्रमशः हिन्दी और संस्कृत के प्राध्यापक हैं। सभी में अपने माता-पिता की सरलता, निश्छल स्नेह और कुशाग्र वुद्धि के दर्शन होते हैं। सभी अपने-अपने परिवारों में सुखी और सद्गृहस्थ जीवन-यापन कर रहे हैं।

इस प्रकार माता लीलावती जी सच्चे अर्थों में एक ऐसी दिव्य आत्मा हैं जिन्होंने अपने जीवन का प्रत्येक क्षण कठोर तपस्या में जिया है, और अपनी समग्र शक्तियों का उत्सर्ग एक वास्तविक आर्य-परिवार के निर्माण में किया है। एक प्रबुद्ध आचार्य से स्वामी सच्चिदानन्द योगी बनने की व्यक्तित्व-विकास-प्रक्रिया की अर्धशती से भी दीर्घ समय तक साक्षिणी, श्री राजेन्द्रनाथ जी शास्त्री की यह जीवनसंगिनी सही अर्थों में उनकी पालयित्री, पत्नी और निर्मात्री देवी हैं। माता लीलावती जी के इस योगदान को भुलाने की कृतघ्नता कोई समाज कैसे कर सकता है? उन्हें समस्त आर्य जगत् की ओर से हमारा सश्रद्ध नमन !!
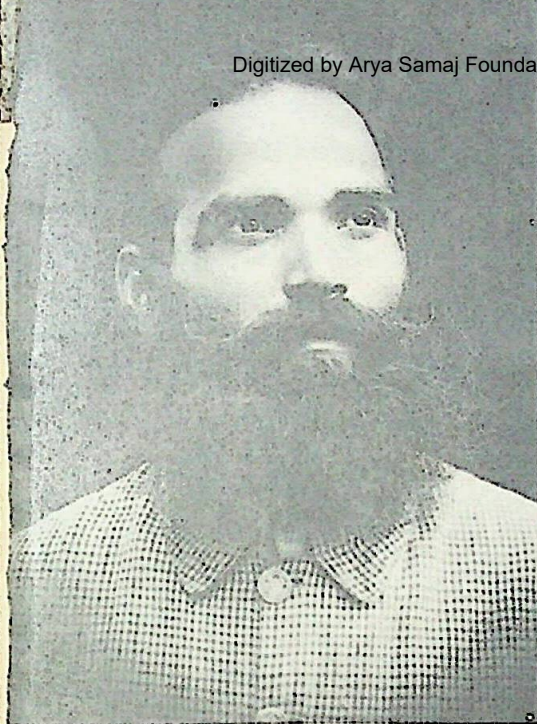
पुराने सहयोगी स्व० भाई वंशीलाल जी, हैद्राबाद

स्व० श्री देशराज चौधरी, आर्य केन्द्रीय सभा, दिल्ली

सतत सहयोगी चौ० दिलीप सिंह, शाहपुर जट्ट

लाo रामगोपाल शालवाले वानप्रस्थ (स्वामी आनन्द बोध सरस्वती)
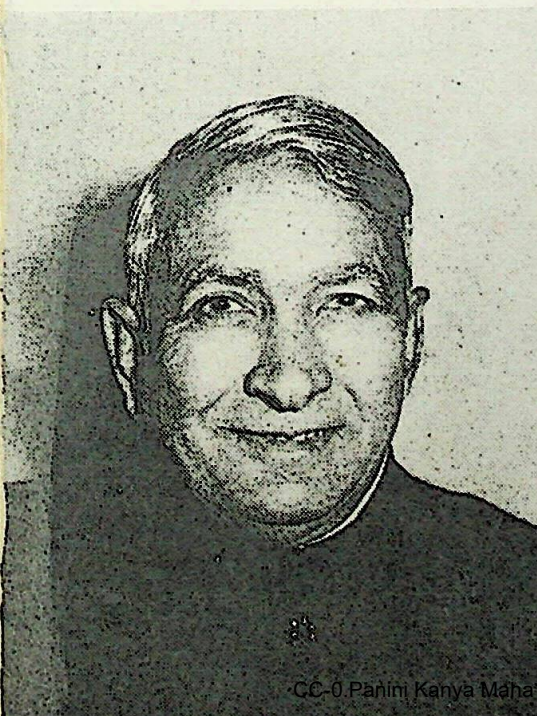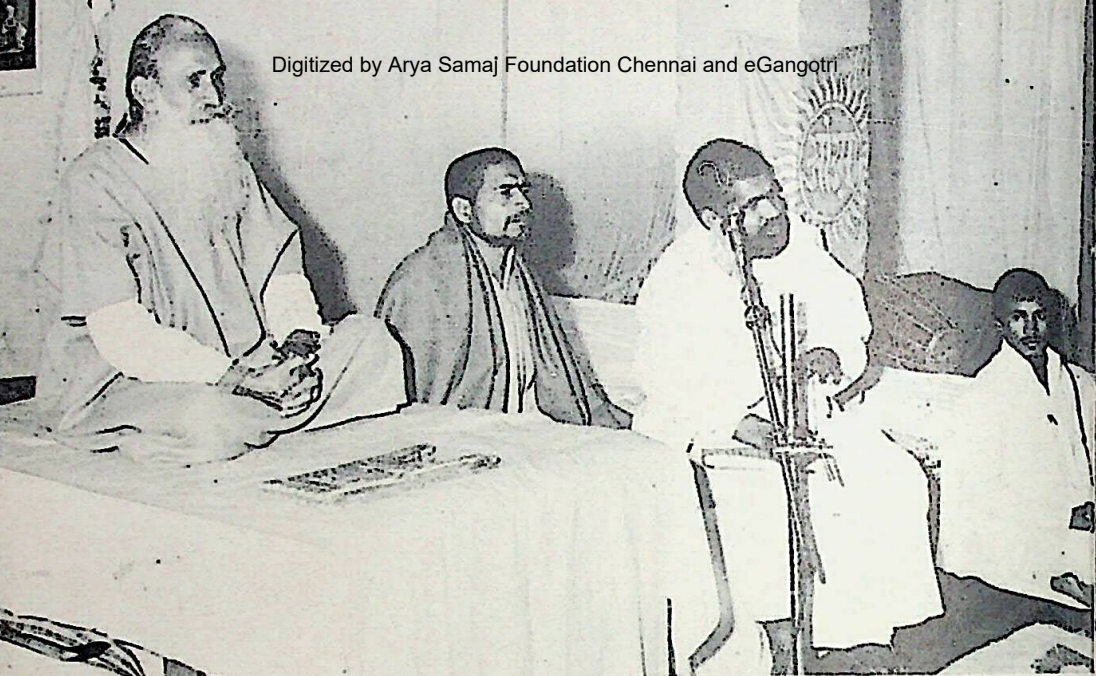
गुरुकुल में योगीजी अपने दो प्रधान शिष्यों श्री योगेन्द्र पुरुषार्थी (स्वा॰ दिव्यानन्द सरस्वती) एवम् आचार्य हरिदेव के साथ, सन् १९८३.

गुरुकुल में चतुर्वेद - पारायण यज्ञ के ब्रह्मा स्वामी दीक्षानन्द सरस्वती के साथ योगी जी, सन् १९८३.
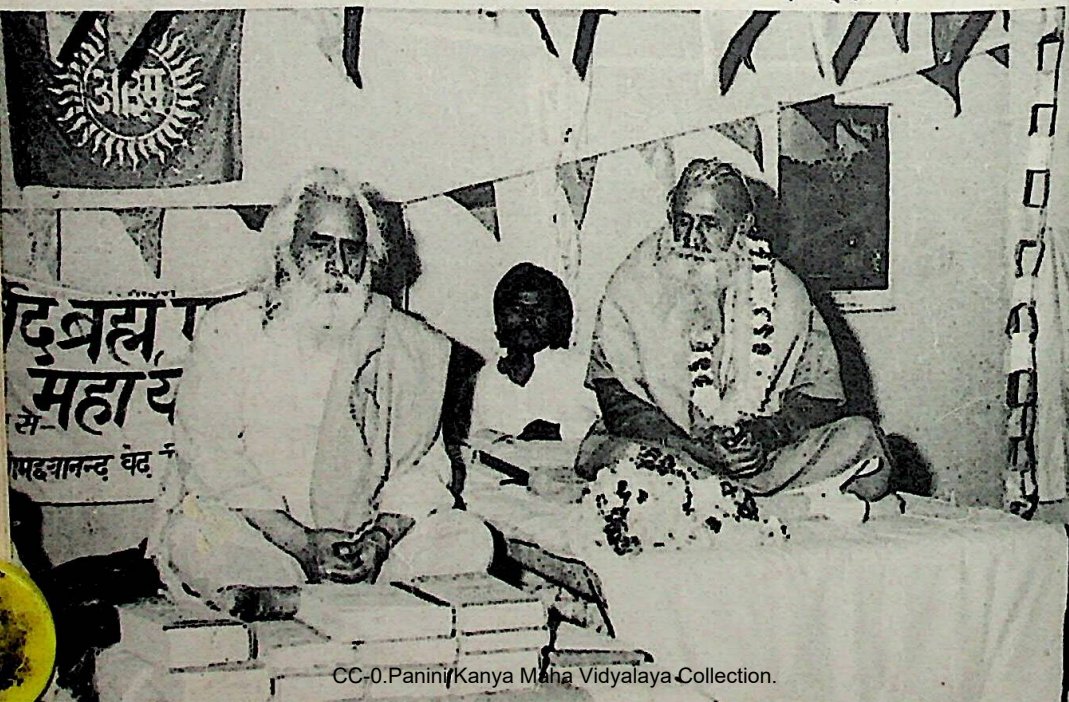
गुरुकुल के आचार्य हरिदेव प्रो॰ वेदव्यास को ऋग्वेद भेंट करते हुए, १९८७

गुरुकुल के उत्सव पर स्वा॰ ओमानन्द सरस्वती, चौ॰ दिलीपसिंह, स्वा॰ सत्यप्रकाश, पं॰ क्षितीश वेदालंकार श्रीकालीचरण गुप्त, श्री चरतसिंह वर्मा (पीछे), सन् १९८५.

मल्ल-खम्म' का
व्यायाम करते हुए
गुरुकुल के ब्रह्मचारी
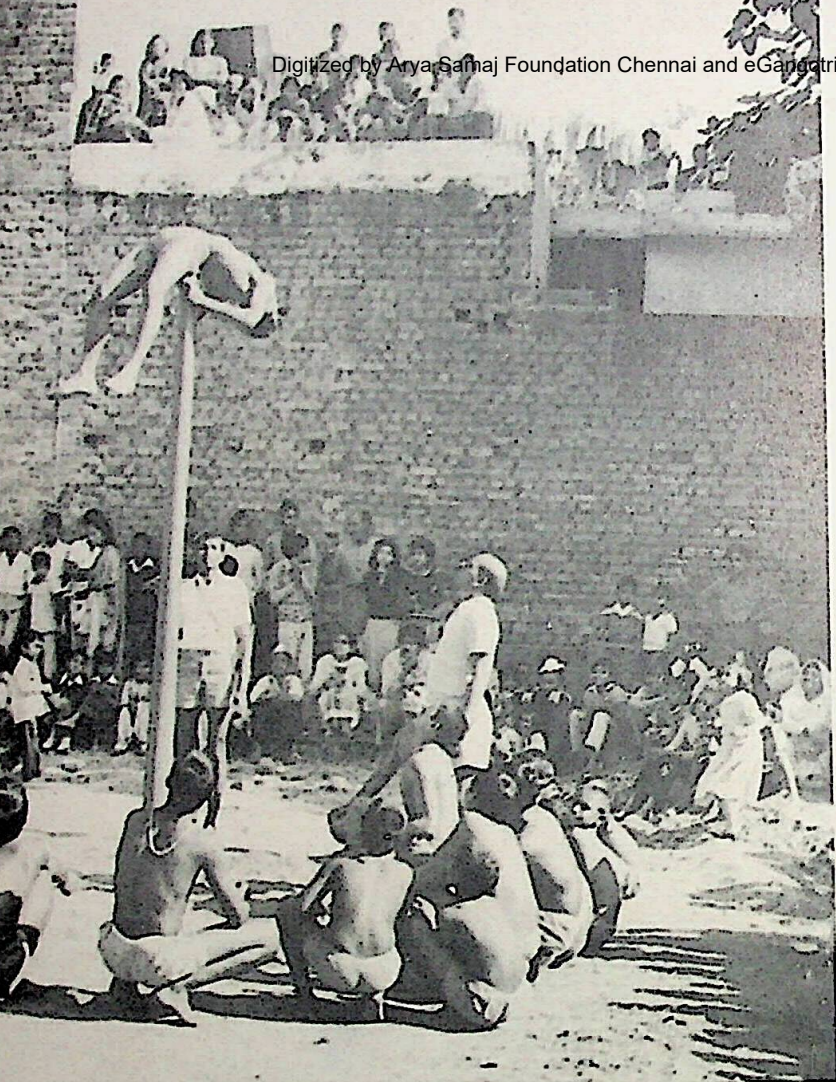
गुरुकुल ब्रह्मचारियों
द्वारा सामूहिक
चक्रासन
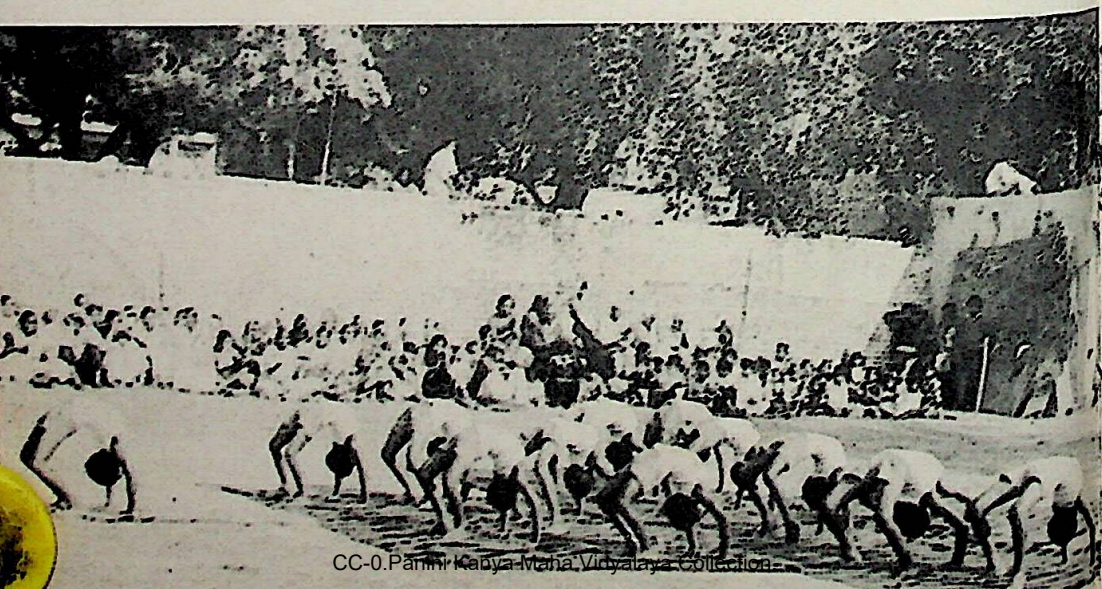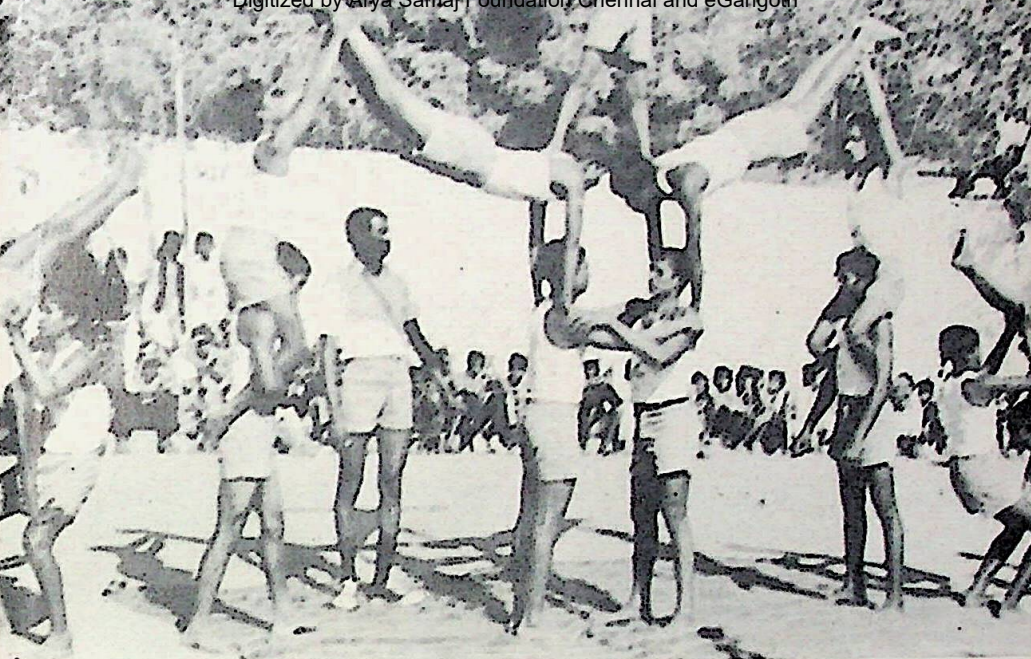
ब्रह्मचारियों द्वारा व्यायाम-प्रदर्शन का एक दृश्य

गर्दन से लोहे के सरिये मोड़ते हुए, ब्रह्मचारी
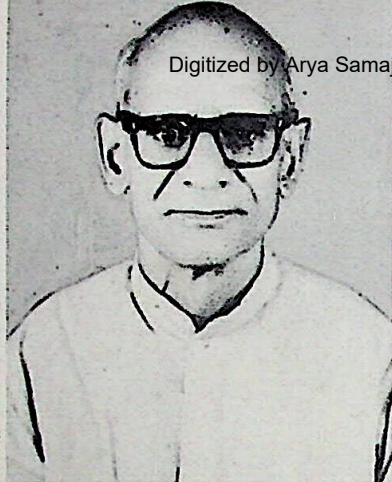
स्वामी विद्यानन्द सरस्वती, दिल्ली
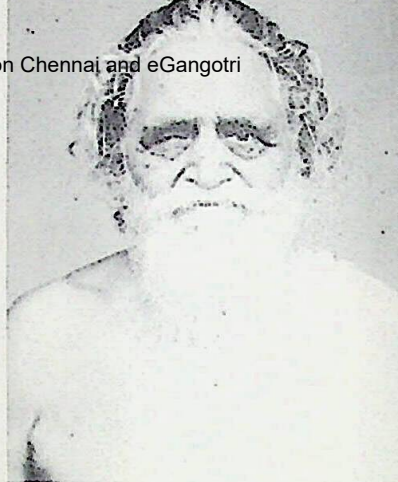
स्वामी शक्तीश्वरानन्द सरस्वती, उज्जैन
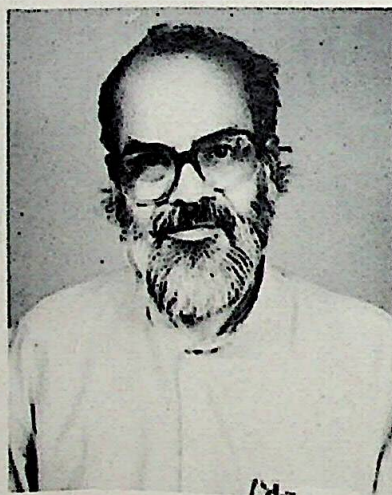
स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती, दिल्ली
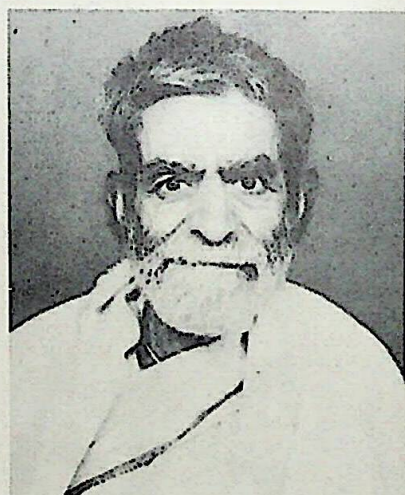
स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती, पांछली
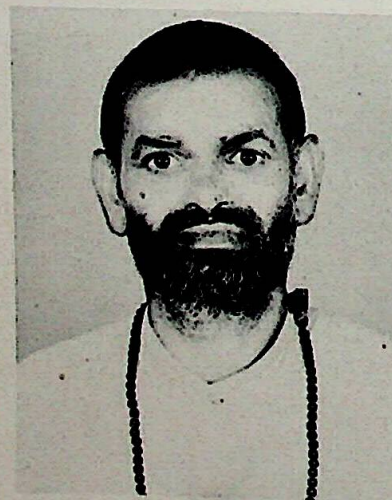
स्वामी भजनानन्द सरस्वती, नैनीताल (रामगढ़)

डॉ० आदित्यपाल सिंह आर्य, भोपाल
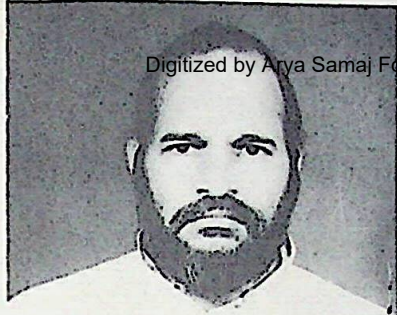
डॉ० नरेशकुमार ब्रह्मचारी, भारत सरकार
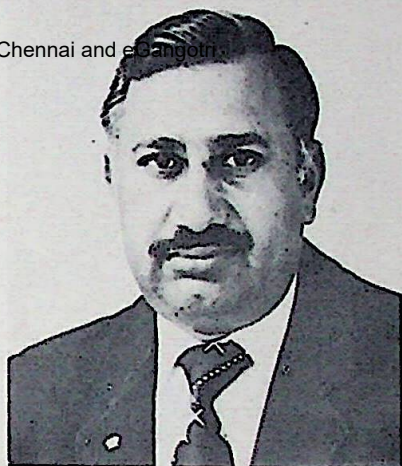
डॉ० कृपाराम पूनिया, हरियाणा सरकार
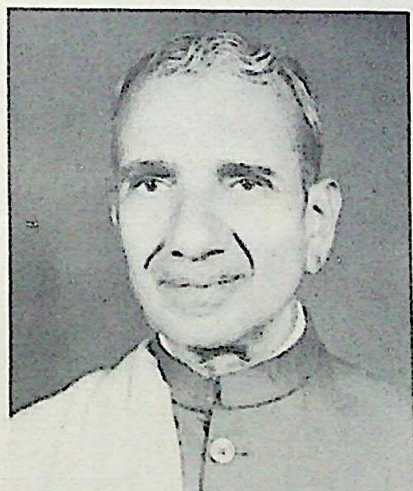
महात्मा कल्याण स्वरूप, वानप्रस्थ, ज्वालापुर

माता शान्तिदेवीजी, वानप्रस्थ, ज्वालापुर
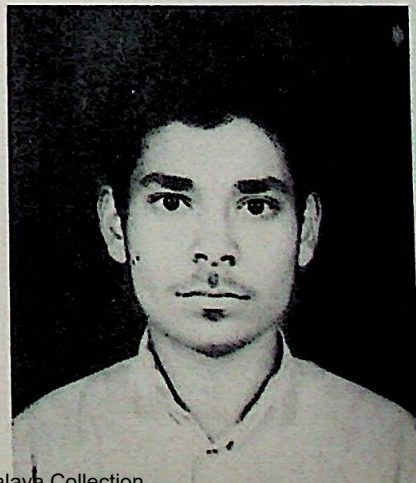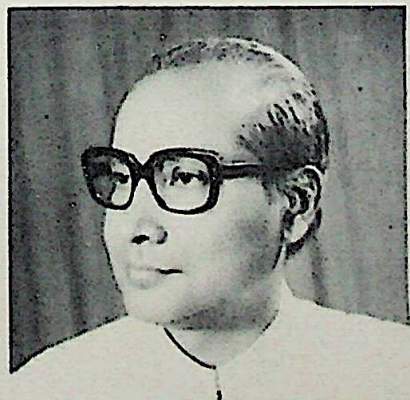
प्रोफेसर विद्यारत्न, नई दिल्ली
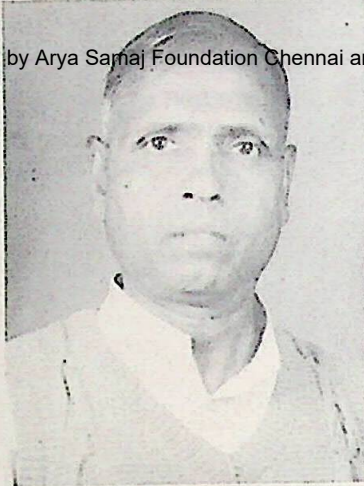
श्री राजवीर शास्त्री, दिल्ली

पं॰ बुद्धदेव जी शास्त्री, बिजनौर

आचार्य श्री राजेन्द्रनाथ जी शास्त्री, आचार्य विश्वश्रवाः व्यास, पं॰ महेन्द्रकुमारशास्त्री, आर्य बालगृह, दरियागंज में १९६५
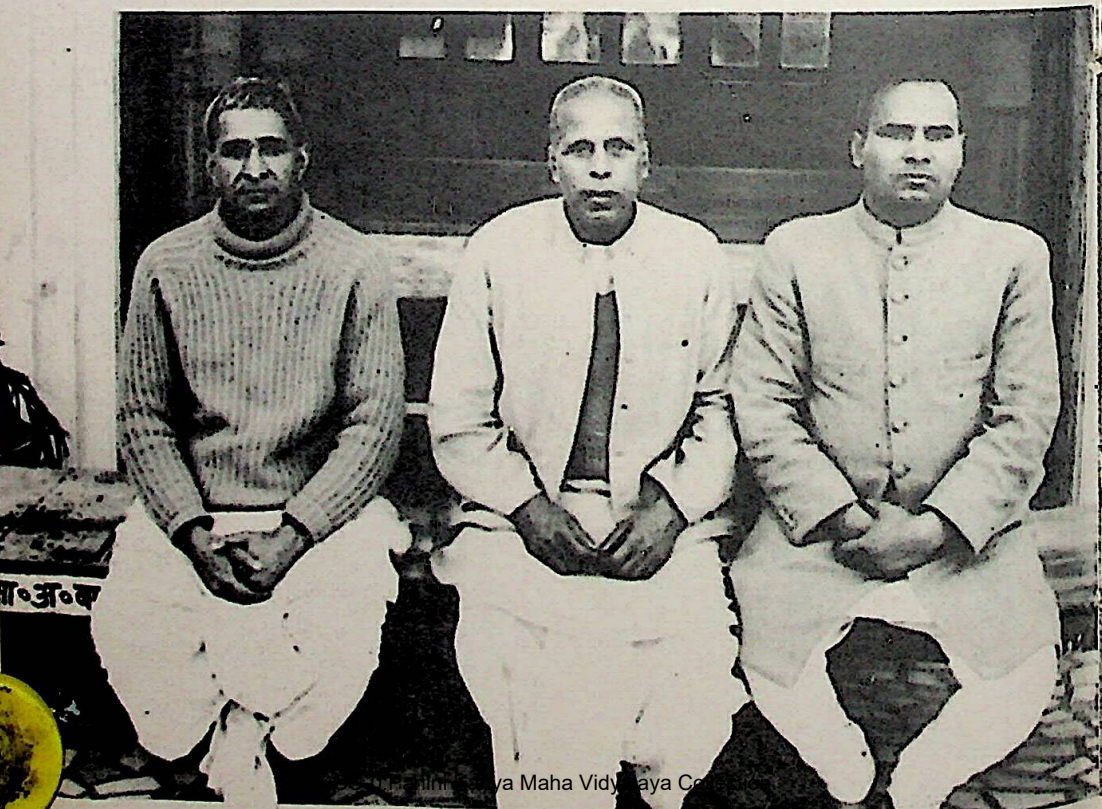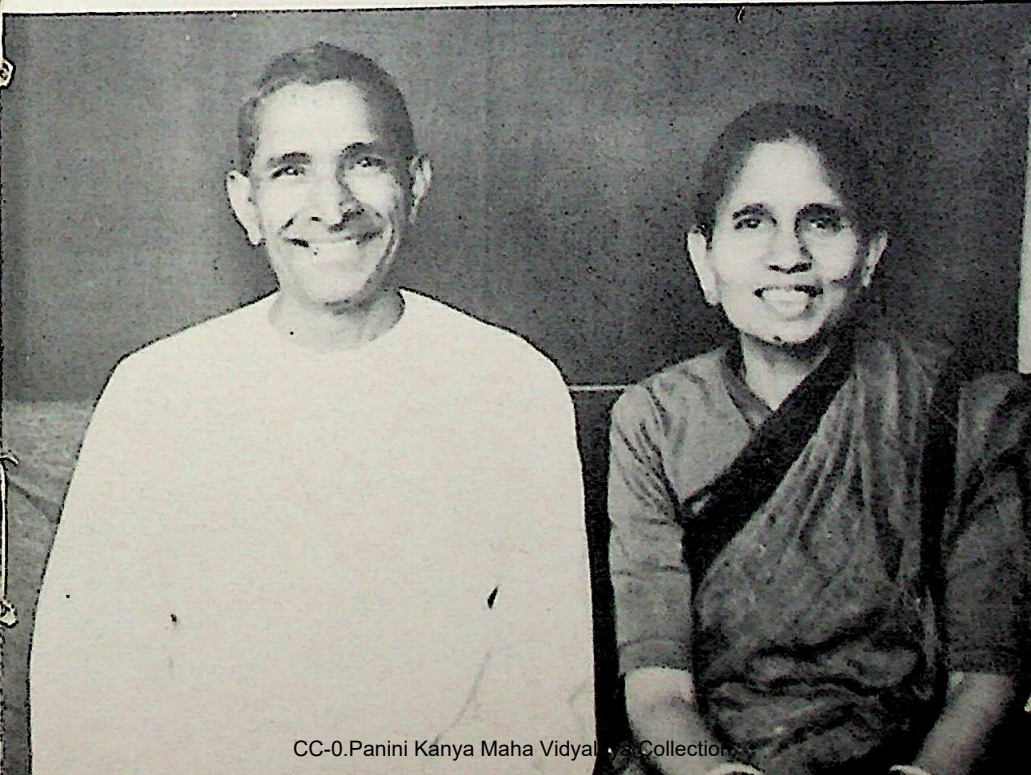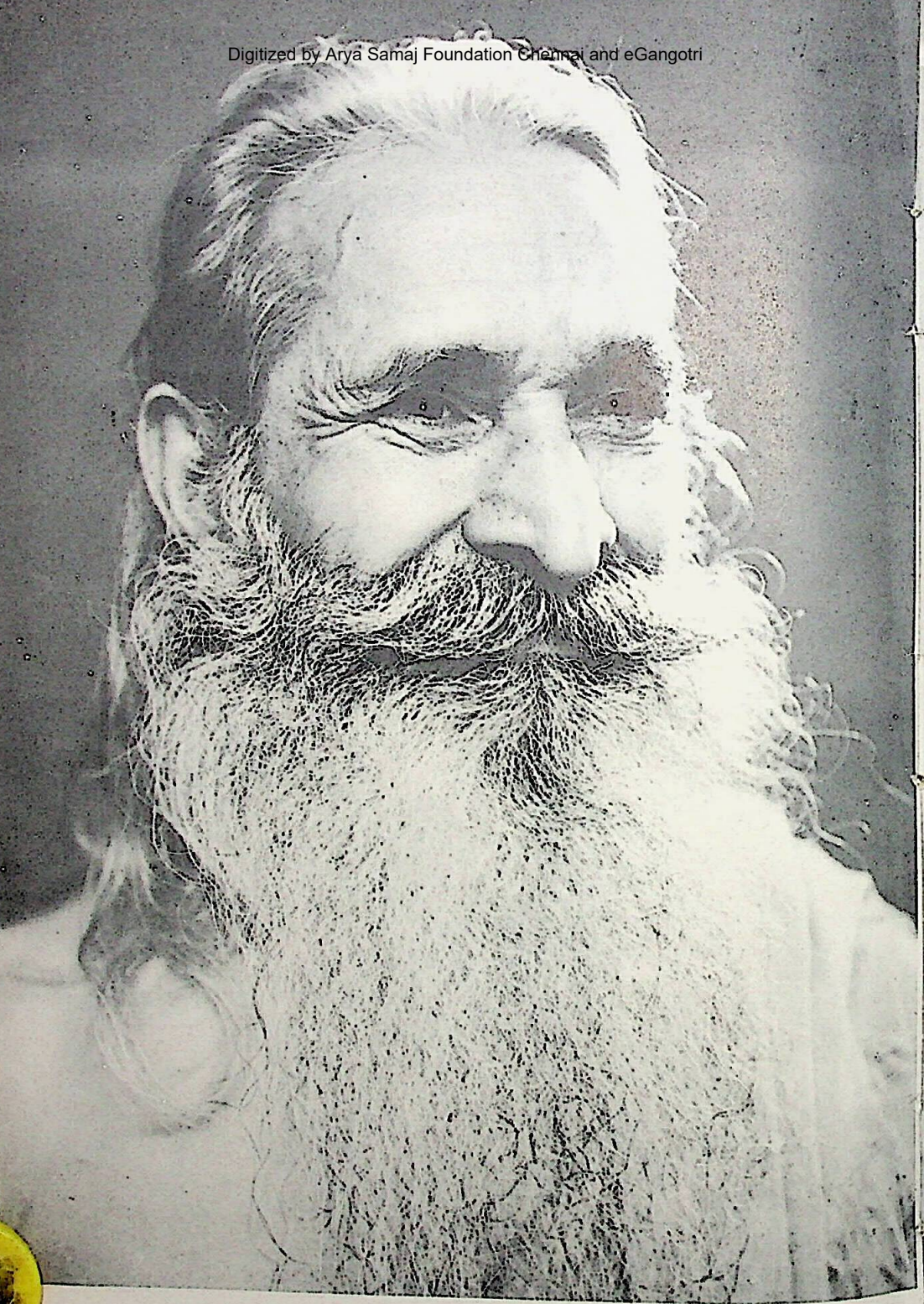
स्वामी जी, सन् १९७५-८०

श्रीमती लीलावती जी, सन् १९८६

समधी पं० क्षितीश वेदालंकार

समधिन श्रीमती पवित्रादेवी विद्याभूषिता।

पुत्र के विवाह संस्कार (६ जून, १९६५) में उपस्थित आचार्य विश्वश्रवाः व्यास, चौ० देशराज, मा० शिवचरणदास, ला० रामगोपाल शालवाले, श्री जगदीश विद्यार्थी, प्रो० रामसिंह, एम०ए०, श्री देवव्रत धर्मेन्दु, महात्मा आर्यभिक्षु एवम् अन्य
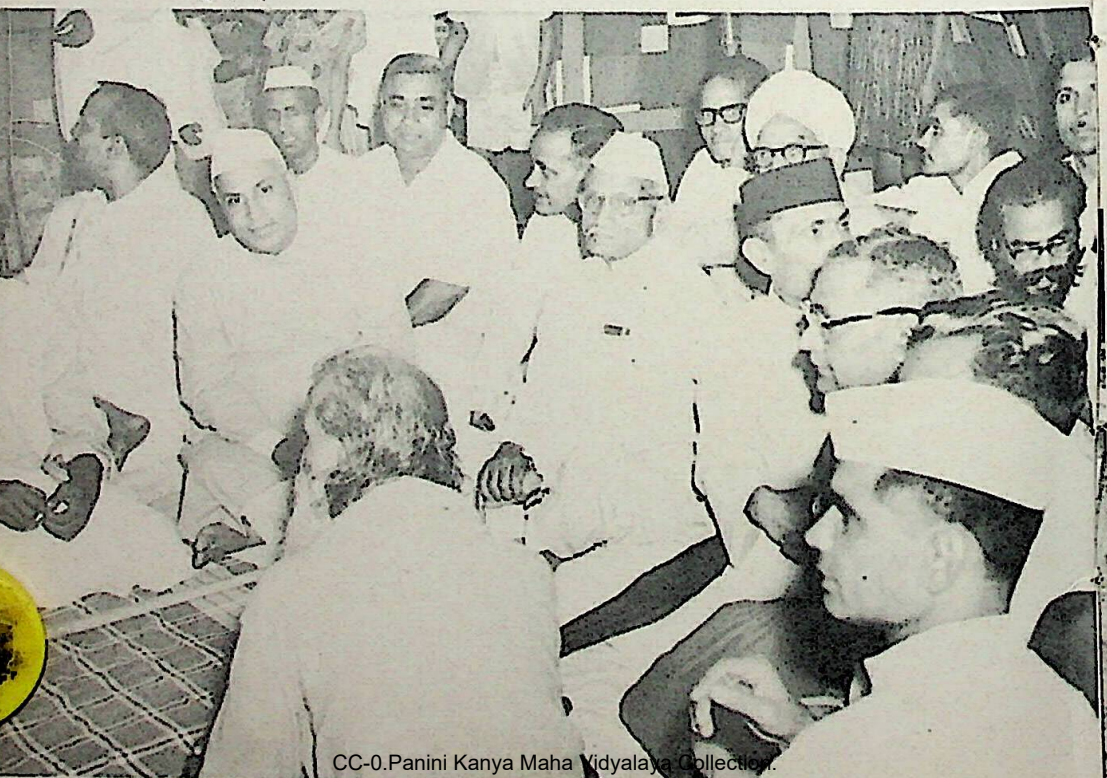
पुत्र डॉ॰ वेदव्रत 'आलोक', पुत्रवधु श्रीमती विश्ववारा, १९६६

कु॰ अदिति, कु॰ वरिम रेणु, अपने माता-पिता के साथ १९८९

पुत्र व पुत्री स्नातक वेश में आचार्य श्री के साथ १९५७.

आचार्य श्री राजेन्द्रनाथ शास्त्री सन् १९५७.

आचार्य श्री के बड़े दामाद श्री पूर्णचन्द्र 'राकेश', श्रीमती लीलावती, चौथी पुत्री आभारानी, द्वितीय पुत्री श्रीमती प्रतिभा, दूसरे दामाद श्री कौशल किशोर, गोदी में आचार्य श्री की धेवती अंजलि, (लेटे हुए) पुत्र वेदव्रत, दि० २४.१२.१९६०
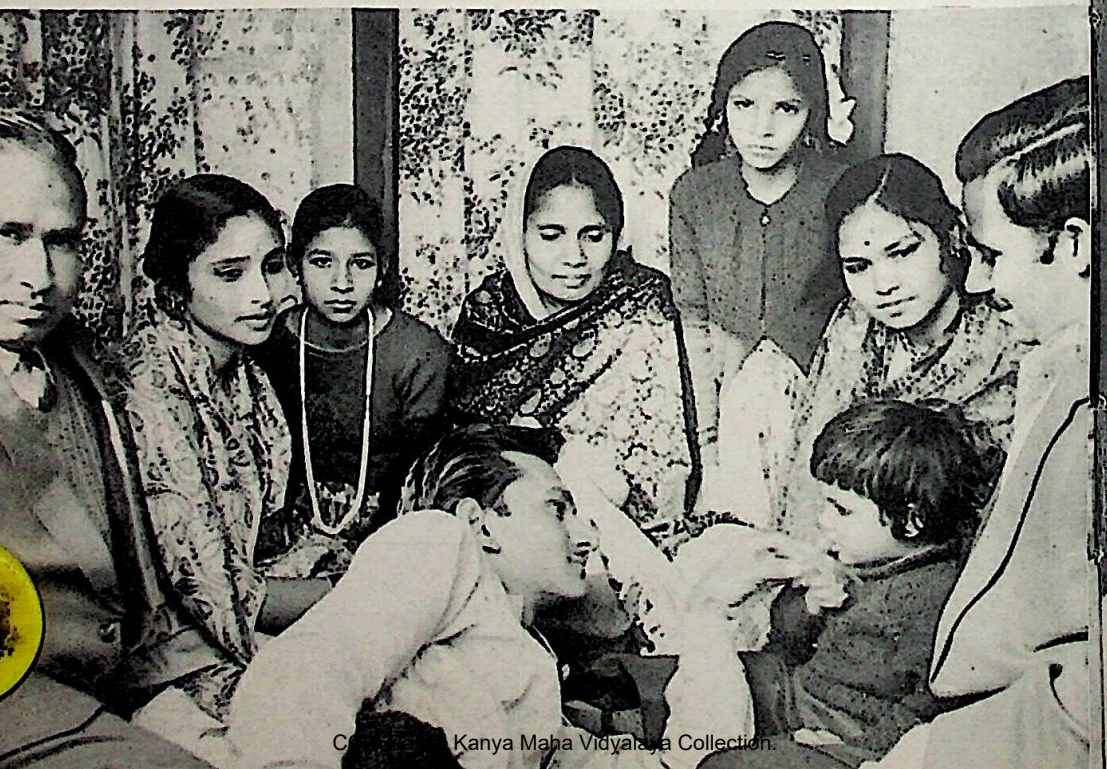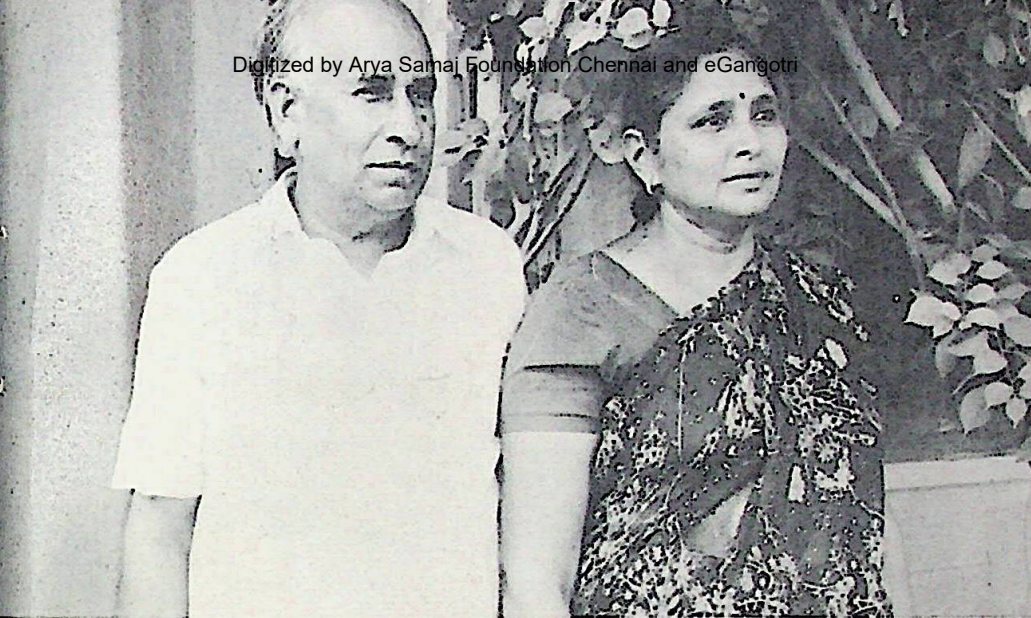
आचार्य श्री के बड़े दामाद डॉ॰ पूर्णचन्द्र 'राकेश', तथा पुत्री डॉ॰ आशारानी 'राकेश', सन् १९८७

द्वितीय दामाद श्री कौशल किशोर तथा पुत्री श्रीमती प्रतिभा किशोर, १९६०
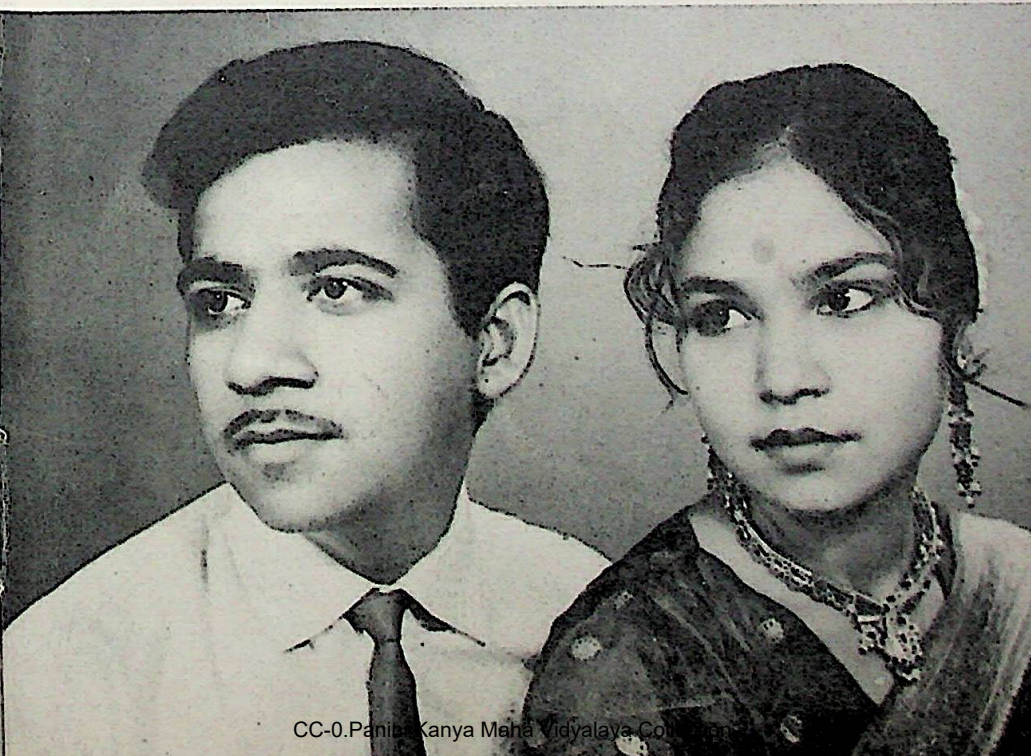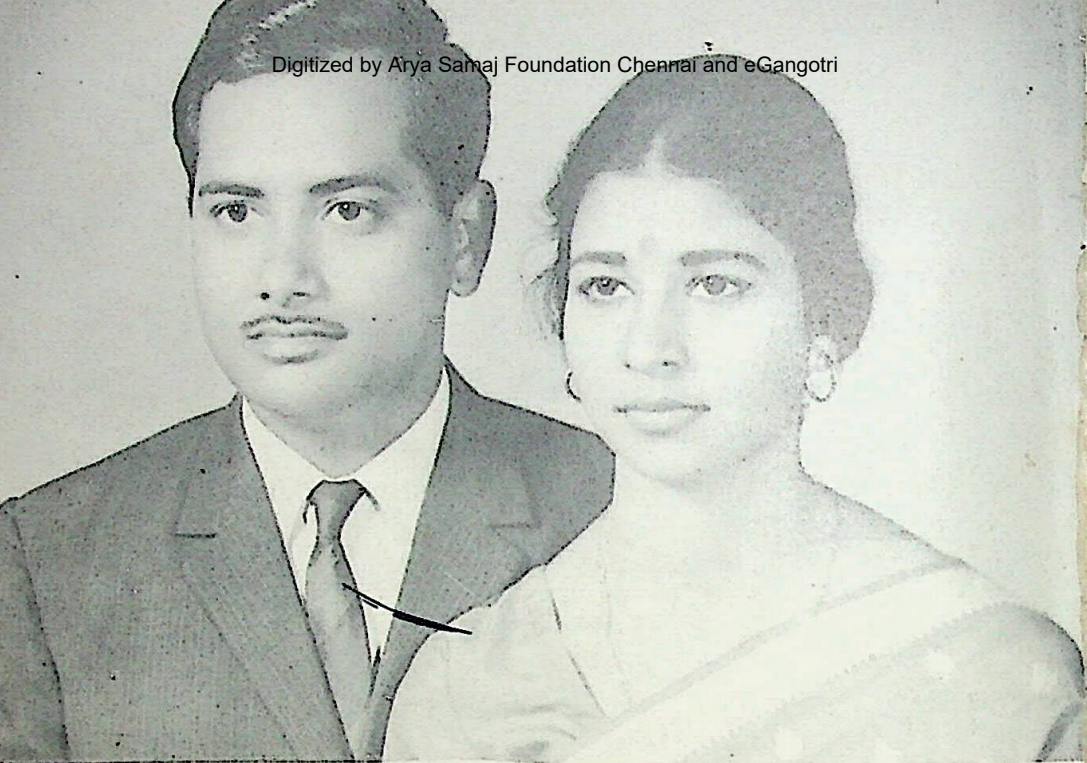
तृतीय दामाद श्री रामकृष्ण, एवम् पुत्री श्रीमती मञ्जुला, १९७०

चतुर्थ दामाद श्री अरुण कुमार एवं पुत्री श्रीमती आभारानी अपने पुत्र पंकज के साथ, १९७८
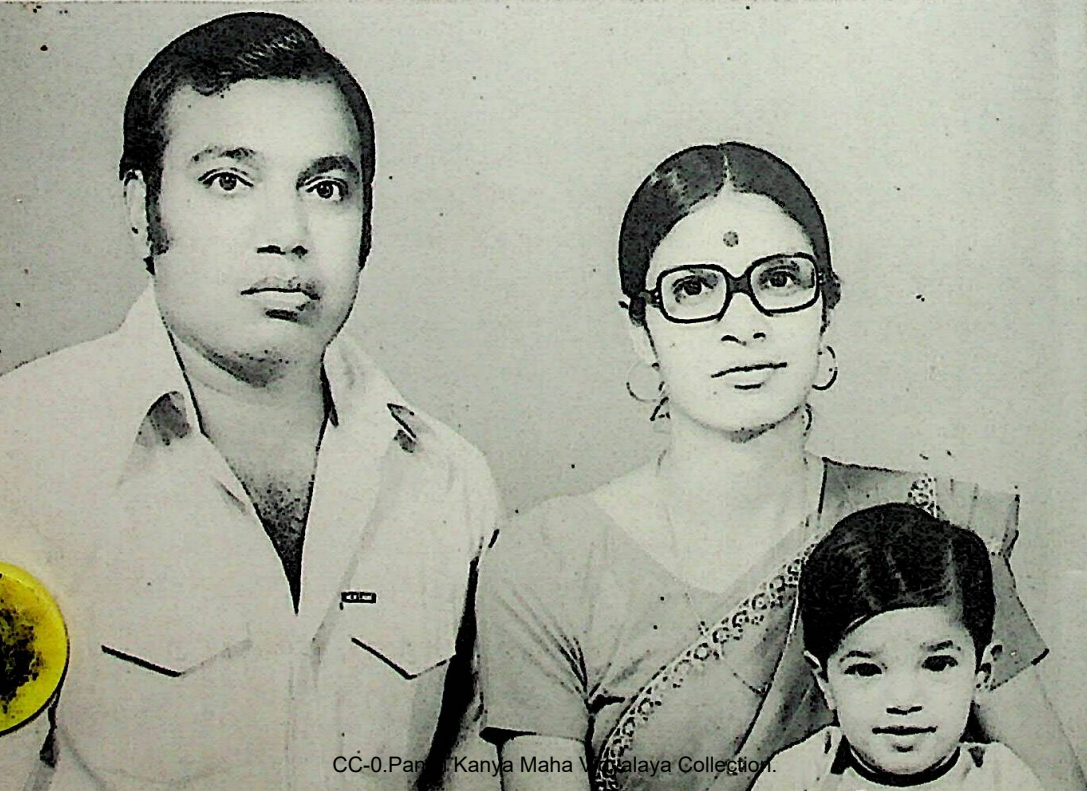
मेरे पिता—मेरी दृष्टि में

श्रीमती प्रतिभा किशोर*

यूं तो हर पुत्री की दृष्टि में उसके पिता का स्थान बहुत ऊंचा होता है, किन्तु मेरी दृष्टि में मेरे पिता का स्थान केवल ऊंचा ही नहीं, अपितु पूज्य भी है। बहुत बचपन से ही हमें यह अहसास हो गया था कि हमारे पिता औरों के पिताओं से बहुत भिन्न हैं। उन्होंने शुरू से ही अध्यात्म की तरफ जोर दिया। हमें शुरू से ही यही शिक्षा दी कि संसार और सांसारिक सुखों को गौण समझो, अपने चरित्र को सबसे अधिक महत्त्व दो, ईश्वर की उपासना करो। जीव केवल मनुष्य जन्म में ही अपनी आत्मा का उद्धार कर सकता है। हमें अपने घर का वातावरण सदा आध्यात्मिक मिला।

मुझे याद है, हमारे घर में शाम के समय हवन जरूर होता था। पहले संध्या होती थी और हवन के बाद पिताजी हम सब को ध्यान लगाने के लिए कहा करते थे। वो कहते थे 'कि सबको कम से कम आधा घंटा ध्यान जरूर लगाना है।' जिस समय हमारे सब साथी बाहर खेल रहे होते थे, उस समय हमें यह सब करना पड़ता था। ध्यान लगाने के स्थान पर हमारी दृष्टि घड़ी पर लगी रहती थी कि कब आधा घण्टा बीते और हमारी जान छूटे। लेकिन जबर्दस्ती बैठने से दो फायदे हुए एक तो यह कि, कभी-कभी ५-७ मिनट के लिए शायद हमारा मन स्थिर हो जाता था। दूसरा यह कि हमें अपने मन पर नियन्त्रण रखना आ गया।

हमारे पिता श्री ने हमें स्वास्थ्य का ध्यान रखना भी सिखाया। वे कहते थे, समय कभी नष्ट मत करो। कितनी ही बार हमसे समय-सारिणी बनवाते थे जिसमें सुबह उठने के बाद योगासन, स्कूल जाना, आकर घर का काम करना, फिर पढ़ना, शाम को हवन-संध्या और ध्यान लगाना शामिल होता था। किन्तु बालक-मन तो चंचल होता है। अतः कुछ दिन उस पर अमल होता था, फिर गड़बड हो जाता था। कभी-कभी हम उनकी पकड़ में आ जाते थे। वे स्वयं आसन करके हमें दिखाते थे और सिखाते थे। वैसे तो वे अधिकतर घर से बाहर ही रहते थे, गुरुकुल में। हमने उन्हें या तो अध्ययन करते देखा, या गुरुकुल के कामों में व्यस्त। घर-गृहस्थी के

* १२७, उत्तराखण्ड, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

काम तो कभी उन्हें करते देखा ही नहीं। यहां तक कि बाजार से सौदा-सब्जी लाते भी कभी नहीं देखा। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि वे मेहनती नहीं थे। मैंने उन्हें सत्तर की आयु में भी मयूरासन लगाते देखा है, जिसे अच्छे-अच्छे नौजवान भी आसानी से नहीं लगा सकते।

एक बार की बात मुझे याद है। मैं बहुत छोटी थी, करीबन आठ-नौ साल की। सर्दियों के दिन थे। सुबह के साढ़े पांच बजे पिताजी ने मुझे जगाया और अपने साथ घूमने चलने को कहा। सर्दियों में तो सूरज भी बहुत देर में निकलता है। बड़ी मुश्किल से मैं तैयार हुई। हम दोनों लोदी-गार्डन पहुंचे। लेकिन वहाँ पहुंचते-पहुंचते मेरी तो कुलफी जम गई। हाथ-पैर सुन्न पड़ गए और एक कदम बढ़ाना भी मुश्किल हो गया। मैंने कहा —'मुझ से अब नहीं चला जा रहा है, बड़ी जोर से ठंड लग रही है। मैं तो यहीं बेंच पर बैठ जाती हूं, आप घूम लो।' किन्तु उन्होंने मुझे बैठने नहीं दिया और जबर्दस्ती चलाते ही रहे। कहना न होगा कि थोड़ी देर बाद अपने-आप ही सारे शरीर में गर्मी आ गई।

इसके साथ ही मुझे यह भी याद है कि हर २६ जनवरी को सुबह-सुबह लोदी कालोनी से इंडिया गेट तक हम लोग पैदल जाया करते थे और मेरे पिता कभी मुझे और कभी मेरी छोटी बहन को बारी-बारी से कंधे पर बिठा कर परेड दिखाया करते, ताकि हम अपने देश और इतिहास के बारे में अधिक से अधिक जान सकें। आर्थिक दृष्टि से जितनी उनकी सामर्थ्य थी, उससे अधिक से अधिक हमें ज्ञान और स्नेह देने की कोशिश उन की बराबर रहती थी। अपने परिवार के प्रति ममत्व और मोह नहीं था, किन्तु अपने कर्तव्यों को अच्छी तरह जानते थे और निभाते भी थे।

सन् १९५८ की बात है, मेरा विवाह तय हो चुका था। पिताजी को उसका प्रबन्ध भी करना था और वे गुरुकुल को भी नहीं छोड़ सकते थे। इसलिए रोज सवेरे साइकिल पर गुरुकुल जाते और दोपहर को पढ़ाने के बाद लौटते। भरी गर्मी में चिलचिलाती धूप में साइकिल पर ही वापिस आते। एक दिन लौटते समय, नाले किनारे एक पत्थर पर साइकिल का पहिया चढ़ गया और वो गिर गये। सुनसान में काफी देर ऐसे ही पड़े रहे, क्योंकि घुटने में जबर्दस्त चोटें आई थी। सौभाग्य से कुछ देर बाद वहां से एक तांगा गुजरा तो उसे रोककर, तांगेवाले की सहायता से वे घर तक पहुंचे। उसी दुखते घुटने से बेंत की सहायता से मेरा कन्यादान किया। कई महीनों में जाकर उनका पैर ठीक हुआ।

चालीस दिन का उपवास

उनके संन्यास लेने के बाद की बात है जिन दिनों वे "योगी का आत्म चरित्र" छपा रहे थे। शोध कार्य तो वे पूरा कर चुके थे उसको छपवाने के सिलसिले में देहली आए हुए थे। मेरे यहीं ठहरे थे। सम्पादन का काम चल रहा था। तभी पता नहीं उनके मन में क्या आया कि कहने लगे, मैं उपवास करूंगा। अनाज तो पहले ही कई सालों से छोड़ा हुआ था, बस गाय का दूध, फल और सब्जियां आदि ही लिया करते थे, वह भी छोड़ दिया। पूरे दिन में सिर्फ दो बार नीबू और शहद पानी में लेते थे। हम उन्हें देख-देखकर हैरान होते थे। उपवास में भी वे पूरा दिन बैठे प्रूफ आदि पढ़ा करते थे। सुबह तड़के ही शायद दो बजे से ध्यान लगाते थे, उसके बाद घूमने जाते थे, फिर आकर स्नानादि से निवृत्त होकर अपने सम्पादन के काम में लग जाते थे और पूरा दिन लिखते-पढ़ते रहते थे। इस प्रकार पूरे चालीस दिन का उपवास उन्होंने किया। तब तक किताब भी छप गई थी। शायद उसे पूरा करने का व्रत ही उन्होंने लिया हो। लेकिन जब उनका उपवास समाप्त हुआ तब उनकी हथेलियों और पैरों के पंजों की खाल ऐसी हो गई थी जैसे ऊपर से पहनाई गई हो। किन्तु वे तो यही कहते थे कि मुझे कोई कमजोरी महसूस नहीं हो रही है। शायद यह उनकी इच्छाशक्ति ही थी जो उन्हें सम्बल दे रही थी।

वे जहां भी रहते, लोग उनके भक्त बन जाते थे। पता नहीं उनमें ऐसी क्या बात है, चाहे वे देहली में रहें, चाहे हरिद्वार में, चाहे रामगढ़ और चाहे हैदराबाद में। जगह-जगह उन्होंने आश्रम बनाए, और कुछ दिन वहां रहे और बाद में सब छोड़-छाड़ कर चल दिए। माया-मोह तो उनमें बिलकुल है ही नहीं। हैदराबाद में तो लोग उन्हें एक तरह से दैवी-शक्ति से सम्पन्न ही मानने लगे थे। आश्रम के आस-पास के गांव के लोग जबर्दस्ती उनके कमण्डल का जल उनके हाथ से ले जाते थे और अपने घर में परिवार के बीमार जनों को, यहां तक कि पशुओं को भी, पिलाते थे और सचमुच ही वे ठीक हो ज़ाते थे। पिताजी कितना ही मना करते थे कि भई मैं साधारण मनुष्य हूं, कोई देव-पुरुष नहीं हूं, न ही मुझे कोई चमत्कार आता है, किन्तु वे मानते ही नहीं थे। कुछ न कुछ तो उनके योग की शक्ति होगी ही, तभी तो ऐसा होता था। हां, उन लोगों के मन का विश्वास भी उसमें शामिल होता होगा।

कहते हैं, किसी महापुरुष को बनाने में किसी नारी का हाथ जरूर होता है। पिता जी को स्वामी सच्चिदानन्द बनाने में उनकी धर्मपत्नी

अर्थात् हमारी माताश्री का प्रमुख हाथ है। उनका जीवन भी एक तपस्विनी का जीवन ही रहा है। स्वामी जी के हर कार्य में उन्होंने सहयोग दिया है। यदि वे सिर्फ अपने अधिकारों का ही प्रयोग करतीं, कर्तव्य न निभातीं, तो आज जहां स्वामी जी पहुंचे हैं, शायद न पहुंच पाते। वे सदा ही कहती आई हैं कि कर्तव्य का स्थान भावना से ऊंचा होता है। हमने भी बचपन से देखा है। कितना त्यागमय जीवन उन्होंने बिताया है!

मुझे गर्व है कि मैं ऐसे माता-पिता की पुत्री हूं, जिन्होंने हमें समाज में अपना सिर ऊंचा उठा कर चलना सिखाया। उनके कुछ गुण हमें भी विरासत में मिलें, यही प्रभु से प्रार्थना है।

गुणा गुणज्ञेषु गुणी भवन्ति,
ते निर्गुणं प्राप्य भवन्ति दोषाः।
सुस्वादु-तोया प्रवहन्ति नद्यः,
समुद्रमासाद्य भवन्त्यपेयाः ॥

गुणों के मर्मज्ञों के सम्मुख गुणों की गुणात्मकता बढ़ जाती है, किन्तु गुणहीन के पास वे गुण ही दोष बन जाते हैं। स्वादिष्ट जल को लेकर बहने वाली नदियां जब समुद्र में गिरती हैं तब पीने योग्य नहीं रहतीं।

जो जीवन भर रुके नहीं, झुके नहीं

डा० श्रीमती आशारानी राकेश*

मार्च १९८९ की एक संध्या—द्वार खोला। सामने ही मशहरी में सिमटे से पड़े थे वे, अर्धचेतन अवस्था में—श्री स्वामी सच्चिदानन्द जी अर्थात् पूज्य पिता श्री। मन में उदासी घिर आई—जीवन्त व्यक्तित्व की इस परिणति पर। जीवन भर जिसने सदा अपने परिवार की अपेक्षा दूसरों के विषय में सोचा, समाज-हित के लिए व्यक्तिगत सुखों का बलिदान दिया, आज असहाय अवस्था में, पराश्रित होकर मौन भाव से इस अंधेरे कक्ष में शान्त लेटा हुआ था।

मन पीछे लौट गया। याद आया वह अतीत—जिसमें अपने गुरु के उनके अन्तिम समय में दिये गये वचन को निभाने के लिए स्वामी जी ने अपनी युवावस्था समर्पित की। युवावस्था ही नहीं, अपितु आजीवन अपने वचनों को निभाते रहे। परिवार होते हुए भी जो कभी परिवारी नहीं रहे। चिन्तन किया सदा दूसरों का—आर्ष-पाठ-विधि के प्रचार का, क्योंकि यही उनका प्रण था। अपने लक्ष्य की पूर्ति हेतु अनथक प्रयासों से कई गुरुकुल स्थापित किये। यथा—बुकलाना, देहली, खेड़ा खुर्द आदि, ताकि वैदिक संस्कृति का, महर्षि दयानन्द प्रदत्त पाठविधि का प्रसार हो सके।

कई बार सोचने लगती हूं कि पूज्य पिताश्री ने अपने चुम्बकीय व्यक्तित्व के आकर्षण से स्थान-स्थान पर शिक्षा-केन्द्र खोले, अनेक श्रद्धालु भक्त बनाये, छात्रों के लिए निश्शुल्क शिक्षा, खान-पान आदि की व्यवस्था की। दयानन्द वेद विद्यालय, गौतम नगर, देहली में तो छात्रों के लिये गोशाला की व्यवस्था भी की, जिससे सबको दुग्ध उपलब्ध हो सके। औषधालय की स्थापना की, जिसके योग्य वैद्य जी की सेवा द्वारा अनेकों ने लाभ उठाया। याद आता है, देहली गुरुकुल के वार्षिकोत्सव का वह धूमधाम भरा दृश्य जो तीन दिन तक आसपास तथा दूर-दूर के अनेक गण्य मान्य जनों को आकर्षित और आन्दोलित किया करता था। अपना स्वार्थ यह सोचने के लिए विवश कर देता है कि कहीं इस शक्ति का शतांश भी अपने परिवार को दिया होता तो संभवतः हम लोगों का वर्तमान स्वरूप कुछ और

---

* प्राध्यापिका, वैश्य कालेज, रोहतक हरियाणा

ही होता ।

परिवार में सब से बड़ी होने के कारण मैंने अपने पिता को सब से अधिक जाना और देखा है—पिता के रूप में भी और गुरु के रूप में भी। संस्कृत और नागरी की आरंभिक शिक्षा इन्हीं की देख रेख में सम्पन्न हुई। पढ़ाने का ढंग ऐसा सरल-सहज और रोचक कि संस्कृत जैसी भाषा तीन-चार दिन में ही अपनी बन गई। यही अनुभव तो प्रायः सभी छात्रों को रहा।

पाठकों को यह जानकर आश्चर्य हो सकता है कि मैं ब्रह्मचारी वीरेंद्र के नाम से लगभग चार साल तक गुरुकुल में लड़का बनकर रही और विद्या-ग्रहण करती रही। पूज्य स्वामी जी की प्रेरणा से बचपन से ही समाज और देश-सेवा के अनेक स्वप्न देखे। कभी हम को झांसी की रानी बनाने के, तो कभी देश को स्वतन्त्र कराने के लिए सर्वस्व न्यौछावर करने के। पर सांसारिकता के आगे सभी भावनायें कल्पना बनकर ही रह गईं। इन सबके साथ ही संस्कार पाये सदा सच बोलने के—छल-कपट से दूर रहने के। व्यावहारिकता नहीं जानी और शायद तभी हम सभी परिवार के सदस्य स्वयं को आज के युग में 'मिस-फिट' पाते हैं।

याद आतो है उस मुक्त और मस्त शैशव की, जब कोई भी अभाव महसूस नहीं हुआ, अपितु मन सदा उत्साह से छलकता रहता था। यह सब पिता द्वारा दिये गये विचारों और शिक्षा का ही परिणाम था।

अव के वातावरण से अलग-थलग स्वामी जी इस कलियुग में वैदिक संस्कारों को लेकर चले और यही भाव अपने बच्चों को और शिष्यों को भी दिये। निजी जीवन भी कुछ होता है, अपना घर-परिवार भी कुछ होता है—शायद यह कभी नहीं समझा। एक पुत्र और चार पुत्रियों के पिता बन कर भी हमारे पिता श्री—पूज्य स्वामी जी—सदा असंसारी-वैरागी ही रहे। जब कभी संसारी बनकर बच्चों के लिए कुछ अर्जन करना चाहा, तभी भारी धन-हानि उठानी पड़ी। दो बार प्रैस खोला, पर भरोसे के व्यक्तियों से भी धोखा और छल पाकर असफलता का मुंह देखना पड़ा। प्राप्ति तो क्या होनी थी, पास की थोड़ी बहुत जमा-पूंजी और पत्नी के आभूषण भी गंवाने पड़े।

समय तो सदा अपनी गति से चलता है। समय सरकता रहा और जैसे तैसे सभी बच्चे जीवन में भली भांति व्यवस्थित होते गये—यह एक लंबी गाथा है, ईश्वरीय कृपा का फल है, और फल है हमारी स्नेहमयी-त्यागमयी जननी की अनवरत साधना का।

स्वामी जी स्वभाव से इतने सरल और भोले रहे कि प्रायः छले जाते रहे, जिस पर भी भरोसा किया, उसी ने विश्वास तोड़ा। पर वाह री हिम्मत ! उस हिम्मत की दाद आप कैसे देंगे कि जिन से धोखा हुआ, उन्हीं को फिर से विश्वासपात्र मानना नहीं छोड़ा। बार-बार धोखा खाकर भी अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते ही रहे।

आज की मनोवृत्ति—जहां सबको अपनी-अपनी पड़ी है, केवल अधिकारों की छीना-झपटी हो रही है, मानवता का ह्रास हो रहा है—पता नहीं, इस भावना को त्याग मानकर आदर करेगी या कुछ और कहकर उपहास की दृष्टि से देखेगी, कहा नहीं जा सकता। पर इसमें कोई संदेह नहीं कि स्वामी जी ने अपने को, पूरे जीवन को समाज पर न्यौछावर कर दिया।

प्रभु से मेरी तो यही प्रार्थना है कि जिस उद्देश्य को लेकर वे चले थे, उसका समापन भी श्रद्धास्पद ही हो। जिन्होंने बुरी से बुरी परिस्थिति में भी कभी स्वाभिमान नहीं छोड़ा, जीवन के इस अन्तिम चरण में भी वे उसी शान से चलते रहें। यही कामना है कि वे अदीन होकर शतायु हों।

उदये सविता रक्तस् तथैवास्तमयेऽपि सः।
सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता॥

उदित सूर्य भी अरुणिम रक्तिम,
अस्त समय भी ओजस्वी है।
सुख-वैभव हो, या हो विपदा,
महापुरुष तो तेजस्वी है।

स्वामी सच्चिदानन्द जी एक योगी के रूप में

—डॉ० नरेश कुमार ब्रह्मचारी*

स्वामी सच्चिदानन्द जी को सारा आर्यजगत् जानता है। कुछ लोग उन्हें गुरुकुल दयानन्द वेद विद्यालय के संस्थापक आचार्य राजेन्द्रनाथ के रूप में जानते हैं, कुछ एक महर्षि दयानन्द सरस्वती और वैदिक सिद्धान्तों के दीवाने पत्रकार और लेखक के रूप में, तो अन्य लोग उन्हें अनेक योग-संस्थाओं के निर्माता और अनेक योग-ग्रंथों के प्रकाशन के कारण एक योगाचार्य के रूप में भी विगत कुछ वर्षों से देखते रहे हैं। यद्यपि दयानन्द वेद विद्यालय, यूसुफ सराय, नई दिल्ली के निकटवर्ती शाहपुरजट गांव के एक आर्य परिवार में जन्मा होने के कारण मैं वेद विद्यालय तथा श्री महाराज का नाम बहुत बचपन से ही सुनता आया था, किन्तु महाराज श्री से मेरा परिचय सन् १९५६ में हुआ। तब तक उनके हृदय में योग सिद्ध करने की लगन लग चुकी थी और वे केवल दयानन्द और वेद के दीवाने न रहकर योग के दीवाने और भी अधिक हो चुके थे, तथा योग को सिद्ध करने की दिशा में—मोक्ष-ग्रन्थों के स्वाध्याय और प्रणवोपासना के अनवरत अनुशीलन के रूप में एक बहुत बड़ी कमाई कर चुके थे।

यह ठीक है कि योग की साधना-पद्धति-विषयक स्वामी जी की विचारधारा को परिपक्वता तो ऋषि दयानन्द के अज्ञात जीवन के प्रकाशित होने के बाद ही मिली, किन्तु 'अज्ञात जीवनी' में बताई गई प्रणवोपासना की खोज स्वामी जी अपने अपने सुदीर्घ जप-ध्यानादि के अभ्यास और सतत योग-चिन्तन के फलस्वरूप स्वयं भी लगभग कर ही चुके थे, क्योंकि लोधी रोड़ के अपने निवास-काल में भी स्वामी जी लोधी गार्डन में लम्बे समय तक आसन जमाकर 'ओ३म्' के मानसिक जप और अर्थ-भावना का अभ्यास भी दसों वर्षों तक पूर्ण निष्ठा से करते रहे हैं। यह काल १९५६ से लेकर अज्ञात जीवनी के प्रकाश में आने के मध्य का ही रहा है।

अज्ञात जीवनी को 'योगी का आत्मचरित्र' के रूप में प्रकाशित करते

---

* सहायक निदेशक, योग विभाग, भारत सरकार

ही तो स्वामी जी ने लोधी रोड़ छोड़ दिया था। वहीं प्रणवजप की निष्ठा-भक्ति से साधना करते-करते स्वामी जी को सत्त्वगुण की अत्यन्त वृद्धि ने जप करने में असमर्थ करके ध्यान योग की उच्च भूमियों की अनुभूतियां कराई थीं, जिन्हें स्वामी जी मेरे साथ होने वाली योग-चर्चाओं में छिपा न पाकर जब तब कह ही जाते थे। अज्ञात चरित्र के प्रकाशन ने जब स्वामी जी के अध्ययन-चिन्तन-निदिध्यासनात्मक सुदीर्घ अनुसन्धान को सुपुष्ट एवं विकसित कर दिया तब तो स्वामी जी की योग-निष्ठा एवं ईश्वर-भक्ति इतनी उद्दीप्त हो उठी कि अनेक वर्षों तक अभ्यास-रत रह कर आपने पुस्तक में वर्णित प्रणवोपासना तथा अन्य विशिष्ट साधनाओं का अहर्निश संग्रह कर जहां अपने जीवन को निहाल किया, वहां प्राचीन ऋषि-मुनियों की इस लुप्त प्राय तथा दुर्लभ साधना-पद्धति को जन-जीवन तक पहुंचाने के लिए लेखनीबद्ध भी किया।

मैंने स्वयं भी योग के सैंकड़ों गुरुओं से सही मार्ग खोजने की नीयत से भेंट की, कई सौ योग-ग्रन्थों का मन्थन किया; हठ, लय, मन्त्र-तन्त्र आदि बहुसंख्य योग-पद्धतियों की साधना कर उन्हें सिद्ध किया। किन्तु योग का सच्चा मार्ग मुझे पूज्य स्वामी सच्चिदानन्द योगी की कृपा से ही प्राप्त हुआ। आप से मिलने के बाद मैं निहाल हो गया और अन्य किसी गुरु के पास शंका-समाधान पाने या योग सीखने जाने की आवश्यकता न पड़ी। यह सब प्रभाव आर्ष योग-पारंगत स्वामी जी का है। आर्ष-योग के चिन्तन और अभ्यास की गहराई में मुझे भारत में कोई भी योगी स्वामी जी के मुकाबले का नहीं मिल पाया। सहज एवं उदारतापूर्ण मार्ग-दर्शन के लिए मैं जीवन-भर कृतज्ञता की भावना से आपके चरण-कमलों में नतमस्तक रहूंगा।

बचपन से ही योग में अनन्य निष्ठा भक्ति होने के कारण मैंने एम० ए० पास करने के उपरान्त पी० एच० डी० तथा डी० लिट् की उपाधियों के लिए शोध-प्रबन्ध योग विषय पर ही लिखे। उन दिनों भी साधना-पक्ष की गुत्थियों को सुलझाने के लिए भारत के अनेकानेक योगियों तथा अनुभवी विद्वानों से योग के विभिन्न पहलुओं पर गहन चर्चाएं करने का सुयोग मिला। तदुपरान्त १९७४ में केन्द्रीय सरकार के योग विभाग में सहायक निदेशक (योग) के पद पर मेरा चयन हो गया। पिछले पन्द्रह वर्षों से इस विभाग में रहकर राष्ट्रीय स्तर पर योग प्रसार और विकास की योजनाओं की देख-रेख करता रहा हूं। भारत सरकार के इस योग विभाग में भारत भर के योग-विशेषज्ञ तथा योग-गवेषक लोग निरन्तर आते रहते हैं।

अवसर का लाभ उठाकर मैं समाधि-साधना-पद्धति की चर्चा भी उनसे करता ही रहता हूं किन्तु सत्य यही है कि इस दिशा में मुझे उनसे बढ़कर व्यक्तित्व नहीं मिला।

स्वामी सच्चिदानन्द योगी से भेंट—

बहुत बचपन से ही योग में मेरी रुचि थी। उस रुचि में घर का धार्मिक वातावरण भी काफी हद तक उत्तरदायी था। पिताजी घर की दीवारों पर शिक्षाप्रद बातें, दोहे और श्लोकादि लिखने के आदी थे। उनमें से बहुत से दोहे तथा शिक्षाप्रद बातें आज तक भी मुझे याद हैं। जिन दो दोहों ने मेरे विचारों को सब से अधिक झकझोर दिया था वे निम्नलिखित हैं—

ओम् नाम सबसे बड़ा, इससे बड़ा न कोय।
जो इसका सुमिरन करे, शुद्ध आत्मा होय॥
हर जगह मौजूद है पर वो नजर आता नहीं।
योग-साधन के बिना उसको कोई पाता नहीं॥

ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभावादि के विषय में अधिक जिज्ञासा करने पर पिताजी मुझे यही बताते थे कि परमात्मा सब जगत् का स्वामी, सब जगह व्यापक, सब कुछ करने वाला तथा सर्व-समर्थ है। उसकी प्राप्ति योग की सिद्धि से ही हो सकती है, तथा उसको प्राप्त करने वाला मनुष्य भी सब दु:खों व बन्धनों से छूट कर निहाल हो जाता है। घर में जब तब चलने वाली इन प्रभु-चर्चाओं ने मेरे हृदय को ईश्वर की ओर खींचा तथा योग को सिद्ध करने की एक प्रबल इच्छा भी जगा दी। फलतः दस ग्यारह वर्ष की आयु में ही मैंने योग सीखने की अपनी प्यास बुझाने के लिए योग-विद्या के जानकार साधु-महात्माओं की खोज शुरू कर दी। इसी इच्छा से मैं दो-तीन बार पिताजी की अनुमति लिए बिना ही योगियों को खोज में घर से निकल पड़ा। परन्तु काफी भटकने के बावजूद कोई भी योगी अपने मतलब का न मिला। मुझे इधर-उधर भटकने तथा गलत लोगों के हाथों से बचाने की नीयत से पिताजी ने खुद भी अपनी योग्यता के अनुसार योग के आठों अंगों की मुझे जानकारी दी तथा अनेक विद्वानों से मुझे मिलाया। किन्तु मेरी तसल्ली न होती देखकर पिता जी मुझे अन्त में स्वामी सच्चिदानन्द योगी के पास ले गए जो उन दिनों (सन् १९५६ में) आचार्य राजेन्द्रनाथ शास्त्री के नाम से दक्षिण दिल्ली के गौतम नगर में एक संस्कृत विद्यालय चलाते थे तथा स्वयं वैदिक योग-परम्परा के गहन विद्वान् होने के साथ-साथ ईश्वर-भक्ति एवं योग-निष्ठा के धनी थे।

अपनी पहली चर्चा में स्वामी जी ने एक ही बात पर जोर दिया कि ईश्वर को प्रत्यक्ष करने के लिए जिस योग का विधान किया गया है वह योग-मार्ग उपनिषदों तथा महाभारत में आए योग प्रसंगों तथा पातञ्जल योग का गहन चिन्तन करने से एवं अनुभवी योगियों की संगति से ही जाना जा सकता है। स्वामी जी ने यह भी स्पष्ट किया कि वे स्वयं भी योग के क्रियात्मक अन्वेषण मे निरत हैं तथा स्वयं भी इस आर्ष योग-परम्परा में सिद्धहस्त होने का दावा नहीं कर सकते। हां, योग-साहित्य का अवगाहन करने के कारण योग के किसो सच्चे जिज्ञासु का मार्गदर्शन अवश्य कर सकते हैं।

गौतम नगर में स्थित स्वामी जी के वेद विद्यालय के निकटवर्ती शाहपुर जट गांव का निवासी होने के कारण स्वामी जी से निरन्तर योग चर्चा करने का सुयोग मिलता रहा। इसी बीच मेरठ, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर आदि इलाकों के यायावर ऋषि ब्रह्मचारी कृष्णदेव चैतन्य तथा योग-निकेतन के संस्थापक स्वामी योगेश्वानन्द सरस्वती—कुण्डलिनी योग के इन दो सिद्धहस्त आचार्यों के मार्गदर्शन में कुण्डलिनी-जागरण एवं षट्-चक्रभेदन की भरपूर साधना करने का सौभाग्य भी मिला—शुद्धिकर्म, आसन, मुद्रा एवं प्राणायाम की विविध साधनाओं एवं योग के इन दो योगी-गुरुओं के अनुग्रह से सैकड़ों प्रकार की प्रकाशमयी एवं शब्दमयी आंतरिक क्रीडाओं का अनुभव भी किया। किन्तु विविध चक्रों का सफल भेदन हो जाने पर भी अतीन्द्रिय दर्शन रूप समाधि एवं पराशक्ति-परक वैराग्य की प्राप्ति न होने के कारण कुण्डलिनी-योग की ये साधनाएँ अधिक दिन तक मेरी योग-निष्ठा का केन्द्र न बन सकीं।

हठयोग की साधनाओं से मेरी आस्था हटने का एक मुख्य हेतु स्वामी सच्चिदानन्द जी महाराज का सतत सत्संग भी था। हठयोग की साधना के इन दस वारह सालों में भी मैं स्वामी जी से यदा-कदा मिलता रहता था, तथा उनके द्वारा सुझाए औपनिषद एवं पातञ्जल योग साहित्य का मन्थन भी चलता ही रहता था। स्वामी जी एकनिष्ठ हो प्रणव-जप ध्यानादि की साधना में लीन रहते थे। प्राचीन ऋषियों की योग-साधना-पद्धति की खोज करने के उद्देश्य से स्वामी जी तथा अन्य योगाभ्यासी विद्वानों के सत्संग, आर्ष योग साहित्य के स्वाध्याय तथा ध्यान-योग के अभ्यास में लगातार रत रहते-रहते मुझे ऐसा तो लगने लगा कि अर्थ-भाव-सहित निरन्तर की गई प्रणव-जप-साधना ही अन्तरङ्ग योग अथवा धारणा-ध्यान-समाधि की सिद्धि का अभ्यासात्मक पहलू है; तथा यम, नियम,

आसन, प्राणायामादि की साधनाएँ भी वैराग्यपरक होने के कारण उस समाधि-साधना में सहायक होती हैं। किन्तु पूरा समाधान नहीं हो पाया था।

उन्हीं दिनों परमपिता परमात्मा की असीम कृपा तथा शान्तिनिकेतन (कलकत्ता) के पं० दीनबन्धु वेदाचार्य जी के सत्प्रयास से महर्षि दयानन्द जी की 'अज्ञात जीवनी' प्रकाश में आयी। स्वामी सच्चिदानन्द जी ने कठिन परिश्रम करके उसे 'योगी का आत्मचरित्र' नाम से प्रकाशित भी कर दिया। स्वामी जी के मार्गदर्शन में इस ग्रन्थरत्न में प्रकाशित योग की सारगर्भित साधना-पद्धति जब मैंने पढ़ी तो बीसों वर्षों से चल रही अपनी योग की खोज एकाएक फलवती होती दीख पड़ी। योग की साधनाओं और उनसे प्राप्त होने वाले सामर्थ्यों के विषय में उत्पन्न हुई जिन गुत्थियों को योग शास्त्र पर उपलब्ध अनेकानेक व्याख्याओं का बारीकी से अध्ययन, अथवा भारत का कोई भी योगाभ्यासी विद्वान् नहीं सुलझा पाया था, वे सभी इस ग्रन्थ के अध्ययन से अनायास ही सुलझने लगीं। मेरी समस्त शंकाएँ निर्मूल हो गयीं, तथा स्वामी जी के साथ अपने दीर्घकालीन योग-सत्संग से जिस प्रणवोपासना में मेरी आस्था हो गई थी, उसे अतीव सुदृढ़ पृष्ठभूमि मिल गई। लगभग ऐसा ही चमत्कार स्वामी जी के जीवन में भी हुआ। उन्हें भी अपनी उच्चस्तरीय समाधि-साधना से प्राप्त अनुभूतियों को परिपुष्ट करने के लिए एक ठोस आधार मिल गया।

यद्यपि स्वामी जी ध्यान-साधना के अपने सुदीर्घ अनुभव के बल पर इस ग्रन्थ में वर्णित साधना-पद्धति का अधिकांश प्रशिक्षण मुझे दे ही चुके थे, तथापि इस पुस्तक के द्वारा उस साधना-पद्धति की अन्यतम पुष्टि और योग को दुर्लभ साधनाओं एवम् अनुभूतियों के सारपूर्ण विस्तृत उपदेश ने पातंजल योग साधना का जैसा क्रमबद्ध और सुव्यवस्थित रूप साधक-जगत् के सामने प्रस्तुत किया वैसा अन्य किसी योग-ग्रन्थ में मिलना सम्भव नहीं था। स्वामी जी ने स्वयं भी इसे स्वीकार किया है कि योग के अनेक प्रसिद्ध विशेषज्ञों से गम्भीर योग-चर्चा तथा विशिष्ट योग-ग्रन्थों की गहरी छान-बीन करने के बावजूद उन्हें साधना का यथार्थ मार्ग 'योगी का आत्मचरित्र' के माध्यम से ही मिला। स्वामी जी ने इन समाधि-साधनाओं को अनेक वर्षों तक अभ्यास-रत रह कर अपने जीवन में उतार लेने के साथ-साथ अपनी विलक्षण प्रशिक्षण-प्रतिभा से और भी विकसित कर लिया है। विद्या और धर्म के प्रसार में समर्पित परोपकारी पुरुषों का तन, मन, धन जनहितार्थ ही होता है। केवल अपनी उन्नति के उद्देश्य से की जाने वाली

साधनाएँ स्वभाव से लोकोपकारी महापुरुषों के कार्यकलापों को अधिक दिन तक दूसरों की ओर से हटा कर स्वयं तक सीमित नहीं रख सकतीं। अत: पुरातन ऋषियों की इस आत्मसाक्षात्कार-पद्धति को पुनरुज्जीवित करने तथा अन्य साधकों का सही-सही मार्गदर्शन करने की इच्छा से प्रेरित होकर स्वामी जी ने इस गुह्य विद्या का प्रसार देश के अनेक स्थानों पर योग-प्रशिक्षण शिविर लगा कर तथा अनेक ग्रन्थों के लेखन के माध्यम से किया है। स्वामी जी के यौगिक विचारों तथा विशिष्ट साधनाओं को साधकों के हित की दृष्टि से नीचे संक्षेप में दिया जा रहा है।

योग क्या है ?

चित्त की वृत्तियों (व्यापारों) को संसार से रोकना योग कहलाता है। संसार से रोकी गई चित्त की वृत्तियां परमात्मा के स्वरूप में स्थिर हो जाती हैं। अत: एक वाक्य में यह कहा जा सकता है कि 'मन को सांसारिक विषय भोगों से हटा कर भगवान् के चिन्तन में निमग्न करने को योग कहते हैं।' मन किसी विषय से तभी हटता है जब उसमें दोष दिखाई दें, और किसी भी नए विषय में तभी लगता है जब उसमें लगने से कोई लाभ दिखाई दे। मन को विषयों से हटाने के लिए विषयों के अर्जन, रक्षण, नाश, भोगादि के दोषों का बार-बार दर्शन (चिन्तन) करना वैराग्य है। इसी प्रकार ईश्वर के नाम, जप, ध्यानादि में लगाने को मन तभी तैयार होता है जब उसे ईश्वर के असीम ज्ञान, सामर्थ्य, आनन्दादि गुणों की विशेषता का बारम्बार बोध कराया जाता है। अत: ईश्वर के गुण, कर्म, प्रभावादि के चिन्तन में बारम्बार मन को निमग्न करना ही अभ्यास है। अभ्यास को परिपक्व करने के लिए योगी को एक लम्बे समय तक अटल श्रद्धा और विश्वास के साथ निरन्तर प्रभु के नाम-जप, सामर्थ्य चिन्तनादि साधनों में निमग्न किया जाता है। चित्त के गहनतम तलों पर जन्म-जन्मान्तर से पड़े विषयों के संस्कार योगी की इस ध्यान-साधना को डगमगा कर चित्त को बलपूर्वक विषयों की ओर खींच ले जाते हैं।

दीर्घकाल तक निष्ठापूर्वक निरालस साधना करने पर सत्त्वगुण और वैराग्य की उत्तरोत्तर वृद्धि से जब चित्त बाहर के विषयों से हटकर सत्त्वगुण के प्रकाश से प्रदीप्त हो उठता है, तब योगी हस्तगत टार्च की प्रकाश बाधा के समान किसी भी विषय से उस चित्त का सम्बन्ध जोड़ कर उस का सही-सही ज्ञान प्राप्त कर लेता है। साधारण अवस्था में आत्मा के द्वारा प्रेरित मन सम्बन्धित इन्द्रिय के माध्यम से ही शब्द, स्पर्श, रूपादि

विषयों को जान सकता, किन्तु योग के द्वारा एकाग्र और प्रकाशित हुए सत्त्वगुण-बहुल चित्त के साथ यह प्रतिबन्ध नहीं है, अर्थात् वह किसी भी विषय का ज्ञान प्राप्त करने में सम्बन्धित ज्ञानेन्द्रिय की अपेक्षा से रहित है। चित्त के द्वारा सीधे ही होने वाले इस मानस प्रत्यक्ष को ही योग साधना का प्रथम उत्कृष्ट फल कहा जा सकता है।

विविध योग तथा उनका अधिकार :

साधकों की योग्यता और अधिकार के भेद से योग तीन प्रकार का है—भक्तियोग, क्रियायोग और अष्टांग योग। भक्तियोग या ईश्वर-प्रणिधान का अर्थ है—ईश्वर पर पूरा भरोसा करके सभी कार्यों के फल को भगवान् के अर्पण कर देना अर्थात् फलेच्छा को त्यागकर सर्वथा निष्काम-भाव से ईश्वर-प्रसन्नता के लिए कर्म करना, तथा हृदय से हर समय प्रभु को अंग-संग विद्यमान मानकर उसके नाम-जप-ध्यानादि साधनों में लगे रहना। इससे सिद्ध पुरुषों का दर्शन तथा उनके सहयोग एवं मार्गदर्शन की प्राप्ति होती है। काम-क्रोधादि विकार शान्त हो जाते हैं। चित्त स्वच्छ एवं निर्मल हो जाता है तथा शीघ्र समाधि की प्राप्ति होकर निर्भ्रान्त ज्ञान की प्राप्ति होती है। इस भक्तियोग के अधिकारी वे निष्काम परोपकारी, कर्मनिष्ठ, ज्ञानी, तीव्र वैराग्य एवम् ईश्वर-प्राप्ति की उत्कट इच्छा के धनी साधक ही होते हैं, जिनके चित्त में विशुद्ध सत्त्वगुण की प्रधानता होती है। वस्तुतः भक्ति योग ही ईश्वर या समाधि की प्राप्ति का एकमात्र मार्ग है। क्रियायोग में भी तप और स्वाध्याय की साधना से विक्षेपों को जीत लेने के बाद समाधि की प्राप्ति ईश्वर-प्रणिधान से ही होती है। अष्टांग योग में वर्णित सभी साधनाएँ भी जब चित्त के मल, विक्षेप और आवरण को दूर कर देती हैं तब योगी को ईश्वर-प्रणिधान से समाधि की प्राप्ति हो जाती है। क्रियायोग और अष्टांग योग में ईश्वर-प्रणिधान का वर्तमान होना इस बात की पुष्टि करता है कि किसी भी वर्ग के साधक को समाधि की प्राप्ति ईश्वर-प्रणिधान के बिना सम्भव नहीं।

क्रियायोग :

तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान का संयुक्त नाम क्रियायोग है। गर्मी-सर्दी, भूख-प्यास, सुख-दुःख, निन्दा-स्तुति, मान-अपमान, हानि-लाभादि द्वन्दों का सहना तप है। तप के बिना योग की सिद्धि होना सम्भव नहीं। तप का क्षेत्र व्यापक है। यह मन एवम् इन्द्रियों की भोग-लालसा को मिटा

कर उन्हें संयम की ओर प्रवृत्त करता है। शीत-उष्ण, क्षुधा-तृषादि को सहना, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सत्पुरुषों की सेवा, दीर्घकाल तक आसन में बैठना, या खड़े रहने का अभ्यास शारीरिक तप है। मौन, सत्यभाषण, कड़वे, तीखे तथा व्यर्थ शब्दों का त्याग वाचिक तप है। क्रियायोग-अष्टांग योग से ऊँचे किन्तु भक्तियोग से नीचे स्तर की साधना है। इसके अधिकारी साधकों के चित्त में सत्त्वगुण की प्रधानता तो होती है, पर एकाधिकार नहीं होता। फलतः रजोगुण एवं तमोगुण का अधिकार भी कभी-कभी चित्त पर हो जाने से चित्त विक्षिप्त होते रहने के कारण ज्ञान-अज्ञान, आसक्ति-विरक्ति आदि द्वन्द्वों से दोलायमान रहता है। चित्त श्रद्धा, उत्साह, ज्ञानादि साधनों से सम्पन्न होने के बावजूद राग, द्वेष, मोहादि के प्रभाव से चंचल, मलीन और दुःखी होता रहता है। बाद में तप और स्वाध्याय की साधना से जब चित्त का यह विक्षेप दोष दूर होकर निर्मल स्वच्छ और एकाग्र हो जाता है तभी ईश्वर-प्रणिधान बन पड़ने से समाधि-योग की उपलब्धि होती है।

अष्टांग योग :

भक्तियोग एवं क्रियायोग में प्रवेश पाने के अयोग्य जन-साधारण के जीवन को भोग-विलास, आलस्य-निद्रा तथा ऐन्द्रिक स्वेच्छाचार से हटकर संयम तथा साधना से जोड़ने का राजमार्ग 'अष्टांग योग' कहा जाता है। इसके आठ अंग हैं: यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इन में ईश्वर-प्रणिधान पांच नियमों में अन्तिम है। इसके अधिकारी जन-साधारण हो सकते हैं। जन-साधारण के जीवन में लोभ, क्रोध, मोहादि मनोविकारों का साम्राज्य रहने के कारण उनके शरीर, प्राण, मन आदि भी तरह-तरह की मलिनताओं और व्याधियों से घिरे रहते हैं। अतः निम्न कोटि के योगेच्छुकों के सामाजिक एवं व्यक्तिगत जीवन को निर्मल, सबल और योग की उच्च साधनाओं के उपयुक्त बनाने के उद्देश्य से अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, संतोष, आसन, प्राणायामादि साधनाओं का विधान किया गया है। अहिंसा प्राणीमात्र के प्रति वैर-भाव त्याग देने का नाम है। दूसरे प्राणियों को भी अपने समान समझकर मन, कर्म, वचन से किसी को पीड़ा या नुकसान न पहुँचाना ही अहिंसा है। सुखी व्यक्ति के प्रति मित्रता, दुःखी के प्रति करुणा, धर्मात्मा के प्रति प्रसन्नता तथा पापी के प्रति उपेक्षा भाव की साधना करने से इस साधना में शीघ्र सफलता मिलती है। दूसरे के दुःखों में दुःखी

तथा सुख में सुखी होना इस साधना का मूल मन्त्र है। जैसा अपनी जानकारी में हो वैसा ही कहना, मानना तथा कहना सत्य है। चोरी, बेईमानी, छल-कपट, घूसखोरी को त्याग कर अपने कर्तव्य-कर्म को मेहनत व निष्ठा से करना अस्तेय है। साधक को पाप से अर्जित या बिना अपने अधिकार या परिश्रम से प्राप्त धन की इच्छा भी नहीं करनी चाहिए। जननेन्द्रिय पर नियन्त्रण रखना, वीर्य-रक्षा करना ब्रह्मचर्य कहलाता है। काम-भाव से इान्द्रयों का देखना, उनके रूप का स्मरण करना, एकान्त में उनके साथ रहना, उनकी चर्चा करना, स्पश करना या अश्लीश बातें कहना सुनना, बुरा संकल्प करना तथा विषय-भोग ब्रह्मचर्य-विरोधी है। ब्रह्मचारी रहने से शरीर और मन का बल बढ़ता है। सत्त्व-साहस, आयु, यश, कीर्ति, उत्साह, आरोग्य, उद्यम, उच्चाशा, त्याग, शान्ति और आनन्द की वृद्धि होती है। इन्द्रियों की तेजोवृद्धि होने से सूक्ष्म दर्शन और अलौकिक विषयों के प्रत्यक्ष करने का सामर्थ्य आ जाता है। अत: साधक को योग की सिद्धि-प्राप्ति में सफल मनोरथ बनने के लिए ब्रह्मचर्य का निष्ठा से पालन करना चाहिए।

अपरिग्रह :

देह-रक्षा और योग-साधना के लिए जिन-जिन वस्तुओं की आवश्यकता है उनके अतिरिक्त सभी वस्तुओं का त्याग करना अपरिग्रह है। अधिक भोग्य वस्तुओं की इच्छा योग की सिद्धि में बाधक है। भोग्यवस्तुओं का आवश्यकता से अधिक संचय कर दूसरों से उन्हें वञ्चित रखना महापाप है। भोग्य-वस्तुओं के मानसिक बन्धन से अलिप्त रहकर, जरूरत से अधिक भोग-सामग्री का त्यागकर मुमुक्षु-जन अपने चित्त को निर्मल बना लेते हैं।

इन पांचों यमों का अनुष्ठान इसलिए है कि सांसारिक व्यवहार में निरत रहते हुए भी योगी का चित्त निर्मल रहकर साधना में स्थिर रहे।

नियम :

नियम पांच हैं— शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान। बाद के तीन नियमों की चर्चा तो ऊपर हो चुकी है। शौच और सन्तोष का विधान भी क्रियायोग के अधिकारी साधारण संसारी जन के लिए है। अत: उनकी संक्षिप्त चर्चा यहां की जाती है।

शौच—या शुचिता (पवित्रता) दो प्रकार की है—बाहरी और

भीतरी। शरीर तथा उसके अवयवों को बाहर-भीतर से पवित्र रखना, घर, वस्त्र, आदि को स्वच्छ रखना बाहरी शौच है, तथा अभ्यन्तर-शौच का अर्थ है अन्तःकरण की पवित्रता। मिट्टी, साबुन, जल, औषधादि से बाहरी शौच का साधन होता है तथा शुद्धाहार, सत्संग, सत्-चिन्तन, पवित्र मनोभाव रखने से आन्तरिक शौच सिद्ध होता है। शौच की सिद्धि से देहासक्ति व कामभाव समाप्त होता है, मन निर्मल होता है, एकाग्रता बढ़ती है। इन्द्रिय जय होकर आत्मा को देखने की योग्यता प्राप्त होती है।

सन्तोष—उपलब्ध साधनों से अधिक में तृष्णा न रखना सन्तोष है। इसकी सिद्धि से जो सुख प्राप्त होता है वह सब से उत्कृष्ट होने से अन्य सब धन उसके सामने धूल के समान हैं। अतः आत्म-साक्षात्कार प्राप्ति के इच्छुक योगाभ्यासी के लिए सन्तोष की महिमा अपार है। सन्तोष के आश्रय से सभी भोगेच्छाओं का त्याग कर परम लक्ष्य के साधन में लगे रहना चाहिए।

उत्तम तथा मध्यम कोटि के साधकों के जीवन में—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच एवं सन्तोषादि यम-नियमों की अधिकांश में सिद्धि देखी जाती है, किन्तु साधारण साधकों को श्रद्धा-आस्था सहित इनका सतत अनुशीलन कर अपनी योग्यता में वृद्धि करनी चाहिए। इन सात साधनाओं के अतिरिक्त आसन-प्राणायाम की साधना का विधान भी निम्न श्रेणी के साधकों के जीवन में प्रत्याहार की सिद्धि के उद्देश्य से किया गया है। शेष तीन अंग धारणा-ध्यान-समाधि (जिन्हें अन्तरङ्ग योग या ध्यान योग भी कहा गया है) तो ईश्वर-प्रणिधान का ही नामान्तर मात्र हैं। अतः योग की सर्वोत्कृष्ट समाधि-साधना या ईश्वर-प्राणिधान-साधना का वर्णन प्रारम्भ करने से पूर्व आसन-प्राणायाम प्रत्याहारादि पूर्व साधनाओं कासंक्षिप्त विचार प्रस्तुत करते हैं।

आसन—अष्टांग योग का तीसरा अंग है, जिससे उपासना अर्थात् ध्यान-समाधि के साधन में सुखपूर्वक और स्थिरतापूर्वक लम्बे समय तक बैठा जा सके, उसे आसन कहते हैं। आसन का प्रयोजन शरीर या अन्नमय-कोश को स्थित करने में है। शरीर और चित्त का गहन सम्बन्ध है। शरीर स्थिर होने से ही चित्त स्थिर होता है। आसन का प्रयोजन इसलिए भी है कि साधना बैकठर ही हो सकती है। खड़े होकर करने में मानसिक प्रयत्न शरीर को खड़ा रखने में बना रहता है। अतः सूक्ष्म साक्षात्कार नहीं कर सकता। पुनः ध्यान की बेसुधी में शरीर गिर जाता है। लेटकर साधना करने पर नींद आसानी से आकर घेर लेती है। बैठकर साधना

करने पर ही इन सब दोषों से बचकर मन को स्थिर किया जा सकता है। दीर्घकाल तक आसन में बैठने से प्राण की गति भी स्थिर हो जाती है और प्राण शक्ति का व्यय बहुत कम हो जाने से शीत, उष्ण, भूख-प्यास आदि द्वन्द्वों पर भी योगी का अधिकार हो जाता है। जिस आसन के अभ्यास से चित्त में उच्च भावों का उदय हो वे ही योग के आसन माने जा सकते हैं। आसन अनेक प्रकार के हैं। जिस आसन में बैठने से शरीर को स्थिरता और सुख का अनुभव हो वही आसन अभ्यास के लिए हितकर माना गया गया है। आसन का अभ्यास, एकान्त, पवित्र समतल और रमणीक स्थान पर तथा हो सके तो नदी किनारे या सुरम्य हरे-भरे बगीचे में किया जाय तो अच्छा है। लम्बे समय तक बैठने के लिए नरम, गुदगुदे आसन का प्रयोग हितकर है। बिना आसन बिछाये मिट्टी पर बैठने से पृथ्वी हमारी शक्ति को खींच लेती है। सभी आसनों में मेरुदण्ड में स्थिर सुषुम्ना नाड़ी मार्ग से प्राणोत्थान में, तथा शक्ति के ऊपर की ओर गति करने में बाधा न पड़े, क्योंकि साधना की उन्नत्ति शक्ति के उत्थान पर निर्भर करती है। आसन-साधना में बाधा डालने वाली निद्रा-तन्द्रा को जीतने के लिए स्वल्पाहार तथा नाडी-शुद्धि प्राणायाम का अभ्यास अतीव उपयोगी हैं। आसन की सिद्धि से श्वास-प्रश्वास की गति मन्द पड़कर प्राणायाम-साधना का मार्ग सरल हो जाता है।

प्राणायाम—प्राणशक्ति को विश्राम देना या श्वास-प्रश्वास की गति को रोकना प्राणायाम है। शरीर और प्राण के स्थिर होने से चित्त भी स्थिर तथा शरीर और प्राण के चंचल बने रहने से चित्त भी चंचल बना रहता है। अतः कुम्भक के अभ्यास से पूर्व, अभ्यासी को नाड़ी-शुद्धि का अभ्यास करना चाहिए।

नाड़ो-शुद्धि प्राणायाम में आसन से बैठकर पहले बायें स्वर से धीरे-धीरे वायु को अधिक से अधिक खींचकर पूरक करके दायें स्वर से मन्द मन्द लम्बा रेचक किया जाता है। रेचक समाप्त होने पर उसी (दायें) स्वर से पूरक करके बायें स्वर से निकाल दिया जाता है। इस प्रकार फिर बायें स्वर से पूरक करके दायें से धीरे-धीरे निकाल कर—आगे इसी क्रिया को जितना इच्छा और सामर्थ्य हो दोहराया जाता है। इसे नाड़ी-शुद्धि प्राणायाम कहते हैं। वहुत दिन तक ब्रह्मचर्य, मिताहार तथा उदर-शुद्धि के साथ इसका अभ्यास करने से नाड़ी-जाल शुद्ध हो जाता है। नाड़ी-जाल के शुद्ध होने से निद्रा, तन्द्रा आलस्य तथा तमोभाव हट जाता है। आसन अनायास ही सिद्ध हो जाता है। शरीर हल्का हो जाता है। मन में एकाग्रता और

आनन्द की अनुभूति होती है। धारणा शक्ति का उदय होता है। फेफड़े बलवान् एवं नीरोग हो जाते हैं। आयु बढ़ जाती है। बहुत दिन तक नाड़ी-शुद्धि प्राणायाम की साधना करने से सत्त्वगुण बहुल साधकों को तो श्वास-प्रश्वास की गति लम्बी होते-होते प्राण जय भी हो सकता है।

राजयोग में प्राणायाम भी पूर्ण मनोयोग से किया जाता है। श्वास-प्रश्वास की गति का संचालन भी मानसिक भावना ही करती है। रेचक-पूरक करते समय या स्वर बदलते समय अंगुलियों का प्रयोग नहीं किया जाता, न ही किसी भी प्राणायाम-साधना में श्वास-प्रश्वास की गति अति वेग से चलती है। मन एक क्षण के लिए भी खाली न रहकर श्वास-प्रश्वास की गति तथा जप में लगा रहता है।

प्राणायाम चार प्रकार का है। एक बाहरी—अर्थात् सांस को धीरे-धीरे बाहर निकाल कर जितनी देर हो सके बाहर ही रोक देना। इसे बाह्य प्राणायाम भी कहते हैं। दूसरा आभ्यन्तर अर्थात् प्राण को धीरे-धीरे अन्दर भरकर यथाशक्ति (जितना देर सुखपूर्वक रोका जा सके) अन्दर ही रोकना। तीसरे प्राणायाम में न तो प्राण को भीतर से बाहर निकाला जाता है और न ही बाहर से भीतर लिया जाता है अपितु एकदम जहां का तहां रोक दिया जाता है। इसे स्तम्भवृत्ति प्राणायाण कहते हैं। भाव यह है कि जिस प्रकार कोई अद्‌भुत विस्मयकारक वस्तु या घटना उपस्थित हो जाने पर मनुष्य स्तम्भित हो जाता है तो उसके सांस की गति भी कुछ क्षण के लिए रुक जाती है—इसी प्रकार अभ्यासी को अपने प्रयत्न से श्वास प्रश्वास की गति को जहां का तहां रोकना होता है। इन तीनों प्राणायामों के होने से अभ्यासी का प्राण पर काफी अधिकार हो जाता है। तभी वह चौथा प्राणायाम कर सकता है। जिसे बाह्या-भ्यन्तरविषयाक्षेपी कहते हैं। इस प्राणायाम में प्राण की गति के विरुद्ध क्रिया की जाती है। जब प्राण भीतर से बाहर निकलने लगे तब उसके विरुद्ध उसको निकलने न देने के लिए बाहर से भीतर ले। और जब बाहर से भीतर आने लगे तब प्राण को भीतर से बाहर की ओर धक्का देकर रोकता जाए। इस प्रकार दोनों के विरुद्ध क्रिया करने का अभ्यास करते-करते प्राण अभ्यासी के वश में हो जाते हैं। मन भी स्थिर होकर स्वाधीन हो जाता है। मन और प्राण के साथ-साथ इन्द्रियां भी स्वाधीन होकर अपने भोग्य विषयों का त्यागकर देती हैं। जितेन्द्रियता सिद्ध हो जाने पर बल पराक्रम बढ़ता है तथा बुद्धि सूक्ष्म और निर्मल हो जाती है। मन मोहशून्य हो जाता है। विचार-शक्ति और विवेक-शक्ति बढ़ जाती है। इनके बढ़ने

से तत्त्वज्ञान और सूक्ष्मदर्शन सामर्थ्य मिलता है जिससे मिथ्या ज्ञान नष्ट होकर शुद्ध ज्ञान का उदय होता है। प्राणायाम साधना के काल में ब्रह्मचर्य की रक्षा करनी चाहिए। स्निग्ध तथा सात्त्विक स्वल्पाहार करना चाहिए। केवल दूध या फलों पर रहा जा सके तो अधिक उत्तम है। साधना-काल में धैर्य रखना चाहिए। प्राण की गति के सम्पादन में अन्धाधुन्ध बल प्रयोग नहीं करना चाहिए। यह साधनाएँ यदि किसी अनुभवी योगी की देख-रेख में की जाएँ तो अधिक उत्तम है।

प्राणायाम के सतत अभ्यास से जब अभ्यासी का प्राण पर अधिकार हो जाता है तो प्राण के वश में होने से मन, और मन के वश में होने से इन्द्रियाँ भी अपने अधीन हो जाती हैं क्योंकि प्राण ही मन का और मन ही इन्द्रियों का नियन्ता है। इस प्रकार अधिकार में आई हुई कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नाक आदि इन्द्रियां क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि अपने-अपने विषयों को त्यागकर उपराम हो जाती हैं। इस स्थिति का नाम जितेन्द्रियता या प्रत्याहार है जो अष्टांग योग का पांचवा अंग है। प्राणायाम की सिद्धि से प्रत्याहार की सिद्धि स्वयं ही हो जाती है। निरन्तर चित्त का अन्तावलोकन करके जो भी वासना चित्त में उत्पन्न हो उस-उस से चित्त को उदासीन करने के अभ्यास से भी शीघ्र ही समस्त इन्द्रियों के विषयों में प्रत्यहार सिद्ध हो जाता है।

आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार के साधन से योगी का क्रमशः अन्नमय कोश, प्राणमय कोश और मनोमय कोश पर अधिकार हो जाता है। इन पर अधिकार उत्पन्न हो जाने से अन्तरंग योग की साधना में बाहरी विषय चित्त को विक्षिप्त नहीं करते तथा मन भी ध्येय विषय में समाहित होकर शीघ्र ही उसे प्रत्यक्ष कर लेता है।

धारणा-ध्यान-समाधि—चित्त को एक स्थान पर या एक विषय पर वृत्तिमात्र से बांध देने को धारणा कहते हैं। फिर उभी ध्येय विषय में मन का पूरे तौर पर लग जाना ध्यान कहलाता है। भ.व यह है कि धारणा में तो ध्यान कच्चा होने से टूट जाता है पर उसी धारणा के पक जाने पर जब मन इतना एकाग्र हो जाए कि ध्येय को छोड़कर अन्य किसी भी विषय की स्मृति योगी को न रहे तथा न ही ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से उत्पन्न होने वाला कोई नया ज्ञान उस ध्यान की प्रक्रिया का बाधित करे अपितु एक ही विषय के ज्ञान का प्रवाह पूरे मन में बना रहे तो उस पक्की धारणा को ध्यान कहा जाता है। आगे चलकर वही ध्यान जब इतना परिपक्व हो जावे कि ध्यान करने वाले (ध्याता) को न तो अपने शरीर का बोध रहे और न ही ध्यान की क्रिया का तथा ध्यान के विषय में ही मन डूब

जाए तो उस ध्यान का नाम समाधि है। समाधि में एकाग्रता के अत्यन्त बढ़ जाने से ध्येय विषय का स्वरूप ध्याता पर हाथ पर रखे हुए आंवले के ज्ञान के समान प्रकाशित हो उठता है। साथ ही, एक बात और है कि समाधि में मानस प्रत्यक्ष होता है, ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष नहीं। साधारण अवस्था में मन इन्द्रियों के माध्यम से ही शब्द, स्पर्श, रूपादि विषयों का ज्ञान प्राप्त कर सकता है किन्तु सत्त्वगुण की वृद्धि से एकाग्र और प्रकाशित हुए चित्त में सीधे ही अपनी प्रकाश धारा को ध्येय विषय के साथ जोड़ कर विषय को जान लेने का सामर्थ्य आ जाता है। इस मानस प्रत्यक्ष का नाम हो समाधि है। इसके उदय होने पर अभ्यास में वृद्धि के साथ-साथ योगी पहले स्थूल भूतों, फिर सूक्ष्म भूतों, मन चित्त, बुद्धि आदि अन्तःकरणों तथा अन्त में आत्मा एवं परमात्मा का प्रत्यक्ष भी इस समाधिज सामर्थ्य से कर लेते हैं। इस दिव्य चक्षु को शिवनेत्र या ज्ञान-चक्षु या तीसरा नेत्र भी कहते हैं। इसकी अलौकिक क्षमता से सूक्ष्म परमाणुओं, दीवार के पीछे भूगर्भ में या समुद्र के गर्भ में छिपे पदार्थों तथा देशांतर लोकांतर या द्वीपान्तर में स्थित पदार्थों को भी देखा जा सकता है। जिस विषय पर योगी धारणा-ध्यान-समाधि रूप संयम का प्रयोग करता है—ध्यान के सिद्ध होने पर उसे प्रत्यक्ष हो जाती है। आत्मा, परमात्मादि सूक्ष्यतम तत्त्वों को प्रत्यक्ष करने या देख सकने की योग्यता योगियों में समाधि की उच्च भूमियों को सिद्ध करने पर ही आती है, उससे पूर्व नहीं। ध्यान द्वारा ईश्वर को प्रत्यक्ष करने के लिए योगी को दीर्घकाल तक प्रणव-जप तथा उसके वाच्य ईश्वर की भावना करने अर्थात् मन में बारम्बार ईश्वर के अनन्त ज्ञान, सामर्थ्य और आनन्दादि को निविष्ट करने का अभ्यास करना पड़ता है। ईश्वर तत्त्व पर किए गए इस संयम के प्रयोग का नाम ही ईश्वर प्रणिधान है जो असंप्रज्ञात समाधि की प्राप्ति का अन्यतम साधन है।

ईश्वर प्रणिधान और समाधि में अन्तर :

जैसा कि ऊपर कहा गया है योगी किसी भी तत्त्व का प्रत्यक्ष समाधि द्वारा करता है, जिसे मानस प्रत्यक्ष या योगज प्रत्यक्ष कहा जाता है। स्थूल या सूक्ष्म भूतों के प्रत्यक्ष करने के उद्देश्य से किया गया संयम (धारणा, ध्यान, समाधि का एकत्र प्रयोग) समाधि तो कहलाएगा ही, किन्तु ईश्वर-प्रणिधान उसी समाधि को कहा जा सकता है जिस में संयम का प्रयोग ईश्वर विषय पर किया जाए जो कि समाधि की उच्चतम भूमि है। अन्य सभी ज्ञान-विज्ञानों की भांति योगज विज्ञान भी स्थूल से सूक्ष्म की ओर

चलता है। ईश्वर के सब से सूक्ष्म तत्त्व होने के नाते उनका प्रत्यक्ष योगी को सबसे अन्त में ही हो पाता है। ईश्वर को प्रत्यक्ष करने के लिए पर-वैराग्य अथवा उत्कृष्ट ईश्वरभक्ति का होना नितान्त अनिवार्य है। पर-वैराग्य या भक्ति-विशेष भी ईश्वरभक्ति के नामांतर ही हैं। वैराग्य सांसारिक भोग-पदार्थों में विरति या अनासक्ति का नाम है और पर-वैराग्य लौकिक तथा पारलौकिक भोगों में नितान्त अनासक्ति का नाम है। ईश्वर-भक्ति जितनी-जितनी बढ़ती जाएगी, आसक्ति उतनी-उतनी ही घटती जाएगी। आसक्ति जब पूर्णरूप से समाप्त हो जाएगी तभी ईश्वरभक्ति पूर्णरूप से उदय होकर योगी को परमात्म-साक्षात्कार की योग्यता प्रदान करेगी। इसी का नाम ईश्वरप्रणिधान है। प्रणिधान का अर्थ है प्रकृष्ट रूप से निधान अर्थात् पूर्ण रूप से आत्मसमर्पण। भाव यह है कि मन, कर्म, वचन से होने वाले सम्पूर्ण कर्मों को अन्तः प्रेरक परमात्मा के अर्पण करते हुए उन से किसी भी सांसारिक फल की कामना न करके केवल भगवान् की प्रीति के लिए उसके अमृतपुत्रों की निःस्वार्थ सेवा की भावना से ही उन्हें करना तथा सांसारिक काम करते हुए भी ईश्वर के पवित्र नाम 'ओ३म्' का जप करते रहना तथा हृदय से उसके सच्चिदानन्द रूप का निरन्तर चिन्तन करते रहना ही ईश्वर-प्रणिधान है जिसका विस्तृत वर्णन नीचे प्रस्तुत किया जाता है।

ईश्वरप्रणिधान की साधना ही मुख्य साधना है :

ईश्वरप्रणिधान ही वास्तविक योग है। इसकी साधना दीर्घकाल तक निष्ठापूर्वक निरन्तर की जाती है। तभी इसकी सिद्धि होती है। यम-नियमादि योग के अन्य सभी अंगों का प्रयोजन ईश्वरप्रणिधान की सिद्धि में सहायक होना मात्र है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह साधक के सामाजिक जीवन को राग-द्वेष मोहादि विकारों से अछूता रखकर ईश्वर-प्रणिधान की ओर प्रेरित करते हैं। अहिंसा योगी को दूसरों के सुख-दुःख को अपना सुख दुःख मानकर हर स्थिति में प्रसन्न, पर दुःख निवारण में निरत और अपना अहित करने वालों के प्रति क्षमाशील बनना सिखाती है। सत्य उसे निश्छल, प्रपञ्च-रहित, बाहर-भीतर एकसम निर्मल तथा स्वच्छ जीवन की ओर अग्रसर करता है। अस्तेय क्षुद्र लोभ तथा भौतिक स्वार्थों से मन को हटा कर त्याग तथा न्यायबुद्धि को जगाता है। ब्रह्मचर्य संसार के निस्सार कार्य-कलापों से अभ्यासी की शक्तियों के अप-व्यय को रोककर उन्हें जीवन के चिर उद्देश्य ईश्वर-प्राप्ति की ओर प्रवृत्त करता है। अपरिग्रह भी सांसारिक भोग्य सामग्रियों की अन्धाधुन्ध जमा-

खोरी की दौड़ से हटाकर अभ्यासी को जीवन सफल बनाने वाले सच्चे साधनों में जुट जाने की प्रेरणा देता है। सामाजिक जीवन-मार्ग में आने वाली भूल-भुलैया में (जो राग-द्वेष मोहादि अविद्या की सन्तति है) भटके अस्थिर एवं मलिन-चित्त प्राणी के हृदय में पवित्र भगवद् भाव की भावना नहीं बन सकती। अतः ईश्वर-प्रणिधान की साधना के उपयुक्त बनने के लिए सामाजिक जीवन में अनासक्ति की अनिवार्यता की भावना से ही यमों की साधना का विधान किया गया है। नियमों का विधान भी ईश्वर की अर्थभावना करने में सहायक होता है। ईश्वर-प्रणिधान का उद्देश्य ईश्वर को प्रत्यक्ष करना है। ईश्वर सर्वत्र व्यापक होने से अभ्यासियों के चित्त में भी हर समय विद्यमान है। इस पर भी उसका प्रत्यक्ष न होने का कारण चित्त की मलीनता और अस्थिरता ही है। जैसे किसी जलाशय का तलस्थ मिट्टी के उठ खड़े होने से मलीन या वायु से अति तरंगित हो जाने पर उसमें वस्तु का प्रतिबिम्ब ठीक दिखाई नहीं पड़ता, इसी प्रकार चित्त जब तक मलीन तथा अस्थिर रहता है, उसमें विद्यमान होते हुए भी ईश्वर की अर्थ भावना नहीं बन पाती। शौच तो साक्षात् शरीर और मन को निर्मल बनाने की साधना है ही। सन्तोष, प्राप्त साधनों से अधिक की इच्छा का त्याग है। साधारणतया मनुष्य भौतिक साधनों को जुटाने की दौड़ में ही जीवन का बहुमूल्य समय नष्ट कर देता है। भौतिक साधनों का कहीं अन्त नहीं है। तृष्णा को त्याग देने पर ही वह तप स्वाध्यायादि साधनों का तथा आसन-प्राणायामादि का समुचित अनुष्ठान कर पाता है।

तप वस्तुतः ईश्वर-प्रणिधान ही का अंग है। ईश्वर-प्रणिधान में साधक को ईश्वर की भावना करनी होती है। ईश्वर राग-द्वेषादि क्लेशों, सुख-दुःखादि कर्म-फलों से अछूता है। अछूतेपन या असंगतता का नाम ही तप है। तप भी हमें सुख-दुःख, मान-अपमान, गर्मी सर्दी, भूख-प्यासादि द्वन्द्वों में अछूता रहना ही सिखाता है। स्वाध्याय की साधना दो रूपों में की जाती है—मोक्षशास्त्रों के अध्ययन के रूप में, तथा प्रणवादि पवित्र मन्त्रों या किसी पवित्र भगवन्नाम के जप के रूप में। स्वाध्याय द्वारा सत्य-द्रष्टा ऋषि मुनियों का संग होता है तथा ईश्वर के स्वरूप का चिन्तन भी। स्वाध्याय प्रणव जप को भी कहते हैं। गायत्री, प्रणव या राम आदि किसी भी नाम जप से ईश्वर भावना का मार्ग खुलता है। सत्संग भी स्वाध्याय का ही रूपान्तर है। इन सभी स्वाध्याय-साधनाओं से चित्त के राग-द्वेष-आसक्ति आदि मल धुलकर, निर्मल और स्थायी आन्तरिक सुख के संस्कार पड़ते हैं।

इसी प्रकार आसन, प्राणायाम, प्रत्याहारादि की साधनाएँ भी ईश्वर-प्रणिधान में सहायक हैं। आसन से शरीर की स्थिरता होती है। समस्त बाह्य संसार के कार्यों को छोड़ कर आसन लगाना, मन को भी समस्त वैषयिक काम-धन्धों से हटाकर ईश्वर के ध्यान में लगने की प्रेरणा देता है। प्राणायाम की सिद्धि से प्राण स्थिर होता है। प्राण की स्थिरता से न केवल मन की स्थिरता होती है अपितु काम, क्रोध, मोहादि विक्षेप दूर होकर चित्त स्वयं ही निर्मल और एकाग्र होकर ईश्वर की अर्थ-भावना में लगने के योग्य हो जाता है। प्रत्याहार-साधना द्वारा सांसारिक विषयों से विमुख हुए मन, प्राण, ज्ञानेन्द्रियादि चित्त को सत्त्वगुण से परिपूर्ण और प्रकाशित करके ईश्वरविषयक अर्थभावना में समर्थ बना देते हैं।

ईश्वर-प्रणिधान - साधना का स्वरूप :

ईश्वर-प्रणिधान की साधना तीन रूपों में की जाती है। प्रणव जप, ईश्वर के अर्थ की भावना और समस्त कर्मों का परम गुरु परमात्मा में समर्पण। जिस प्रकार किसी अत्यन्त प्यारे को प्रेम-विह्वल हृदय से निरंतर पुकारा जाता है उसी प्रकार ईश्वर को 'ओ३म्' या 'राम' आदि किसी भी अभीष्ट नाम से पूरे हृदय से पुकारना जप कहलाता है। भाव यह है कि उस समय ईश्वर को छोड़ किसी अन्य वस्तु का विचार हृदय में न रहे, अपितु परमात्मा के चिन्तन व पुकारने में ही पूरा ध्यान निहित रहे। जप करने से पूर्व एवं पश्चात् अभ्यासी को परमात्मा की सर्वत्र व्याप्ति तथा उसके अनन्त ज्ञान, सामर्थ्य तथा आनन्दादि गुणों की भावना बारम्बार करते रहना चाहिए। प्रारम्भ में प्रकाश, सामर्थ्य आनन्दादि गुणों की भावना कल्पित ही करनी पड़ती है, जो कालान्तर में अभ्यास करते-करते परिपक्व होकर साकार हो उठती है। अर्थ-भावना करने का एक प्रकार नीचे दिया जाता है। अर्थ भावना वाले किसी भी जप की साधना को प्रारम्भ करने से पूर्व वाचिक, उपांशु एवं मानसिक जप की सिद्धि नितान्त अनिवार्य है।

प्रिय जन का स्मरण करते समय जिस प्रकार सुख की अनुभूति होती है तथा बार-बार स्मरण करने की इच्छा होती है, इसी प्रकार साधक को निरन्तर हृत्प्रदेश में आनन्दस्वरूप परमेश्वर की व्यापकता का चिन्तन कर प्रेमविह्वल हृदय से उसे बारम्बार पुकारना चाहिए। तथाहृदय में आकाश के समान असीम, स्वच्छ तथा सुशुभ्र चेतना की भावना कर अपने आत्मा को उसके प्रकाशस्वरूप आनन्द में निमग्न कर देना चाहिए। उस समय

ईश्वर को छोड़कर किसी अन्य पदार्थ का स्मरण नहीं करना चाहिए अपितु उसी अन्तर्यामी के प्रकाश स्वरूप आनन्द में निमग्न हो जाना चाहिए। व्यवहारकाल में भी साधक को जप ध्यान आदि साधनों में मुख्य वृत्ति रख कर एक क्षण के लिए भी ईश्वर-भजन को नहीं छोड़ना चाहिए। संसारी व्यवहारों में वैराग्य युक्त चित्त से तथा उन सब का उद्देश्य ईश्वर-प्राप्ति बनाकर ही प्रवृत्त होना चाहिए। मैं ईश्वर में स्थित हूं तथा ईश्वर मुझ में सर्वतः व्याप्त है तथा समस्त कर्म मानो ईश्वर के द्वारा ही सम्पन्न हो रहे हैं—ऐसी भावना रखते हुए कर्मों के फलभूत दुःखसुखादि में सर्वथा अनासक्त ही बने रहना चाहिए।

इस प्रकार अपने चित्त को नित्य निरन्तर के अभ्यास से हृदयाकाशस्थ ईश्वर में चित्त विलीन करना ही ईश्वर-प्रणिधान या ईश्वर के प्रति सब कामों का समर्पण करना है। जिस प्रकार मनुष्य जल में गोता लगा कर बाहर आता है, फिर गोता लगाता जाता है, उसी प्रकार अपनी आत्मा को परमेश्वर के आनन्द में बार-बार मग्न करना चाहिए। ईश्वरदर्शन का इस प्रकार अभ्यास करने से व्यवहारकाल में भी कभी ईश्वर का विस्मरण नहीं होता तथा उत्तरोत्तर काल में समस्त पापाचरण और दोषों के छूट जाने से साधक का अन्तःकरण पूर्णतया विरक्त और निर्मल होकर ईश्वरीय ज्ञान के प्रकाश और आनन्द से अधिकाधिक भरता ही जाता है।

जप और ध्यान की साधना के इस काल में वैराग्य को बढ़ाना और विषयासक्ति को उत्तरोत्तर क्षीण करते जाना नितान्त अनिवार्य है। वैराग्य की वृद्धि के लिए अधिक से अधिक प्रणव जप के साथ-साथ सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय तथा सात्त्विक स्वल्प आहार का नियम करना चाहिए। मानसिक जप साधना से प्रतिक्षण रजोगुण व तमोगुण का नाश एवं सत्त्वगुण की बढ़ोत्तरी होती है तथा एक अकथनीय आनन्द की अनुभूति होती है। चित्त जितना अधिक विरक्त, शुद्ध तथा ईश्वर-भक्ति से भरा होगा, आनन्दानुभूति उतनी ही तीव्र तथा चिरस्थायी होगी। चित्त के विषयों में आसक्त तथा मलीन होने पर जप काल में आनन्दानुभूति नहीं होती। शुरू-शुरू में जप टूट जाता है। किन्तु स्वाध्याय, ईश्वरचिन्तन और वैराग्य सहित निरन्तर अभ्यास करने से जप पक्का होकर धारणा में बदल जाता और अर्थ-भावना भी बनने लगती हैं। लम्बे समय तक निरन्तर अर्थ-भावना करने से जप और अर्थ-भावना दृढ़ हो जाने से क्रमशः ध्यान और समाधि की तन्मय स्थिति भी अभ्यासी को प्राप्त हो ही जाती है।

यहाँ कुछ लोग यह शंका करते हैं कि प्रस्तुत लेख में जप की महिमा

पर बल तो दिया गया है, पर प्रणव-जप की जगह अन्य किसी गायत्री आदि मन्त्र का ग्रहण क्यों नहीं किया। सो 'ओम्' के जप की श्रेष्ठता निम्नलिखित कारणों से है।

ईश्वर के जितने भी राम, शिव, विष्णु, नारायण आदि नाम हैं उन में ओंकार ही ऐसा है जिस से परमेश्वर के सारे गुण, कर्म, स्वभावों का ग्रहण होता हो। लम्बे मन्त्रों के उच्चारण में अनेक व्यन्जन वर्ण होने से हमें दन्त, ओष्ठादि की सहायता लेनी पड़ती है। इन स्थानों में क्रिया होने से ये चंचल बने रहते हैं। मानसिक या बौद्धिक जाप करने पर भी इन सब अवयवों में तो क्रिया नहीं होती किन्तु मानसिक स्रोत की क्रिया के बने रहने से चंचलता बनी ही रहती है। 'ओं' —व्यन्जनहीन एवं गुंजारात्मक होने से बिना चंचलता पैदा किए उच्चारित हो जाता है तथा बिना टूटे एकतान से तेलधारा की तरह अविच्छिन्न बना रहता है। अतः ईश्वर के रामादि जितने भी नाम हैं समाधि प्राप्ति की दृष्टि से उन सब में 'ओंकार' ही श्रेष्ठ है।

अ, उ, म् इन तीनों वर्णों का सानुनासिक एकाक्षरी 'ओं' उच्चारण करने में वाक् शक्तियों का कम से कम व्यय होता है तथा इसका ध्वन्यात्मक दीर्घ उच्चारण रेचक पूरक की गति को दीर्घ सूक्ष्म करते-करते निरुद्ध करने में सहायक होता है। मानसिक उच्चारण स यह मनोमय तथा विज्ञानमय कोश को शुद्ध करने तथा आनन्दादि गुणों की अर्थ-भावना बनाने में सहायक होता है। सम्भवत: प्रणव को इन विशेषताओं के कारण ही उपनिषद्, पातन्जल योग साहित्य तथा श्रीमद्भगवद्गीतादि पुरातन ग्रंथों में प्रणवोपासना की महिमा गायी गयी है।

इस प्रकार प्रणवोपासना करने ईश्वर का संग होता है और बहुत दिन तक साधना करते-करते ईश्वर से प्रेम-प्रीति का सम्बन्ध स्थापित होकर ईश्वर अपना बन जाता है तथा ईश्वर के अनन्त ज्ञान, अनन्त सामर्थ्य, अनन्त आनन्दादि सम्पत्ति में साधक का साझा हो जाने से उसे दिव्य गन्ध, दिव्य दर्शन, दिव्य श्रवणादि की अनुभूति होने लगती है। संकल्पमात्र से किसी भी अप्राप्त काल या संस्थान की वस्तुओं, घटनाओं आदि को जान लेता है। जिस वस्तु को जानना चाहता है उसी की स्फुरण होकर सहीं-सही ज्ञान उसे हो जाता है। इसके अतिरिक्त अन्य भी अनेकों विचित्र विभूतियों की प्राप्ति होती है। किसी-किसी अभ्यासी को पृथ्वी और अन्तरिक्ष के अन्तराल में विचरने वाले सिद्ध पुरुषों का दर्शन व सहयोग भी प्राप्त होता है। अभ्यासी समाधि की विविध स्थितियों का अनु-

भव करता हुआ धर्ममेघ समाधि तक पहुंच जाता है जिसमें साधक पर निरन्तर परमात्मा के आनन्द, प्रकाशादि की वर्षा होती रहती है। समस्त इच्छाओं के शान्त हो जाने से परातृप्ति का अनुभव होता है। एक सात्त्विक उन्माद योगी के जीवन में उतर आता है जिस के आनन्द का पारावार नहीं है।

अभ्यासी के मन में जिस भी संकल्प का उदय होता है स्वल्प-सा यत्न करने से ही उसे पूरा करने के लिए आप से आप परिस्थितियाँ वैसी ही बन जाती हैं तथा वह साकार हो जाता है। उसे सब कार्यों को करते हुए परमेश्वर की प्रेरणा स्पष्ट दीख पड़ती है मानो ईश्वर की प्रेरणा, मार्ग-दर्शन और सहयोग से ही उसके समस्त कार्य-कलाप हो रहे हैं।

वास्तव में जप, धारणा, ध्यानि और समाधि एक ही वस्तु हैं। इन में केवल परिपाक-भेद है। निरन्तर जाप करते-करते मानसिक जप में योगी का प्रवेश होता है। शाब्दिक (वाचिक) जप बोल-बोलकर स्वर ताल के साथ संकीर्तन की विधि से जपा जाता है। वह पक्व होने पर उपांशु जप का अभ्यास किया जाता है जिसमें सस्वर उच्चारण न होकर अतिमन्द उच्चारण होता है। होठ हिलते रहते हैं, पर पास बैठे व्यक्ति को भी जप-मन्त्र सुनाई नहीं देता। जप के और अधिक अभ्यास से होठों का हिलना बन्द हो जाता है तथा जप सूक्ष्म होकर मानसिक जप का रूप ले लेता है। मानसिक जप के साथ अर्थ-भावना बनाने से वह जप धारणा का रूप ले लेता है। अर्थभावना बनाने में योगी को आत्मा और परमात्मा का चिन्तन कर बार-बार उसे चित्त में धारण करना पड़ता है जैसे वह अपने बाहर-भीतर, ओत-प्रोत, परमात्मा के प्रकाश और आनन्द में डुबकी लगा कर निमग्न हो रहा हो।

ईश्वर अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्व है। उसकी भावना बनाने के लिए प्रबल साधना और सूक्ष्म धारणा-शक्ति के अतिरिक्त तीव्र वैराग्य और अटल भक्ति-भावना का होना नितान्त अनिवार्य है। भाव यह है कि जिस प्रकार भूखे प्यासे को अन्न-जल के अतिरिक्त कुछ भी अच्छा नहीं लगता वैसे ही अभ्यासी को जप, अर्थ-भावना तथा तप, स्वाध्यायादि को छोड़ कर अन्य कुछ भी अच्छा न लगे—ऐसी उत्कट इच्छा के बिना ध्यान-योग की इन दुरूह साधनाओं में सफलता मिलना सम्भव नहीं है। ईश्वर की उपर्युक्त अर्थ-भावना सहित जप नाम ही शाब्दी धारणा है। यह शाब्दी धारणा या सगर्भ जप ही कालान्तर में जब परिपक्व हो जाता है अर्थात् किसी बाहरी विक्षेप या आन्तरिक स्मृति से बाधित होकर टूटता नहीं है, बराबर चलता

रहता है, तब इसे ध्यान कहा जाता है। ध्यान ही पक्का और गाढ़ा होकर समाधि में बदल जाता है। इन सब साधनाओं के काल में आहार-विहार की शुद्धि से तथा स्वाध्याय सत्संग, क्रियायोगादि की साधना से देह तथा अन्त:करण में अधिकाधिक सत्त्वगुण का संग्रह करना अत्यन्त उपादेय है।

निरन्तर जप की साधना से जप सूक्ष्म होते-होते केवल ध्यान या ध्वनि मात्र रह जाता है तथा स्थूल शरीर और जप-ध्यानादि की क्रिया से बेसुध होकर साधक ईश्वर के आनन्द स्वरूप में निमग्न हो जाता है तब निरन्तर अभ्यास से हुई सत्वगुण की बढ़ोत्तरी से दबा हुआ रज चित्त में मानस जप की क्रिया करने में असमर्थ हो जाता है। साधक पूरा बल लगाने पर भी जप नहीं कर पाता। तब रज कारण शरीर में अर्थ-भावना की क्रिया करने में प्रवृत्त होकर कालान्तर में प्रत्यक् चेतना की अनुभूति योगी को करा देता है अर्थात् ईश्वर के नाम-जप और ध्यान के रस की ओर ही चित्त प्रवाहित होने लगता है। विषयासक्ति के समाप्त हो जाने से विषयों को ओर चित्त जाता ही नहीं अपितु वैषयिक कार्यों में लगाने पर कष्ट का अनुभव करने लगता है। वास्तव में यह अवस्था सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति से अतीव विलक्षण होने के कारण चित्त की सबसे बड़ी कमाई है जो सांसारिक विषयों में लिप्त पुरुषों के लिए अगम्या होने के साथ-साथ अकल्पनीया भी है। शब्दों में इसका वर्णन करना सम्भव नहीं है। इस की प्राप्ति के बाद योगी निहाल हो जाता है तथा उसे अन्य कुछ प्राप्त करना शेष नहीं रहता। उस समय ऋतंभरा समाधि के महल पर चढ़ा हुआ संसार के दु:ख शोकादि से अतीत वह योगी संसार के शोकों, दु:खों में डूबे लोगों को इस प्रकार दयाभरी दृष्टि से देखता है जैसे ऊँचे पर्वत पर चढ़ा हुआ कोई व्यक्ति पृथ्वी पर स्थित लोगों को। साधना के इस सुदीर्घ काल में अनेकानेक ऋद्धि-सिद्धियां भी योगियों पर अलग-अलग साधक को उनकी योग्यता तथा साधना में सूक्ष्मता के अनुपात से अलग-प्रकार की सिद्धियों की अनुभूति हो सकती है। सिद्धियां योग का ठोस एवं क्रमिक विज्ञान है, कोई आडम्बर या जादू टोने की बातें नहीं। कुछ सिद्धियां निम्न हैं—जैसे भावी घटनाओं का ज्ञान, शरीर और मन की स्थिरता, सिद्ध पुरुषों का दर्शन।

इस प्रकार प्रणवोपासना द्वारा समाधि और आत्म-साक्षात्कार करने की आर्ष पद्धति पर विचार समाप्त हुआ।

इस पद्धति का कियात्मक प्रशिक्षण पूज्य स्वामी सच्चिदानन्द योगी से तथा विस्तृत जानकारी उनके द्वारा प्रकाशित 'योगी का आत्मचरित्र'

'योगसार' तथा 'पातञ्जल योग-साधना' आदि ग्रन्थों से प्राप्त की जा सकती है। तथा उनसे मार्गदर्शन की प्राप्ति। दूसरों के चित्त के भाव को जान लेना, असाधारण देहबल की प्राप्ति, दिव्य गन्ध, दिव्य प्रकाश तथा दिव्य शब्दों की अनुभूति, मृत्यु काल का आभास, अपने पूर्वजन्म का ज्ञान, शरीर पर विलक्षण तेज की प्रकटता, चित्त का पर-देह में प्रवेश, शरीर को हल्का, भारी या अटूट बना लेना तथा स्वेच्छा पूर्वक देह त्याग आदि। यह मानना अनुचित है कि ये सिद्धियां साधना में विघ्न हैं। इसके विपरीत ये सिद्धियां साधना में सफलता की कसौटियां हैं। परन्तु, इनकी प्राप्ति पर अहंभाव या इनके प्रदर्शन द्वारा यश एवं धन प्राप्ति में लग जाने पर अवश्य ये विघ्न सिद्ध हो सकती हैं। ईश्वर-प्राप्ति के इच्छुक योगियों को तो इन सिद्धियों की प्राप्ति के चक्र में अधिक न पड़कर परमात्मदर्शन रूप परम सिद्धि की प्राप्ति को ही अपना ध्येय बनाना चाहिए। जैसे रेल द्वारा लम्बी यात्रा पर जाने वाले यात्री बीच में पड़ने वाले विभिन्न स्टेशनों में अधिक रुचि न लेकर अपने गन्तव्य पर पहुँचने के लिए ही लालायित रहते हैं, क्योंकि परमात्मदर्शन से ही योगी जन्म-मरण के चक्र से छूटकर सिद्ध मनोरथ हो जाते हैं। अन्य किसी विभूति या सिद्धि की प्राप्ति से नहीं।
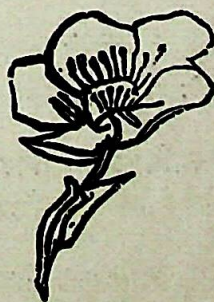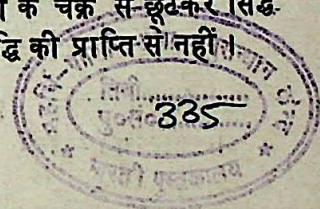
स्वामि-सच्चिदानन्द-योगि-स्तोत्रम्

तपः स्वाध्याय-निरतं सच्चिदानन्द-योगिनम् ।
प्रणमामो वयं सर्वे श्रद्धया नत-मस्तकाः ॥१॥

श्रीशुद्धबोध-शिष्योऽयम् आर्ष-पाठविधौ रतः ।
जीवनान्ते तथाऽऽचर्य्यं योगिनां योगमाप्तवान् ॥२॥

दयानन्द-मदे मत्तो नापश्यत् पितरौ सुतान् ।
कुटुम्ब-भरणी तस्य धर्मपत्नी तपस्विनी ॥३॥

वेदं हि जनयामास ब्रह्मा वेदनिधिं यथा ।
क्षितीशः समधिर्भूतः मित्रं विश्वश्रवाः सदा ॥४॥

दुन्दुभिघोषितस्तेन हृदयानि व्यदारयत् ।
अनार्षाणामनार्य्याणां दयानन्द-विरोधिनाम् ॥५॥

सिद्धान्तकौमुदी चात्र प्राप्यान्त्येष्टिं निवारिता ।
दयानन्दस्य सन्देशं प्रचारयद् गृहे-गृहे ॥६॥

विशेषाङ्का यदा लोके प्रचारं परितो गताः ।
कम्पिता हृदये जाता ठेकेदारा महाजनाः ॥७॥

न्यस्तभारस्स्वमित्रेऽयं योगिभ्यो योगप्राप्तये ।
विश्वश्रवसि विश्वस्ते गतोऽरण्यं सुनिश्चितः ॥८॥

प्रकाशं तु तदायाता ऋषेरज्ञात-जीवनी ।
नासिकाथं भ्रुवौ केचिद् ऊर्ध्वं कुर्वन्ति विस्मिताः ॥९॥

"दयानन्दं न जानन्ति महर्षिम् अविवेकिनः ।
अयोगी नैव जानाति चरितं पूर्ण-योगिनाम् ॥१०॥

बुद्धोऽथ शङ्करो वापि महावीरस्तथैव च ।
गुरु-गोविन्द सिंहो वा तथा चेशु-मुहम्मदौ ॥११॥

पश्यन्तु चरितं तेषां तत्तच्छिष्यैर्विलेखितम् ।
यादृशा नैव तेऽभूवन् तादृशं वर्णितं हि तैः ॥१२॥

ऋषे रूपं तु वक्तव्यं दयानन्द-मत-स्थितैः ।
कथं कति कदा कुत्र रूपाणि स व्यधारयत् ॥१३॥

'योगी काऽऽत्मचरित्रं' यद् दयानन्देन लेखितम् ।
अनुसन्धानेन संयुक्तं प्रकाशं-करवाण्यहम् ॥१४॥

यावज्जीवति राजेन्द्रः पृथ्वीलोके न कस्यचित् ।
साहसः स्याद् ऋषिं द्वेष्टुं यद्यपि स्यात् चतुर्मुखः ॥१५॥

इत्यवधार्य मित्रेण जीवनी सा प्रकाशिता ।
दयानन्दस्य योगोऽपि जिज्ञासुभिः सुशिक्षितः ॥१६॥

तस्य प्रसारकं मित्रं सच्चिदानन्द-योगिनम् ।
प्रणमामो वयं सर्वे श्रद्धया नतमस्तकाः ॥१७॥

—आचार्य विश्वश्रवाः व्यास
वेदमन्दिर, १०३, बरेली, उ०प्र०

आभार
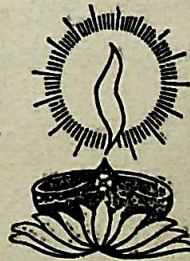
श्री स्वामी सच्चिदानन्द योगी के सहयोगी, भक्त और शिष्य चिर-काल से उनके अभिनन्दन के लिए उत्सुक थे। जब अभिनन्दन की योजना बनी तो उस अवसर पर एक स्मारिका-ग्रन्थ भी प्रकाशित करने का निश्चय हुआ। उसका दायित्व हमें दिया गया, जिसे हमने अपना गौरव समझकर, अन्य कार्यों में व्यस्त होते हुए भी, सहर्ष स्वीकार किया।

स्वामी जी की भक्तमण्डली और शिष्यमण्डली विस्तृत है। सूचना प्रचारित होते ही लेख आने प्रारम्भ हो गए, और घोषित तिथि के बाद भी निरन्तर आते रहे। एक बार प्रेस में सामग्री जाने के बाद, और लेखों का क्रम तथा पृष्ठ संख्या आदि निर्धारित हो जाने के बाद, आने वाले लेखों को यथास्थान समाहित करने में प्रेस को, और सम्पादक को कितनी कठि-नाई होती है, इसे केवल भुक्तभोगी ही जानते हैं। फिर भी हमने अपनी ओर से प्रयत्न किया है। पर इसी कारण ग्रन्थ के निमित्त प्राप्त शोध लेख जाने से रह गए।

किसी भी भले काम में विघ्नों की कमी नहीं रहती। उन्हें गिनाना व्यर्थ है। फिर भी सहयोगियों की कृपा से काम पूरा हुआ। 'सच्चिदानन्द स्मारक-निधि' के लिए धन देने वालों, लेखकों और किसी भी अन्य प्रकार का सहयोग देने वालों को धन्यवाद के सिवाय और हम क्या दे सकते हैं? उन्हीं की मनोकामना को साकार रूप देने का हमने यह तुच्छ प्रयत्न किया है। फिर भी योजना के सूत्रधार, गुरुकुल गौतम नगर के आचार्य श्री हरि-देव जी, योजना को पद-पद पर आशीर्वाद देने वाले स्वामी ओमानन्द जी, प्रियवर डा० वेदव्रत 'आलोक' और चि० विनयादित्य के सतत सहयोग के बिना यह कार्य पूर्ण न होता।

सबसे अधिक धन्यवाद तो स्वामी जी के प्रिय शिष्य, वैदिक प्रेस (शाहदरा) के संचालक श्री विश्वदेव जी को देना है, जिन की जागरूकता और अथक परिश्रम के बिना यह ग्रन्थ इस शुद्ध रूप में समय पर पूरा न हो पाता।

'आर्ष-परंपरा के गौरव-गुरु' के रूप में यह स्मारिका-ग्रन्थ श्रद्धेय स्वामी सच्चिदानन्द जी के चरण-कमलों में और पाठकों के कर-कमलों में सादर-सविनय-सप्रश्रय प्रस्तुत है। यदि ग्रन्थ से इस तेजस्वी महापुरुष के व्यक्तित्व और कृतित्व की यत्किंचित् झलक भी मिल सके, तो सम्पादक का अहोभाग्य!

कल्प-पुरुष ऋषि दयानन्द

योग-गुरु स्वामी योगेश्वरानन्द

प्रेरणा-पुरुष महात्मा आनन्द स्वामी

स्वामी प्रकाशानन्द (जनक)